राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी एच. डी. के लिए स्वीकृत

तथा

प्रकाशन-सहायता-प्राप्त थीसिस

संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास

लेखक:—

डा० ब्रह्मानन्द शर्मा एम. ए., एल एल. बी., पी एच. डी.

प्राध्यापक संस्कृत विभाग

गवर्नमेण्ट कालेज

अजमेर

श्रद्धेय गुरुवर

श्री विद्याधरजी शास्त्री

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

परम हर्ष है कि साहित्यक्षेत्र में भारत के मूर्धन्य आचार्यों द्वारा हृदय से स्वागतीकृत यह शास्त्रीय प्रबन्ध अब एक मुद्रित ग्रन्थ के रूप में सब विद्याकेन्द्रों के लिए सुलभ हो रहा है। यह प्रबन्ध कोई सामान्य प्रबन्ध नहीं अपितु चिन्तनजन्य सूक्ष्म विवेचन से सम्पन्न अलंकारशास्त्रसम्बन्धी एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसके प्रकाशन से साहित्य-संसार में एक अभिनव साहित्य-दर्शन का अभ्युदय होगा और अमरभारती के प्राचीन महाचार्यों की सूक्ष्म प्रतिपादन शैली एवं उनकी अगाध विवेचन शक्ति के ज्ञान से वर्तमान हिन्दी क्षेत्र सर्वथा सुसमृद्ध एवं कृतार्थ होगा।

आचार्य श्री ब्रह्मानन्द की यह विशेषता है कि वे पूर्वाचार्यों के मतों की आलोचना में अनेक स्थलों पर अपने स्वतन्त्र विवेचन को प्रस्तुत करते हैं और अपनी सूक्ष्मेक्षिका के कारण गतानुगतिक गति के अनुगामी न बनकर महान् से महान् आचार्यों की आलोचना में भी किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं देखते। यह ठीक है कि स्थान स्थान पर पूर्वाचार्यों ने भी इन मतों की स्थापना के प्रसंगों को उठाया है परन्तु इतना विशाल और व्यापक विवेचन सामान्यतया अन्यत्र सुलभ नहीं होता।

मेरा यह दृढ विश्वास है कि अलंकारशास्त्र की ग्रन्थसूची में यह ग्रन्थ सम्माननीय स्थान प्राप्त करेगा और अलंकारों के आन्तरिक तत्त्व को समझने में परम सहायक सिद्ध होगा। विद्वत्संसार में इसके द्वारा अलंकारसम्बन्धी आलोचना के एक नए अध्याय का सूत्रपात होगा और पारस्परिक विमर्श के द्वारा अलंकारशास्त्र का और भी अधिकाधिक सद्विकास होगा।

विद्याधर शास्त्री
डायरेक्टर हिन्दी विश्वभारती
बीकानेर

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मे यद्यपि प्रधानतया सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विवेचन है। परन्तु क्योंकि ये सादृश्यमूलक अलङ्कार सादृश्य तत्त्व पर आश्रित हैं, अतः इनके विवेचन से पूर्व सादृश्य तत्त्व के स्वरूप तथा क्षेत्र का भी इसमें विवेचन किया गया है। सादृश्यतत्त्व-निरूपण के प्रसंग में मैं ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि सादृश्य समस्त कलाओं, लौकिक व्यवहारों एवं प्राकृतिक जगत् मे किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहता है। साहित्य का ललित कलाओं में प्रमुख स्थान है। इसलिए कला-सम्बन्धी सादृश्य के विवेचन में साहित्यसम्बन्धी सादृश्य का विवेचन विशेष रूप मे किया गया है। ललितकलाशिरोमणि इस साहित्य का क्या स्वरूप है इस विषय को लेकर आलङ्कारिकों ने औचित्य, रस, ध्वनि आदि को उसका स्वरूप माना है। मैं ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि साहित्य के ये विभिन्न स्वरूप इस सादृश्य तत्त्व से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित हैं।

अलङ्कारों की सादृश्यमूलकता के विवेचन के समय इस सादृश्य-मूलकता की गहराई में जाने के लिए अलङ्कारों के अन्वय-व्यतिरेकभाव एवं आश्रयाश्रयिभाव आदि अलङ्कारस्वरूपनिर्णयकारी अभिमतों का भी इसमें पूर्ण विवेचन किया गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शब्दालंकारों के मूल में उच्चारण-सादृश्य स्थित है। इस उच्चारण-सादृश्य के अतिरिक्त शब्दालंकारों के लिए एक और तत्त्व की अपेक्षा है और वह है वर्णों तथा अर्थ का सादृश्य। इस प्रकार अर्थानुकूलता शब्दा-लंकारों का आवश्यक अंग है। ध्वनिवादियों का इससे विरोध है। वे अलङ्कारों को हारादि के समान बाह्य आभूषण मानकर उन्हें अर्थ का नियत रूप से उपकारक नहीं मानते। अतः इस प्रसंग मे उनके इस मत का खण्डन किया है।

शब्दालङ्कारों की सादृश्यमूलकता का निरूपण करते समय प्रसंगवश उनके अन्य विशेषाधायक हेतुओं का भी विवेचन किया है। उदाहरणतः यमक का निरूपण करते समय रुय्यक तथा मम्मटादि के मत का खण्डन

करते हुए चमत्कारी अर्थ-वैषम्य को यमक का आवश्यक अंग सिद्ध किया है।

लाटानुप्रास के प्रकरण में अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का निरूपण करके यह बताया है कि पूर्व मत के अनुसार ही लाटानुप्रास का पृथक् अलंकार होना सम्भव है। इसके बाद इन दोनों वादों में अभिहितान्वयवाद की समीचीनता सिद्ध करके लाटानुप्रास को पृथक् मानने का औचित्य सिद्ध किया है।

सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन उनके मूल में विद्यमान सादृश्यसम्बन्धी चित्तवृत्ति के आधार पर किया है। इस चित्तवृत्ति के भेद को ही अलङ्कार-विभाजन का आधार माना है। चित्तवृत्ति में भेद न होने पर भाषा के साधारण अन्तर को अलंकार-विभाजन का हेतु नहीं माना है। इसी दृष्टि से रुय्यक तथा विद्यानाथ के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए इन अलङ्कारों के वर्गीकरण का प्रयास किया है।

उपर्युक्त दृष्टि से विवेचन के फलस्वरूप अन्य आलङ्कारिकों के अनेक सादृश्यमूलक अलङ्कार अथवा उनके भेद इस श्रेणी से बाहिर चले जाते हैं। कतिपय सादृश्यमूलक अलङ्कारों अथवा उनके भेदों का अन्य सादृश्यमूलक अलङ्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है तथा कतिपय सादृश्यमूलक अलङ्कारों के पृथक् भेदों की पृथक्ता नष्ट हो जाती है। उदाहरणतः उल्लेख के शुद्ध भेद, कारक दीपक, मालादीपक, प्रस्तुतांकुर, तथा रुद्रट के उत्तर अर्थान्तरन्यास आक्षेप प्रत्यनीक एवं पूर्व का सादृश्य-मूलक अलंकारों से वहिर्भाव हो जाता है। शब्दश्लेष पर आश्रित उपमा तथा रूपक आदि के भेद भी सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत नहीं आते।

उदाहरणालङ्कार का अन्तर्भाव उपमा में हो जाता है। प्रतीप के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भेद उपमा में तथा चतुर्थ एवं पञ्चम भेद व्यतिरेक के अन्तर्गत चले जाते हैं। परिणाम, निदर्शना तथा ललित का अन्तर्भाव रूपक में हो जाता है। संकीर्ण उल्लेख विभिन्न सादृश्यमूलक अलंकारों में अन्तर्भूत हो जाता है। निश्चयालंकार तथा अतिशयोक्ति के 'अभेदे भेद:' एवं 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' भेद क्रमश: भ्रान्तिमान्, अनन्वय एवं उपमा में सन्निविष्ट हो जाते हैं। रुद्रट के मत, उभयन्यास, समुच्चय तथा साम्य क्रमशः उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा दीपक एवं उपमा के अन्तर्गत चले

जाते हैं। दीक्षित की पर्यस्तापह्नुति तथा भ्रान्तापह्नुति का अन्तर्भाव क्रमशः दृढारोपरूपक एवं भ्रान्तिमान् में हो जाता है।

अतिशयोक्ति के 'असम्बन्धे सम्बन्धः' तथा 'कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययः' नामक भेदों, परम्परितोपमा, परिम्परितरूपक एवं व्याकरणमूलक उपमाप्रभेदों की पृथक्ता नष्ट हो जाती है।

अलङ्कारनिरूपण के समय आलङ्कारिकों के परस्पर-विरोधी मतों का विवेचन करके उनमें से किसी एक की समीचीनता सिद्ध की है अथवा दोनों मतों के असमीचीन प्रतीत होने पर अपना स्वतन्त्र मत उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः व्यतिरेक में वैधर्म्यप्रतीति के स्वरूप के विषय में आलङ्कारिकों में मतभेद है। मम्मट तथा जगन्नाथ के अनुसार यह वैधर्म्य-प्रतीति उपमेय के उत्कर्ष के रूप में होती है तथा रुय्यक, विश्वनाथ आदि के अनुसार यह उपमेय के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष इन दोनों में से किसी भी रूप में सम्भव है। इस प्रसंग में उत्कर्षापकर्ष का अर्थ स्थिर करके रुय्यक एवं विश्वनाथ आदि के मत की स्थापना की है।

रूपक में ताद्रूप्यप्रतीति की प्रक्रिया के विषय में प्राचीन तथा नवीन आलंकारिकों में मतभेद है। प्राचीनों के अनुसार यह प्रक्रिया लक्षणा के द्वारा होती है तथा नवीनों के अनुसार यह अभेदसंसर्ग से होती है। अतः दोनों मतों का विवेचन करके नवीनों के मत का औचित्य स्थापित किया है।

उत्प्रेक्षा में विषयोपादान आवश्यक है अथवा नहीं, इस विषय को लेकर आलंकारिकों में मतभेद है। रुय्यक के अनुसार विषय का उपादान आवश्यक है, परन्तु मम्मट एवं विश्वनाथ के अनुसार इसका उपादान आवश्यक नहीं। इस प्रसंग में दोनों मतों का विवेचन करके द्वितीय मत की समीचीनता सिद्ध की है।

सम्भावना केवल अभेदसंसर्ग के द्वारा होती है अथवा समवायादि अन्य सम्बन्धों के द्वारा भी वह सम्भव है इस विषय को लेकर प्राचीन तथा नव्य आलंकारिकों में मतभेद है। प्राचीन प्रथम मत के पक्षपाती हैं तथा नव्य द्वितीय मत के। इस प्रसंग में दोनों मतों का विवेचन करके द्वितीय मत को असमीचीन सिद्ध किया है।

पृथक् पृथक् अलंकारों का निरूपण करते समय उस अलंकारविशेष

के मूल में विद्यमान सादृश्यविषयक चित्तवृत्ति का स्वरूप निश्चित किया है तथा अलंकारों की परिभाषा एवं भेदोपभेद सादृश्यतत्त्व को लक्ष्य करके किए हैं।

सादृश्य के आधार पर अलंकारों का उपर्युक्त विवेचन करते हुए अलंकारों के विकास का भी विवेचन किया है।

रस, ध्वनि, औचित्य, अलंकारादि साहित्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों में सादृश्यतत्त्व के इस प्रकार लक्षित होने के कारण यह प्रश्न उठना सर्वथा स्वाभाविक है कि सादृश्यतत्त्व की इस व्यापकता का क्या कारण है। अतः विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से यह सिद्ध किया है कि विश्व के पदार्थों में एक साम्य है।

मैं अपने प्रयास में कहां तक सफल हुआ हूं तथा प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानक्षेत्र की अभिवृद्धि में कहां तक योग देगा इसका निर्णय विद्वान् ही करेंगे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ राजस्थान विश्वविद्यालय ने आर्थिक सहायता देकर मुझे अनुगृहीत किया है। इसके लिए मैं उसका अत्यन्त आभारी हूं। मैं अपने गुरुवर श्रद्धेय श्री विद्याधर जी शास्त्री का अत्यन्त आभारी हूं जिनकी प्रखर ज्ञानज्योति अलंकारशास्त्र तथा दर्शन के दुर्गम क्षेत्र में मेरा सतत मार्गदर्शन कर रही थी। श्री नरोत्तमदास जी स्वामी तथा प्रो० फतहसिंह जी का भी मैं आभारी हूं जिनसे मुझे परामर्श मिलता रहता था। अन्त में मैं भारत के उन प्राचीन एवं महान् आलंकारिकों का अत्यन्त आभारी हूं जिनके विचारों से लाभ उठाकर एवं प्रेरणा प्राप्त कर मैं यह ग्रन्थ विद्वानों के सम्मुख रखने में समर्थ हुआ हूं।

ब्रह्मानन्द शर्मा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

चतुर्थ अध्याय

प्रथम अध्याय

सादृश्य-निरूपण की आवश्यकता

सादृश्यमूलक अलङ्कारों के विवेचन के लिए यह परम आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम सादृश्य के स्वरूप को पूर्ण रूप से समझ लें तथा उसके क्षेत्र पर विचार कर लें।

सादृश्य

सादृश्य की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है:—

"तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्"—काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ५४२

इस परिभाषा के अनुसार भिन्न वस्तुओं मे धर्म अथवा धर्मों की साधारणता के आधार पर सादृश्य होता है। उदाहरण के लिए मुख तथा चन्द्र को लें तो उनके सादृश्य को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

"चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वम् मुखे चन्द्रसादृश्यम्"।

यहां मुख तथा चन्द्र भिन्न हैं, परन्तु आह्लादकता उन दोनों में साधारणधर्म के रूप में विद्यमान है। अतः इन दोनों में सादृश्य है। इस प्रकार सादृश्य में दो वस्तुएं होती हैं—भेद तथा धर्मों की साधारणता। धर्मों की साधारणता को हम अभेद कह सकते हैं। इस प्रकार सादृश्य में भेद तथा अभेद दोनों होते हैं। अभेद जिस प्रकार धर्मों के रूप में होता है, उस प्रकार भेद भी धर्मों के रूप में ही सम्भव है। इसका कारण यह है कि वस्तुओं की सत्ता धर्मों के रूप में होती है। अतः उनका भेद उनमें विद्यमान धर्मों के रूप में ही सम्भव है। इस प्रकार सादृश्य में कुछ धर्म साधारण होते हैं तथा कुछ धर्म असाधारण होते है। धर्मों की साधारणता से सामान्य तत्त्व बनता है तथा उनकी असाधारणता से विशेष तत्त्व बनता है। सादृश्य में सामान्य तथा विशेष ये दोनों तत्त्व होते हैं। निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

"यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः"—

सर्वस्व पृ० २४

सामान्य तत्त्व का दूसरा नाम साधर्म्य है तथा विशेष तत्त्व का दूसरा

नाम वैधर्म्य है। अतः साधर्म्य तथा वैधर्म्य इन दोनों के मिलने से सादृश्य का जन्म होता है।

नैयायिकों ने उपमान प्रमाण के प्रकरण में सादृश्य का विवेचन किया है। इनके अनुसार "गौरिव गवयः"[1] सादृश्य का प्रसिद्ध उदाहरण है।

यहां गौ तथा गवय में कुछ धर्मों के कारण साधर्म्य है तथा कुछ के कारण वैधर्म्य है। इस प्रकार साधर्म्य तथा वैधर्म्य इन दोनों के मिलने से यहां सादृश्य है।

सादृश्य के लिए जो साधर्म्य अपेक्षित है उस में धर्मों की संख्या का कोई विधान नहीं, परन्तु इतना अवश्य है कि इस साधर्म्य का क्षेत्र इतना विस्तृत न होना चाहिए कि वह वस्तुओं के समस्त धर्मों को अपने अन्तर्गत कर ले, क्योंकि इस दशा में कोई ऐसा धर्म न रह जाएगा जिसके आधार पर वैधर्म्य हो सके। वैधर्म्य तत्त्व का सर्वथा लोप होने के कारण वह सादृश्य भी सम्भव नहीं जिसके लिए साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य तत्त्व की भी अपेक्षा है। वैधर्म्य तत्त्व से रहित इस अवस्था को हम ताद्रूप्य कहेंगे। ताद्रूप्य साधर्म्य की परम विस्तृत अवस्था होती है। इस अवस्था में वस्तुओं के समस्त धर्म साधर्म्य की परिधि में आ जाते हैं। "मुखं कमलमस्ति" में यही बात है। यहां मुख कमल के तद्रूप है। तद्रूप के लिए भी प्रायः समान शब्द का प्रयोग होता है।

द्रव्यों के सादृश्य से गुणादि के सादृश्य में अन्तर है। द्रव्य की परिभाषा 'गुणवद्द्रव्यम्'[2] की गई है। अतः द्रव्यों में तो उनमें विद्यमान गुणों की साधारणता के आधार पर सादृश्य सम्भव है। गुणों में यह बात नहीं होती। गुणों में गुणों की सत्ता नहीं होती जिनके आधार पर उनका सादृश्य हो। अतः गुणों का सादृश्य गुण-साधारणता के आधार पर न होकर तारतम्य अथवा मात्राभेद के आधार पर होता है। उदाहरणतः दो वस्तुओं के वर्णों का सादृश्य उन वर्णों के तारतम्य के आधार पर होता

---

१. तथा हि गवयमजानन्नपि नागरिको यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकपुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात्" तर्कभाषा पृ० ४७

२. "क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्"—वैशेषिक दर्शन—१।१५

है। यदि वे वस्तुएं श्वेत हैं तो उनमें से एक में अन्य की अपेक्षा श्वेत वर्ण की अधिकता होगी। इस प्रकार उन दोनों श्वेत वर्णों में तारतम्य के कारण वैधर्म्य होगा और फलतः उनमें सादृश्य होगा। गुणों के इस तारतम्य को गुणसम्मिश्रण का परिणाम कहा जा सकता है। दो श्वेत वर्णों में से एक में अन्य की अपेक्षा जो न्यूनता होती है वह उसमें कृष्ण गुण के किञ्चित् सम्मिश्रण के फलस्वरूप होती है। यह भी सम्भव है कि इन दोनों वर्णों में कृष्ण गुण का सम्मिश्रण हो। इस दशा में उनमें तारतम्य का कारण उनमें मिश्रित कृष्ण गुणों का तारताम्य होगा। इसी प्रकार दो मधुर रसों में सादृश्य उनमें विद्यमान माधुर्य तथा इस माधुर्य के मात्राभेद के फलस्वरूप होता है।

नव्य नैयायिक सादृश्य को साधर्म्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। इनके अनुसार सादृश्य तथा साधर्म्य एक ही वस्तु हैं। अतः सादृश्य को पृथक् पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं। निम्न लिखित उक्ति इसकी समर्थक है—

नव्यतार्किकास्तु सादृश्यस्यातिरिक्तपदार्थत्वेऽष्टमपदार्थापत्त्या 'द्रव्यगुण-कर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः' सप्तैव पदार्थाः इति स्वसिद्धान्त-हानिं मन्यमानाः "सादृश्यं न पदार्थान्तरं किन्तु साधर्म्यं सादृश्यञ्चैकमेवेति ......" वदन्ति काव्य प्रकाश टीका पृ० ५४२।

सादृश्य तथा साधर्म्य के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होगा कि नव्यतार्किकों का उपर्युक्त मत उचित नहीं। साधर्म्य में केवल अवयव-सामान्य का ध्यान रखा जाता है परन्तु सादृश्य में इसके अतिरिक्त अवयव-विशेष का भी ध्यान रखा जाता है। प्रथम में केवल साधारणता की प्रतीति होती है परन्तु द्वितीय में इसके साथ साथ असाधारणता की भी प्रतीति होती है। अतः दोनों में भेद स्पष्ट है।

सादृश्य में हमारी दृष्टि एक वस्तु के दूसरी वस्तु से सम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। साधर्म्य में यह दोनों वस्तुओं के एक धर्म से सम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। इस प्रकार सादृश्य में उपमेय अनुयोगी होता है तथा उपमान प्रतियोगी होता है। साधर्म्य में उपमेय तथा उपमान दोनों अनुयोगी होते हैं तथा साधारणधर्म प्रतियोगी होता है। वामनाचार्य की निम्न लिखित उक्ति का यही आशय है:—

"तथा चात्र साधर्म्याख्यसम्बन्धस्य.........साधारणधर्मः प्रतियोगी उपमानमुपमेयश्चेति द्वावप्यनुयोगिनौ ।.........सादृश्यस्य प्रतियोगी उपमानम् अनुयोगी उपमेयम् । बालबोधिनी पृ० ५४१

सादृश्य को साधर्म्य से भिन्न न मानने वाले इसके विरुद्ध कहते हैं कि साधर्म्य में भी सम्बन्ध उपमेय का उपमान से होता है, उपमेय तथा उपमान का सम्बन्ध साधारणधर्म से नहीं होता। इसके समर्थन में इन विद्वानों ने अनेक युक्तियां दी हैं। इन विद्वानों का यह मत भी सादृश्य तथा साधर्म्य को एक सिद्ध कर सके ऐसी बात नहीं। वस्तुतः मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि सादृश्य तथा साधर्म्य में सम्बन्धों का प्रकार क्या है अपितु प्रश्न यह है कि सादृश्य तथा साधर्म्य के स्वरूप क्या हैं। सादृश्य के स्वरूप का कुछ विवेचन हो चुका है। अतः अब साधर्म्य को भली भांति समझना आवश्यक है। वामनाचार्य ने मम्मट के शब्दों की व्याख्या करते हुए साधर्म्य की परिभाषा इस प्रकार की है:—

"समानः एकः तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरूपो ययोः (अर्थादुपमानोपमेययोः) तौ सधर्माणौ तयोर्भावः साधर्म्यम् ।"—बालबोधिनी पृ० ५४०

इसे स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। इस पंक्ति के ठीक बाद वामनाचार्य कहते हैं—

"उपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सह सम्बन्ध इत्यर्थः।"—बालबोधिनी पृ० ५४१। यहां "सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९) इति पाणिनिसूत्रेण तृतीयेयम्" ऐसा कहकर वे 'समानेन धर्मेण सह' का अर्थ समान धर्म के साथ लेते हैं। सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वानों का इससे मतभेद है। वैसे 'उपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सम्बन्धः' को तो ये भी स्वीकार करते हैं। और स्वयं मम्मट ने भी इन शब्दों का उल्लेख किया है।[1] परन्तु 'समानेन धर्मेण' का अर्थ ये विद्वान् 'समान धर्म के साथ' न लेकर 'समान धर्म के कारण' लेते हैं।[2] हम परिभाषा के इस विवादग्रस्त

१. "उपमानोपमेययोरेव—साधर्म्ये भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।"—काव्य प्रकाश पृष्ठ ५४४

2. They understand Mammata's Words उपमानोपमेययोरेव.. ...साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा in the sense that Upama is the relation of connection (संबंध)

अंश को छोड़कर शेष अंश को लेकर चलते हैं जिसके सम्बन्ध में किसी को मतभेद न होना चाहिए। इस अंश के अनुसार साधर्म्य का अर्थ होता है—दो वस्तुओं में समान[1] अथवा साधारण धर्म का होना।

सादृश्य तथा साधर्म्य की इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सादृश्य तथा साधर्म्य के द्वारा उपस्थित चित्रों में भेद है। सादृश्य का चित्र साधर्म्य की अपेक्षा विस्तृत है। साधर्म्य में हमें वस्तुओं में केवल साधारणधर्म दिखाई देते हैं। परन्तु सादृश्य में इन साधारणधर्मों के अतिरिक्त अन्य धर्म भी मिले रहते हैं। इस प्रकार सादृश्य में वस्तुओं का एक सामूहिक अथवा विस्तृत चित्र होता है। हम जब दो वस्तुओं को देखते हैं तब सर्वप्रथम कोई साधारणधर्म हमें उन वस्तुओं में दिखाई देता है। हम देखते हैं कि प्रथम वस्तु में यह धर्म है तथा द्वितीय में भी यह धर्म है। यह साधर्म्य का चित्र हुआ। इसके बाद उस धर्म से युक्त दोनों वस्तुओं का सामूहिक अथवा विस्तृत चित्र हमारे सामने आता है। इस दशा में उस धर्म का पृथक् ज्ञान नहीं होता अपितु वस्तुओं के अन्य गुणों के साथ वह घुला मिला होता है। इन घुले मिले चित्रों में हमें सादृश्य दिखाई देता है। यह सादृश्य का चित्र हुआ। "गौरिव गवय:" सादृश्य के इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। यहां प्रथम हमे गौ तथा गवय के कतिपय

Which exists between उपमान and उपमेय (only) and is brought out through a property—common to both. They understand the instrumental in 'समानेन धर्मेण' in the sense of 'Karana' 'by means of'—'through' and not of 'Sahartha'—'accompanying with'. That is why some authors use such expressions as 'धर्मतः सादृश्यम्' or साम्यम्।

Journal of the University of Bombay, September, 57. Vol XXVI (New series) Part 2, Arts No. 32 Page—144.

१. समानेनेति—एकत्वबुद्धिविषयेणेत्यर्थः—उद्योत । साधर्म्यपदं हि योगेनैकधर्मवत्त्वमात्रबोधकम्-प्रभा। इन व्याख्याओं के अनुसार इस समान का अर्थ एक अथवा साधारण निकलता है।

साधारण अवयव दिखाई देते हैं। इसके बाद गौ तथा गवय के सामूहिक चित्र हमारे सामने आते हैं जिनमें साधारणधर्म पृथक् रूप से प्रतीत न होकर अन्य धर्मों से घुले मिले रहते हैं।

'गौरिव गवयः' के उपर्युक्त उदाहरण में सादृश्य का चित्र नेत्रेन्द्रिय का विषय है। कभी कभी सादृश्य का चित्र नेत्र का विषय न होकर अन्य इन्द्रियों में से किसी एक का विषय होता है। सदृश वस्तुओं का स्वरूप जिस इन्द्रिय का विषय होता है अथवा वस्तुओं का सादृश्याधायक साधारणधर्म जिस इन्द्रिय का विषय होता है उन वस्तुओं का सादृश्य भी उसी इन्द्रिय का विषय होता है। उदाहरणतः जब किसी की वाणी को कोकिल की वाणी के समान कहा जाता है तब सादृश्य कर्ण का विषय होता है। इसका कारण यह है कि वाणी कर्ण का विषय है। अतः इसका सादृश्यसम्बन्धी चित्र इसी इन्द्रिय का विषय हो सकता है। सादृश्य की अवस्था में इन वाणियों के जो चित्र हमारे सम्मुख आते हैं उनमें साधारण-धर्म माधुर्य भी जुड़ा रहता है। जब भुजाओं को वज्र के समान कहा जाता है तब सादृश्य त्वगिन्द्रिय का विषय होता है। यहां भुजाएं तथा वज्र यद्यपि नेत्र के विषय हो सकते हैं, परन्तु इनमें सादृश्य कठोरता आदि में से जिस किसी धर्म को लक्ष्य करके दिखाया गया है वह त्वगिन्द्रिय का विषय है। अतः सादृश्य के समय इनके त्वगिन्द्रियगम्य चित्र ही हमारे सम्मुख आते हैं। सादृश्य का चित्र किसी इन्द्रिय का विषय हो यह निश्चित है कि यह चित्र साधर्म्य के चित्र से कुछ भिन्न अवश्य होता है।

विरोधी प्रश्न कर सकते हैं कि सादृश्य के उपर्युक्त उदाहरणों में साधारणधर्म का उपादान नहीं। अतः ऐसी दशा में सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रों में आंशिक भेद हो सकता है। परन्तु जहां साधारणधर्म का उपादान होगा वहां इन चित्रों में भेद किस प्रकार सम्भव है। उदाहरणतः 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' इस उदाहरण में 'सुन्दरम्' शब्द का उपादान है। अतः सादृश्य के समय मुख तथा कमल के सौन्दर्यसम्बन्धी चित्र हमारे सामने आएंगे। इनका सादृश्य इनके सौन्दर्य के रूप में होगा और इनका साधर्म्य भी इसी सौन्दर्य के रूप में है। अतः यहां सादृश्य तथा साधर्म्य में अन्तर प्रतीत नहीं होता।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है कि उपर्युक्त दशा में मुख तथा कमल के जो सौन्दर्य-सम्बन्धी चित्र हमारे सामने आते हैं उनमें कुछ अन्तर

अवश्य है। सौन्दर्यों में सामान्य तत्त्व के साथ विशेष तत्त्व भी मिला रहता है। मुख तथा कमल के सौन्दर्य एक अथवा सर्वथा समान न होकर केवल सजातीय हैं। इस प्रकार यहां सौन्दर्य-सामान्य की दृष्टि से साधारणता है, परन्तु सौन्दर्य के प्रकार की दृष्टि से भेद है। इस प्रकार यहां सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रों में अन्तर अवश्य है।

विरोधी प्रश्न कर सकते हैं कि मुख तथा कमल के सौन्दर्यों में वस्तुतः भेद भले ही हो कवि तथा पाठक को अपनी कल्पनास्थिति मे इस भेद की प्रतीति नहीं होती। उन्हें एक अथवा सर्वथा समान सौन्दर्य मुख तथा कमल में दिखाई देता है। अतः कवि तथा पाठक के सम्मुख उपस्थित सादृश्य तथा साधर्म्य के चित्रों में उन्हें भेद लक्षित नही होता। विरोधी का यह कथन सर्वथा उचित है। ऐसी दशा में सादृश्य तथा साधर्म्य की सीमारेखाएं मिलती सी प्रतीत होती हैं। परन्तु इससे इस बात में कोई अन्तर नही आता कि सादृश्य तथा साधर्म्य में सैद्धान्तिक दृष्टि से भेद है।

साधर्म्य सादृश्य का कारण अवश्य है, परन्तु साधर्म्य-ज्ञान की स्थिति सादृश्य-ज्ञान की स्थिति से भिन्न है। सादृश्य-ज्ञान की स्थिति साधर्म्य-ज्ञान की स्थिति के बाद होती है। इसमें साधर्म्य-ज्ञान के अतिरिक्त वैधर्म्य-ज्ञान की प्रतीति होती है।

अनेक अलंकारों में सादृश्य वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। रूपकादि अलंकारों में यही बात है। यदि सादृश्य को साधर्म्य के अतिरिक्त न माना जाए तो साधारणधर्म के उपादान की दशा में इन अलंकारों के सादृश्य का व्यंग्यत्व असमीचीन सिद्ध हो जाता है। इन अलंकारों में अनेक बार साधारणधर्म का तो निर्देश होता है, परन्तु सादृश्य फिर भी व्यंग्य माना जाता है। यह सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने की अवस्था में सम्भव नहीं। क्योंकि जहां साधारणधर्म का निर्देश होगा वहां साधर्म्य वाच्य होगा और यदि सादृश्य तथा साधर्म्य को एक माना जाता है तो सादृश्य भी वहां वाच्य होना चाहिए। परन्तु उपर्युक्त अलंकारों में यह बात नहीं होती। अतः सादृश्य को साधर्म्य से भिन्न मानना ही उचित होगा। विश्वेश्वर का यही मत है—

"अत्र सर्वत्र सादृश्यं व्यंग्यमिति सिद्धान्तः। एवं च सादृश्यं पदार्थान्तरमेवालंकारिकाभिमतम्। अन्यथा धर्मस्योपादाने तदात्मकत्वे च सादृश्यस्य व्यंग्यत्वानुपपत्तिरिति केचित्।" अलंकार कौस्तुभ पृ० २३६

प्रश्न उठ सकता है कि यदि सादृश्य साधर्म्य से भिन्न है तथा साधर्म्य सादृश्य का कारण है तो अलंकारों को साधर्म्यमूलक न कहकर सादृश्यमूलक क्यों कहा गया। इसका उत्तर यह हो सकता है कि काव्य में प्रधानतया वस्तुओं का सामूहिक तथा संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जाता है, वस्तुओं के एक आध धर्म का नहीं। सादृश्य का इस प्रकार के चित्र से निकट सम्बन्ध है। अतः अलंकारों को सादृश्यमूलक कहा गया है।

अब हमें यह देखना है कि प्राचीन मान्य आलंकारिकों का इस विषय में क्या मत है। इन आलंकारिकों ने न तो सादृश्य तथा साधर्म्य में से किसी की परिभाषा की है और न ही इनके भेद अथवा अभेद का कहीं स्पष्ट उल्लेख किया है। इन लोगों ने केवल अपनी उपमा की परिभाषाओं में सादृश्य तथा साधर्म्य में से किसी एक शब्द का प्रयोग किया है। कुछ आलंकारिक सादृश्य शब्द का प्रयोग करते हैं तथा कुछ साधर्म्य का।[1] इस पर डा० वी० एम० कुलकर्णी कहते हैं कि प्राचीन आलंकारिक सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानते थे।[2] डा० कुलकर्णी के इस अनुमान

---

१. भरत, दण्डी, वाग्भट, अप्पयदीक्षित (कुवलयानन्द) जगन्नाथ आदि ने सादृश्य शब्द का प्रयोग किया है तथा उद्भट मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र अप्पय-दीक्षित (चित्रमीमांसा) विद्याभूषण आदि ने साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है।

२. Chronologically speaking this discussion of the distinction between साधर्म्य and सादृश्य is of very late origin and the early alankarikas were not aware of any such distinction as is clear from their use of the words सादृश्य, साम्य and साधर्म्य as synonyms. It is उद्भट who first uses the word साधर्म्य instead of सादृश्य employed by his eminent predecessors भरत, भामह and दण्डिन्. If he had in mind the supposed distinction he would have definitely expressed it in his वृत्ति. Even Mammata who borrows that word from उद्भट nowhere gives any clue to assume any such distinction. On the contrary he employes the words साधर्म्य, साम्य, सादृश्य synonymously. It simply means by usage the words साम्य, सादृश्य, साधर्म्य,

के लिए पर्याप्त आधार नहीं। हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधर्म्य सादृश्य का कारण है तथा साधर्म्य तथा वैधर्म्य के सम्मिश्रण से बने हुए सादृश्य में उस के एक प्रमुख तत्त्व के रूप में यह साधर्म्य वहां रहता ही है। अतः सादृश्य तथा साधर्म्य को भिन्न मानने की अवस्था में भी यह सम्भव है कि कुछ आलंकारिक उपमा में सादृश्य शब्द का सन्निवेश करें तो कुछ साधर्म्य का। दूसरे साधर्म्य शब्द का सन्निवेश करने वाले अनेक मान्य आलंकारिकों ने परिभाषा में भेद शब्द का उल्लेख किया है। उद्भट में तो इस ओर केवल संकेतमात्र है।[1] परन्तु मम्मट तथा रुय्यक[2] में इसका स्पष्ट उल्लेख है। 'साधर्म्यमुपमा भेदे'[3] उपमा की इस परिभाषा में मम्मट ने भेद का स्पष्ट उल्लेख किया है। यहां कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि यहां भेद का सन्निवेश उपमा की अनन्वय से पृथक्ता सिद्ध करने के लिए है। और यह बात मम्मट ने स्वयं कही है:—

भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय'—काव्य प्रकाश पृ० ५४६। ठीक है भेद शब्द उपमा की अनन्वय से पृथक्ता सिद्ध करता है। परन्तु इसके साथ ही साथ उपमा की परिभाषा मे इसका स्पष्ट उल्लेख भेदप्रतीति को उपमा के स्वरूप का आवश्यक अंग भी बना देता है। इस प्रकार उपमा में साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों प्रतीत होते हैं।

औपम्य, were treated as synonymous. We cannot lightly set aside the usage of the best alankarikas.

Journal of the University of Bombay, September, XXXVI (New series) Part 2, Art No. 32 1957

१. "यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।

मिथो विभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत्।"—अलंकारसारसंग्रह इस परिभाषा के अनुसार भिन्न वस्तुओं का साधर्म्य उपमा है। यहां वस्तुओं के भिन्न होने के कारण उनमें साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य की प्रतीति होना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। इस प्रकार उपमा में साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों की प्रतीति होगी। यह प्रतीति सादृश्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

२. 'उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा।'—अलंकार सर्वस्व यहां परिभाषा में अभेद के साथ साथ भेद का भी सन्निवेश है। अतः उपमा में साधर्म्य के साथ वैधर्म्य की भी प्रतीति होती है।

३. काव्य प्रकाश १०—१२५

मम्मट ने इन साधर्म्य तथा तुल्य आदि शब्दों का प्रयोग कतिपय ऐसे स्थलों पर भी किया है जिनको देखकर सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वान् कह सकते हैं कि ये स्थल इस बात के प्रमाण हैं कि मम्मट को साधर्म्य तथा सादृश्य पर्यायवाची शब्दों के रूप में अभिप्रेत हैं। परन्तु अन्य विद्वान् इसके विपरीत उतने ही औचित्य के साथ कह सकते हैं कि ये स्थल साधर्म्य तथा सादृश्य को पृथक् मानने की अवस्था में भी पूर्णतः ठीक बैठते हैं। मेरे विचार से ये स्थल स्वतः दोनों में से किसी मत के निर्णायक नहीं कहे जा सकते। ये स्थल इस प्रकार हैं:—

"असादृश्यासंभवावप्युपमायाम् अनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः।

यथा—'ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्।'

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानाँ च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम्।" काव्य प्रकाश पृ० ७८३

सादृश्य तथा साधर्म्य की एकता के समर्थक कहते हैं कि उपर्युक्त श्लोक उपमा में असादृश्य दोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इस श्लोक में मम्मट यह दिखाना चाहते हैं कि यहां वस्तुओं में सादृश्य नहीं है। श्लोक की व्याख्या में मम्मट कहते हैं कि यहां काव्य का शशी से तथा अर्थों का रश्मि से कोई साधर्म्य नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकला कि मम्मट सादृश्यतथा साधर्म्य को पर्यायवाची शब्दों के रूप में ग्रहण करते हैं। विचार करने पर प्रतीत होगा कि उपर्युक्त निष्कर्ष आवश्यक नहीं। यह तो ठीक है कि मम्मट यहां असादृश्य दिखाना चाहते हैं। परन्तु असादृश्य का ज्ञान तभी हो सकता है जब हमें साधर्म्य न दिखाई दे। अतः असादृश्य दिखाने के लिए यह आवश्यक है कि सादृश्य के कारणभूत साधर्म्य का अभाव दिखाया जाए और यही बात यहां दिखाई गई है। इसीलिए वामनाचार्य कहते हैं:—

"एवं च काव्यशशिनोरर्थरश्म्योश्च साधर्म्यस्यैवाभावेन साधर्म्यप्रयोज्यस्य सादृश्यस्य सुतरामभावः—।" बालबोधिनी पृ० ७८३

दूसरा स्थल इस प्रकार है:—

'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दो

काव्य प्रकाश पृ० ५५२

यहां भी तुल्यता आदि तथा साधर्म्य को एक मानना आवश्यक नहीं। यहां यह कहा गया है कि जब तुल्य आदि शब्दों का प्रयोग होता है तब उन दो वस्तुओं में तुल्यता बताई जाती है। परन्तु वस्तुओं को तुल्य कहने से ही हमें उनकी तुल्यता का ज्ञान नहीं होता। हमें तुल्यता का ज्ञान तभी होता है जब हम साम्य पर विचार करते हैं। साम्य पर विचार करने से तुल्यता के मूल में स्थित इस साधर्म्य का ज्ञान हमें हो जाता है। इस प्रकार साधर्म्य यहाँ अर्थगम्य होता है। इसीलिए वामनचार्य कहते हैं:—

इत्यत्रोभयत्रापि सामान्यतः सादृश्यं बोधयित्वा विरतव्यापारेषु तुल्य-सदृशादिशब्देषु धर्मविशेषं विना कथमनयोः सादृश्यमिति सादृश्यस्य (तुल्यादिशब्देनाभिहितस्य) अनुपपत्त्या धर्मविशेषसम्बन्धप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वादुपमाया आर्थत्वमिति।" —बालबोधिनी पृ० ५५२।

मम्मट आदि कतिपय आलङ्कारिकों ने उपमा के श्रौती तथा आर्थी दो विभाग किए हैं।[1] उपमा का यह विभाजन इन आलङ्कारिकों के अनुसार इव आदि तथा तुल्य आदि शब्दों के भेद पर आश्रित है। इव आदि के प्रयोग पर ये उपमा को श्रौती मानते हैं तथा तुल्यादि के प्रयोग पर उपमा को आर्थी मानते हैं।[2] इव आदि तथा तुल्य आदि के इस भेद के लिए यह आवश्यक है कि इन शब्दों के अर्थ में भेद स्वीकार किया जाए। सादृश्य तथा साधर्म्य को पृथक् मानने वाले विद्वानों ने ऐसा स्वीकार करके इव आदि का अर्थ साधर्म्य लिया है तथा तुल्य आदि का अर्थ सादृश्य लिया है।[3] इव आदि का प्रयोग करने पर साधर्म्य शाब्द होगा तथा सादृश्य आर्थ होगा। तुल्यादि का प्रयोग करने पर सादृश्य शाब्द होगा तथा साधर्म्य आर्थ

---

१. 'श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा'—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५४८।

२. यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यै...... तत्सद्भावे श्रौती—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५४६ साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५५२।

३. यथेवादिशब्दानां सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धरूपे साधर्म्ये एव शक्ततया यथेवादिप्रयोगस्थले साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्यं वाच्यं सादृश्यप्रतीतिस्त्वार्थी। तुल्यादिशब्दानां सादृश्यवति शक्तेः तुल्यसदृशादिशब्दप्रयोगस्थले सादृश्यं वाच्यं साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्यं त्वार्थमिति संबन्धबोधे विशेषादुपपद्यते एव श्रौत्यार्थी चेती विभागः। —बालबोधिनी पृष्ठ ५४६।

होगा। पूर्व दशा में उपमा शाब्दी होगी तथा द्वितीय दशा में उपमा आर्थी होगी। इस प्रकार इन आलङ्कारिकों को श्रौती तथा आर्थी नामक उपमाविभाजन का एक आधार मिल जाता है।[1] सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले विद्वानों के पास तो इस विभाजन का कोई आधार ही नहीं रह जाता। इन विद्वानों ने इस विभाजन का आधार ढूंढने का प्रयत्न अवश्य किया है परन्तु वह सफल नहीं कहा जा सकता। इन विद्वानों के अनुसार इवादि का अर्थ सादृश्य होता है तथा तुल्यादि का अर्थ सदृश होना है। इस प्रकार दोनों शब्दों के अर्थों में अन्तर है।[2]

प्रश्न उठता है कि सादृश्य तथा सदृश में क्या अन्तर है। इवादि के प्रयोग की दशा में वस्तुओं में सादृश्य होता है तथा तुल्यादि के प्रयोग की दशा में वस्तुएं सदृश होती हैं। वस्तुओं के सदृश होने के ज्ञान में तथा उनके सादृश्यज्ञान में वस्तुतः कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। ये विद्वान् कहते हैं कि इवादि के द्वारा साक्षात् सादृश्य का ज्ञान होता है तथा तुल्यादि के द्वारा धर्मी के व्यवधान से सादृश्य का ज्ञान होता है—

"साक्षात्सादृश्यप्रतिपादकेवादिशब्दानां प्रयोगे श्रौती।

धर्मिव्यवधानेनसादृश्यप्रतिपादकानां सदृशशब्दानां प्रयोगे आर्थी।

—प्रतापरुद्रयशोभूषण

"साक्षात्सादृश्यप्रतिपादका इवयथाशब्दाः तत्प्रयोगे श्रौती।

धर्मिव्यवधानेन सादृश्यप्रतिपादकास्तुल्यादिशब्दाः तत्प्रयोगे तु आर्थी।"

—एकावली पर मल्लिनाथ की तरला

यह मत उचित नहीं। हमें जब वस्तुओं में सादृश्य का ज्ञान होता है तभी हम उन्हें सदृश समझते हैं। अतः जब वस्तुओं को सदृश समझा जाता है

---

१. वैसे साधर्म्य तथा सादृश्य को पृथक् मानकर भी उपमा के इस विभाजन का खण्डन किया जा सकता है परन्तु उसके कारण अन्य हैं (इसका निरूपण उपमा के प्रकरण में किया जाएगा)। इससे कम से कम इवादि तथा तुल्यादि का भेद तो स्पष्ट हो गया।

२. "इवादीनामपि अर्थात् सदृशपर्यवसानं श्रुत्या तु सादृश्यगमकत्वमेव इति तत्प्रयोगे श्रौतीत्यर्थः। तुल्यादिशब्दानां तु श्रुत्या सदृशपरत्वम् अर्थात्तु सादृश्यपर्यवसानमिति तेषां प्रयोगे तु आर्थी।" —एकावली पर मल्लिनाथ की तरला।

तब निश्चित है कि उनमें सादृश्य का ज्ञान होता है। यदि यह कहा जाता है कि सदृश के प्रयोग से वस्तुओं के सदृश होने का ज्ञान नहीं हो सकता तो हमारा उत्तर है कि केवल इव के प्रयोग से भी सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः सादृश्यज्ञान हमें साधर्म्य के आधार पर होता है। उसे तो ये विद्वान् मानते नहीं और वस्तुओं के सादृश्यज्ञान तथा सदृश वस्तुओं के ज्ञान में भेद करने का प्रयत्न करते हैं।

सदृश वस्तुओं के ज्ञान की स्थिति में ये विद्वान् उन वस्तुओं के सादृश्य-ज्ञान का निराकरण कर सके हों ऐसी बात नहीं। उन्हें इस सादृश्यज्ञान को स्वीकार करना ही पड़ा। परन्तु इन्होंने कहा कि तुल्यादि शब्दों के प्रयोग की दशा में सादृश्यज्ञान होता तो है, परन्तु वह विशेष्यत्वेन न होकर विशेषणत्वेन होता है। इवादि के प्रयोग की दशा में इसके विपरीत वह विशेष्यत्वेन होता है:—

"यथादिना सादृश्यरूपः सम्बन्ध एव साक्षादभिधीयते (साक्षाद्वि-शेष्यतया-प्रभा) षष्ठीवत् तुल्यादिभिस्तु (सादृश्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादकैस्तु-ल्यादिभिस्तु-प्रभा) धर्म्यपि (विशेषणतया सादृश्याभिधानादार्थीत्वमित्यर्थः-प्रभा)।"—Sukthankar K P X P. 9.

यह मत भी उचित नहीं। यहां ज्ञान का विभाजन वाक्य-रचना के स्वरूपभेद के आधार पर किया गया है। परन्तु ज्ञान का विभाजन ज्ञान के स्वरूपभेद के आधार पर ही होना चाहिए, वाक्य-रचना के स्वरूप तथा व्याकरण के आधार पर नहीं। यदि केवल वाक्य-रचना के आधार पर भेद किया जाता है तो 'इदं फलं मधुरम्' और 'अस्मिन् फले माधुर्यम्' इन दोनों वाक्यों से उत्पन्न माधुर्य के ज्ञान में अन्तर होना चाहिए। परन्तु हमें इस प्रकार के किसी अन्तर की प्रतीति नहीं होती।

दूसरे यदि वाक्य-रचना के आधार पर सादृश्य में भेद करना ही है तो यह आवश्यक नहीं कि इवादि के प्रयोग की दशा में सादृश्य विशेष्यत्वेन ही हो। वह विशेषणत्वेन भी सम्भव है। उदाहरणतः 'मुखं चन्द्र इव आह्लादकम्' इस वाक्य में इस सिद्धान्त के अनुसार सादृश्य विशेषणत्वेन

होता है विशेष्यत्वेन नहीं ।[1] इस वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार है:—

आह्लादकोपमानभूतचन्द्राभिन्नमाह्लादकमुपमेयं मुखम् ।

यहां साधारणधर्म विशेषण के रूप में है। अतः उस पर आश्रित सादृश्य भी इसी रूप में होगा।

अतः इवादि तथा तुल्यादि का भेद उनका क्रमशः साधर्म्य तथा सादृश्य अर्थ लेने पर ही सम्भव है।

सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले कह सकते हैं कि इवादि का अर्थ साधर्म्य न होकर सादृश्य होता है। अनेक स्थलों पर इसी अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है:—

"यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणो":—भामह २–३१

"यथा सादृश्ये"—पाणिनि २–१–७

हमें इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। हमारा यह आग्रह नहीं कि इवादि का अर्थ साधर्म्य लिया जाय तथा तुल्यादि का अर्थ सादृश्य लिया जाय। हमारा तो केवल इतना ही मन्तव्य है कि यदि इवादि तथा तुल्यादि में भेद किया जाता है तो वह केवल इनके क्रमशः साधर्म्य तथा सादृश्य अर्थ लेने पर ही सम्भव है। परन्तु यदि इनके अर्थ में भेद नहीं किया जाता है तो इससे हमारे इस सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचती कि सादृश्य तथा साधर्म्य में भेद है। हमारा साध्य सादृश्य तथा साधर्म्य का यह भेद ही है, इवादि तथा तुल्यादि का भेद हमारा साध्य नहीं। इवादि तथा तुल्यादि के अर्थ में भेद न रहने पर भी सादृश्य तथा साधर्म्य का यह भेद बना रहेगा। उपमा में हमें सादृश्य की प्रतीति होगी तथा दीपक, तुल्ययोगिता आदि में साधर्म्य की।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सादृश्य तथा साधर्म्य एक न होकर भिन्न भिन्न हैं।

---

१. "एवं च चन्द्र इवेत्यत आह्लादकोपमानभूतचन्द्राभिन्नमाह्लादकमुपमेयं मुखमिति बोधः।—साधारणधर्मसंबन्धश्च क्वचिद्विशेषणतया यथा चन्द्र इव मुखमाह्लादकमित्यादौ। क्वचिद्विशेष्यतया यथा मुखमाह्लादयतीत्यादौ। अत्र हि उपमानचन्द्रकर्तृकाह्लादाभिन्न उपमेयमुखकर्तृकाह्लाद इति बोधः।.........।" Sukthankar KPX P. 11.

सादृश्य का क्षेत्र

सादृश्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। समस्त सृष्टि में हमें सादृश्य किसी न किसी रूप में देखने को मिलता है। क्षेत्र की दृष्टि से इस रूप के हम तीन भेद कर सकते हैं—चेतन, अचेतन तथा चेतन एवं अचेतन का सम्मिश्रण। जहां सादृश्य विचारों अथवा भावों के क्षेत्र में होता है वहां सादृश्य का स्वरूप चेतन होता है। विचार अथवा भाव चेतनस्वरूप होते हैं। अतः उनमें विद्यमान सादृश्य भी उसी रूप में सम्भव है। यह सादृश्य प्रायः लोक अथवा समाज में होता है। समाज में जहां व्यवहारसादृश्य के दर्शन होते हैं वहां सादृश्य का यही रूप विद्यमान रहता है।

सादृश्य का अचेतन रूप हमें पदार्थों के भौतिक स्वरूप में दिखाई देता है। प्रकृति में विद्यमान सादृश्य के कतिपय रूप इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। प्रकृति में सादृश्य के अचेतन स्वरूप के अतिरिक्त सादृश्य के चेतन स्वरूप भी सम्भव हैं।

सादृश्यसम्बन्धी चेतन तथा अचेतन का मिश्रित स्वरूप सप्राण वस्तुओं में दिखाई देता है। सप्राण वस्तुओं में उनके भौतिक अंशों को लेकर जो सादृश्य होता है वह सादृश्य का अचेतन रूप होता है तथा उन भौतिक अंशों से अभिव्यक्त चेतनांशों में साम्य होने पर सादृश्य का चेतन रूप होता है। उदाहरणतः कान्ता, बालक आदि के विभिन्न शारीरिक अवयवों में कोमलता आदि की दृष्टि से जो सादृश्य है वह सादृश्य का अचेतन रूप है। अवयवों में विद्यमान ये कोमलता आदि स्थूल शरीर के धर्म हैं। अतः इनसे सम्बन्धित सादृश्य अचेतनता की कोटि में आता है। इसके अतिरिक्त इन प्राणियों के विभिन्न अंगों से अभिव्यक्त होने वाले प्रसन्नता एवं क्रोधादिक भावों में भी साम्य सम्भव है। यह साम्य चेतनता की श्रेणी में आता है। इस प्रकार सप्राण वस्तुओं में सादृश्य के चेतन एवं अचेतन दोनों रूप सम्भव हैं।

विधाता की सृष्टि के अतिरिक्त कलासृष्टि में भी सादृश्य के दर्शन होते हैं। कलासृष्टि मनुष्य की सृष्टि है। मनुष्य की सृष्टि होने के नाते हमारा इससे निकट सम्बन्ध है। वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारा सम्बन्ध समस्त सृष्टि से है। समस्त सृष्टि एक ही चेतन शक्ति का प्रकाश है और

उसी शक्ति का प्रकाश हममें है। इस प्रकार समस्त सृष्टि के साथ हमारा सम्बन्ध है। परन्तु इस सम्बन्ध का ज्ञान एक विचारक को ही हो सकता है। कलासृष्टि के साथ सम्बन्ध का अनुभव प्रत्येक सहृदय को होता है। कलासृष्टि कलाकार की अनुभूति की व्यञ्जना है। यह सत्य है कि कलाकार प्रायः किसी बाह्य वस्तु को आधार बनाकर कलासर्जन मे प्रवृत्त होता है, परन्तु कलासर्जन के समय यह बाह्य वस्तु उसकी चेतना अथवा अनुभूति का अंग बन जाती है। इस प्रकार कला में कलाकार किसी बाह्य वस्तु का तटस्थ रूप से निर्माण अथवा वर्णन न करके अपनी ही अनुभूति को रूप प्रदान करता है। शिल्प तथा कला में यही अन्तर है कि शिल्प में शिल्पकार तटस्थ रूप से किसी वस्तु का निर्माण करता है, परन्तु कला में कलाकार वस्तु को आत्मसात् करके अपनी अनुभूति को साकार बनाता है। इस प्रकार एक मानवीय अनुभूति की अभिव्यञ्जना होने के नाते कला से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अब हमें यह देखना है कि समाज, प्रकृति तथा कला में यह सादृश्य किस प्रकार होता है।

समाज में सादृश्य

ममाज में इस सादृश्य के पद पद पर दर्शन होते हैं। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि समाज की व्यावहारिक स्थिति सादृश्य पर अवलम्बित है। समाज का निर्माण पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर होता है। समाज में अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं। पिता-पुत्र का, गुरु शिष्य का भाई-बहिन का, पति-पत्नी का, ये सब सम्बन्ध समाज के अन्तर्गत आते हैं और इन्हीं के सम्यक् निर्वाह-पर समाज की व्यावहारिक स्थिति निर्भर है। इन सम्बन्धों का सम्यक् निर्वाह सम्बन्धित व्यक्तियों के उचित आचरण पर निर्भर करता है और इस आचरण का औचित्य प्रस्तुत सम्बन्ध के अन्तर्गत आने वाले अन्य व्यक्तियों के पारस्परिक आचरण के साथ प्रस्तुत आचरण के सादृश्य रखने में निहित है। यदि प्रस्तुत आचरण प्रस्तुत सम्बन्ध के अन्तर्गत आने वाले अन्य व्यक्तियों के पारस्परिक आचरणों से मेल खाता है तब तो वह उचित कहा जाएगा अन्यथा अनुचित। उदाहरणतः पिना एवं पुत्र के पारस्परिक आचरण को लें। यदि प्रस्तुत पिता और पुत्र का आचरण पिता एवं पुत्र के सामान्य आचरण से मेल खाता है तब तो वह उचित कहा जाएगा अन्यथा अनुचित। इस प्रकार आचरण अथवा व्यवहार का औचित्य सादृश्य पर ही अवलम्बित है और इस व्यवहार के औचित्य पर समाज की व्यावहारिक स्थिति अवलम्बित है।

ममाज में विद्यमान सम्बन्धों में सादृश्य पर आश्रित इस आचरण का प्रमुख स्थान है। हम प्रत्येक सम्बन्ध के दो भाग कर सकते हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म अथवा भौतिक एवं मानसिक। आचरण सम्बन्ध का सूक्ष्म अथवा मानसिक अंग हैं। सम्बन्ध की सार्थकता इसी अंग के निर्वाह में है। उदाहरणतः पिता एवं पुत्र के सम्बन्ध को लें। इस सम्बन्ध का स्थूल अंश जन्यजनकभाव है तथा सूक्ष्म अंश पिता तथा पुत्र का क्रमशः स्नेह तथा श्रद्धा-प्रदर्शन है। प्रस्तुत सम्बन्ध की सार्थकता इसी द्वितीय अंश के निर्वाह में है। इस अंश के अभाव में स्थूल सम्बन्ध का कोई मूल्य नहीं रहता। पिता एवं पुत्र के उदाहरण में मानसिक अंश के अभाव में भौतिक सम्बन्ध बना तो रहता है, कभी कभी तो मानसिक अंश के अभाव में भौतिक सम्बन्ध का उच्छेद भी हो सकता है। पति तथा पत्नी का सम्बन्ध इसी प्रकार का है।

समाज की व्यावहारिक स्थिति में मानसिक पक्ष पर आश्रित आचरण के इस सादृश्य का महत्त्व इसलिए है क्योंकि व्यवहार से सम्बन्ध इसी अंश का है। व्यवहार में व्यक्ति को अपनी ओर से कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। व्यवहार एक साध्य वस्तु है सिद्ध वस्तु नहीं। सम्बन्ध का यह मानसिक अंश भी सम्बन्ध के साध्य अंश को लक्ष्य करके प्रवृत्त होता है। सम्बन्ध के इस अंश में व्यक्ति को अपनी ओर से प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा आभ्यन्तर। पुत्र के उदाहरण को लें तो ज्ञात होगा कि पिता के प्रति उसके आचरण के दो प्रकार हो सकते हैं—पहले प्रकार में पिता के आगमन पर पुत्र का आसन से खड़े हो जाना, पिता को प्रणाम करना आदि चेष्टाएं आती हैं। इन चेष्टाओं का शरीर से सम्बन्ध है। अतः ये बाह्य प्रकार के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे प्रकार के अन्तर्गत पुत्र का पिता के प्रति श्रद्धाप्रदर्शन आदि हैं। इनका सम्बन्ध मन से है। अतः ये आभ्यन्तर प्रकार के अन्तर्गत हैं। वस्तुतः देखा जाए तो आचरण का प्रथम प्रकार भी मानसिक ही है। शरीर की बाह्य चेष्टाएं हृदय के भाव की बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र हैं। हृदय का यह भाव उन बाह्य अभिव्यक्तियों के मूल में रहता है तथा उनके सद्भाव के समय उसका भी सद्भाव रहता है। अतः समस्त आचरण को मानसिक अथवा मनः प्रधान कहना अधिक उपयुक्त होगा। व्यावहारिक जगत् में सम्बन्ध का यही मानसिक अंश क्रियाशील रहता है। अतः यह व्यावहारिक जगत् का मूल है। सम्बन्ध के स्थूल अंश के साथ यह बात नहीं। स्थूल अंश पूर्वसिद्ध होता है। अतः व्यावहारिक क्षेत्र से उसका बहिर्भाव हो जाता है। उदाहरणतः हम "मातृदेवो भव" इस नियम को लें। यहां पुत्र के लिए माता को देवतुल्य समझने का विधान है। माता का जन्मदायीत्व अंश तो पुत्र के लिए पूर्व-सिद्ध है। अतः पुत्र के व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु 'माता को देवतुल्य' समझना यह अंश पुत्र के लिए साध्य है। अतः इसके लिए पुत्र के आचरण की अपेक्षा है। पुत्र का जो आचरण इस नियम से मेल खाएगा वह उचित होगा तथा अन्य अनुचित होगा। इसी प्रकार समाज में अन्य अनेक नियम हैं जैसे 'पितृदेवो भव' 'आचार्यदेवो' आदि। इन्हीं के सम्यक् निर्वाह पर समाज की व्यावहारिक स्थिति अवलम्बित है। इनके सम्यक् निर्वाह के लिए आवश्यक है कि सम्बन्धित व्यक्ति का आचरण इन नियमों से मेल खाए।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ समाज में विद्यमान सम्बन्धों एवं नियमों के स्वरूप मे परिवर्तन होता रहता है। अतः यह कहना कहाँ तक उचित है कि समाज की स्थिति सदा सम्बन्धों तथा नियमों के समान रूप से निर्वाह पर अवलम्बित है। इसका उत्तर यह हो सकता है कि समाज का प्रत्येक नियम तथा सम्बन्ध परिवर्तनशील नहीं। दूसरे जो सम्बन्ध अथवा नियम परिस्थितिवश परिवर्तित होते भी है उनके स्वरूप का निर्धारण परिवर्तित परिस्थिति से साम्य अथवा मेल के आधार पर ही होता है और जब तक वह परिवर्तित परिस्थिति बनी रहती है तबतक तदनुसार परिवर्तित सम्बन्ध अथवा नियम के स्वरूप का समान रूप से निर्वाह नितान्त अपेक्षित है। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से किसी न किसी प्रकार का सादृश्य समाज की व्यावहारिक स्थिति के लिए आवश्यक है।

प्रकृति में सादृश्य

इस सादृश्य के दर्शन हमें प्रकृति में भी होते हैं। प्रकृति में विद्यमान यह सादृश्य अनेक प्रकार का होता है। इस सादृश्य का एक प्रकार तो सम्मुख विद्यमान प्राकृतिक वस्तुओं तथा तत्समान पूर्वदृष्ट प्राकृतिक वस्तुओं का सादृश्य है। यह सादृश्य यद्यपि सम्मुख विद्यमान प्रकृति के अन्तर्गत नहीं आता, + परन्तु सम्मुख विद्यमान प्रकृति के सम्पर्क में आने पर अथवा वहाँ जाने पर इसका ज्ञान होता है। इसी दृष्टि से इसे प्रकृति में सादृश्य कहा है।

प्रकृति के साथ हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण प्राकृतिक वस्तुओं के दर्शन से उत्पन्न संस्कार हमारे मन में अंकित हो जाते हैं। हम कालान्तर में जब ऐसी ही वस्तुओं को देखते हैं तब उनमें साम्य के आधार पर पूर्वदृष्ट प्राकृतिक वस्तुओं का स्मरण करके आनन्द का अनुभव करते हैं। इस दशा में सादृश्य का ज्ञान थोड़ी देर के लिए ही होता है। इसके बाद हमारा ध्यान स्मर्यमाण वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है और हम उस वस्तु से सम्बन्धित अपने पूर्व कार्य-कलापों पर विचार करने लगते हैं।

वैसे तो किसी भी वस्तु को देखकर तत्समान पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण हो आता है, परन्तु प्राकृतिक वस्तुओं में ऐसा विशेष रूप से होता है। प्रकृति का वातावरण शान्त होता है। अतः उसमें मस्तिष्क के शान्त होने के कारण स्मृति के लिए पूर्ण अवकाश रहता है।

प्रकृति में विद्यमान दूसरा सादृश्य प्रकृति में विद्यमान शान्ति तथा बुद्धि में निहित शान्ति का सादृश्य है। हम प्रकृति में एक अपूर्व शान्ति देखते हैं। हमारी चेतना के मूल में भी शान्ति विद्यमान है। चेतना के मूल में स्थित इस शान्ति का प्रकृति में विद्यमान शान्ति से साम्य होने से हमें आनन्द की अनुभूति होती है। इस साम्य का ज्ञान व्यक्ति को प्रायः होता नहीं। परन्तु उसकी सत्ता अवश्य होती है और इसी से आनन्दानुभूति होती है।

भावुक तथा कविहृदय व्यक्तियों को प्रकृति में इस शान्त भावना ही का साम्य नहीं मिलता, अपितु अपने अन्य भावों का भी साम्य मिलता है।

कवि प्रकृति को चेतन के रूप में देखता है तथा उस पर अपने भावों का आरोप करता है। अपने उल्लास मे प्रकृति उसे उल्लसित तथा अपने विषाद में वह उसे विषण्ण दिखाई देती है। इस भाव-साम्य के कारण कवि को आनन्द की अनुभूति होती है।

अब तक प्रकृति में जिस सादृश्य का विवेचन हुआ है वह सम्मुख स्थित प्रकृति का साम्य अन्य वस्तुओं से लक्ष्य करके हुआ है। ये वस्तुएं चाहे पूर्वदृष्ट प्राकृतिक पदार्थ हों अथवा भाव हों, हैं ये अन्य ही। इसके अतिरिक्त सम्मुख स्थित प्राकृतिक वस्तुओं में परस्पर भी एक सादृश्य होता है। सम्मुख स्थित प्राकृतिक वस्तुएं दो प्रकार की होती है—मनुष्य के प्रयास से निर्मित तथा सर्वथा नैसर्गिक अवस्था में विद्यमान। प्रथम कोटि मे उद्यान आदि आते हैं तथा द्वितीय कोटि में वन, सरिता आदि आते है। उद्यान आदि में सादृश्य-विधान स्पष्ट ही है। उद्यान मे यद्यपि वृक्षों, पादपों, पुष्पों आदि की विविधता होती है परन्तु उनकी व्यवस्था वहां सादृश्य को ध्यान में रखकर की जाती है और प्रधानतः इसी से दर्शक के मन में सौन्दर्य-भावना की उत्पत्ति होती है।

नैसर्गिक अवस्था में विद्यमान प्रकृति में भी हमें सादृश्य के दर्शन होते हैं। इस अवस्था में प्रकृति मे अनेक विविधताएं होती हैं। दर्शक उनमें से सदृश वस्तुओं का चयन कर लेता हे तथा इस चयन से उत्पन्न प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेता है। सदृश वस्तुओं का यह चयन प्रकृति की विशेषता के कारण स्वतः हो जाता है। Alexander की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

"We find nature beautiful not because she is beautiful herself but because we select from nature and combine as the artist does more plainly when he works with pigments" —Page 30

"The man makes nature beautiful by selection and if need be by imaginative addition" Page 33.

Beauty and other forms of Value.

उदाहरणतः यदि एक वन का दृश्य हमारे सम्मुख है और हमारी दृष्टि एक झुके हुए वृक्ष की ओर जाती है तो वह दृष्टि उसी वृक्ष तक सीमित

नहीं रहती, अपितु उस जैसे अन्य वृक्षों को भी अपना विषय बनाती है। फलतः उन वृक्षों में सादृश्यदर्शन के कारण हमें सौन्दर्य की अनुभूति होती है। इसी प्रकार एक सीधे वृक्ष के दृष्टिगत होने पर अनेक इसी जैसे वृक्ष हमारी दृष्टि के विषय बनकर अपनी पारस्परिक समानता के फलस्वरूप हमारे हृदय मे सौन्दर्य की भावना उत्पन्न करते हैं। यह सादृश्य प्रकृति में अनेक प्रकार से सम्भव है। प्रकृति विविधताओं का विशाल समुदाय है, परन्तु इस समुदाय में चयन के फलस्वरूप सादृश्य-विधान कोई कठिन कार्य नहीं। जहां इस सादृश्य-विधान मे अभाव के कारण कोई कठिनता आती है वहां दर्शक अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे उस अभाव की पूर्ति कर लेता है।

प्रकृति में अब तक जिस सादृश्य का विवेचन किया गया है वह रूप-साम्य के आधार पर हुआ है। इस साम्य के अतिरिक्त ध्वनि-साम्य के आधार पर भी प्रकृति मे सादृश्य होता है। प्रकृति में श्रोता को अनेक स्वर सुनाई देते है। इन स्वरों मे विविधता होती है। परन्तु श्रोता उनके श्रवण में तल्लीन होकर विविधता के जनक स्वर-वैशिष्ट्य को नहीं सुनता अपितु स्वर-सामान्य को अपना विषय बनाता है तथा निरन्तर एक समरस ध्वनि की गुञ्जार उसके कानों में होती रहती है। जहां श्रोता अपना ध्यान स्वरों के इस सामान्य अंश पर केन्द्रित न करके उनके विशेष अंश को अपना लक्ष्य बनाता है वहां भी विभिन्न स्वरों में वह सहज ही एक क्रम तथा व्यवस्था स्थापित कर लेता है। उदाहरणतः श्रोता वृक्षों पर पक्षियों के विभिन्न शब्दों को सुनता है। इनमे कुछ का स्वर मन्द होता है तथा कुछ का ऊंचा। वृक्षों के नीचे वह सरिता की गम्भीर ध्वनि सुनता है। इन विभिन्न ध्वनियों में श्रोता सहज ही समन्वय स्थापित कर लेता है और इस समन्वित रूप में वह इन ध्वनियों को निरन्तर सुनता रहता है। इस प्रकार प्रकृति में व्यक्ति को रूप-साम्य तथा ध्वनि-साम्य दोनों मिलते हैं और इन दोनों का ज्ञान लगभग साथ साथ सा चलता रहता है। इससे उसे एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

"कला में साहश्य"

कला को हम भावों की अभिव्यक्ति कह सकते है। भाव अमूर्त होते हैं। इन्हें मूर्त रूप देना ही कला है। इसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता है। विभिन्न कलाओं मे ये माध्यम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। साहित्य मे शब्द, संगीत में स्वर, चित्र मे रेखा एवं रंग, मूर्ति में प्रस्तर आदि तथा वास्तु कला मे ईट, चूना आदि माध्यम का काम करते हैं। इन माध्यमों को कला का भोग तत्त्व कहा जाता है। इस तत्त्व के द्वारा भावों को मूर्त बनाने के लिए आवश्यक है कि इस तत्त्व को एक व्यवस्थित रूप दिया जाए। स्वतः भोग तत्त्व भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं अपितु उसका व्यवस्थित रूप ही ऐसा करने मे समर्थ है। यह व्यवस्थित रूप कला का रूपतत्त्व कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस रूप का सम्बन्ध केवल भोग तत्त्व से जोडा है और इस प्रकार रूप को भोग अथवा माध्यम का रूप कहा है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह रूप भोग अथवा माध्यम का ही रूप नही होता अपितु भावों का भी रूप बन जाता है। इतना अवश्य है कि भावों का अमूर्त रूप इस अवस्था में मूर्तता को प्राप्त कर लेता है। यह रूपतत्त्व समस्त कलाओं का आवश्यक अङ्ग है। इतना अवश्य है कि किसी कला में माध्यम से सम्बन्धित रूपतत्त्व सर्वथा गौण अथवा नगण्य होता है तथा भावों से सम्बन्धित रूपतत्त्व ही आनन्द का प्रधान कारण होता है। साहित्य कला इसी प्रकार की कला है। इसके माध्यम शब्द हैं। उच्चारण की दृष्टि से ये ध्वनि-स्वरूप हैं। साहित्य-जन्य आनन्द में शब्दों के इस स्वरूप का महत्त्व नगण्य है। दूसरे शब्दों का यह रूप तो संगीत के अन्तर्गत चला जाता है। अतः वह साहित्य को स्वतन्त्र कला सिद्ध करने का हेतु नहीं। अन्य कलाओं से साहित्य के इस भेद के कारण हम सर्वप्रथम साहित्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं में ही रूपतत्त्व का विवेचन करेंगे। रूप-तत्त्व के विवेचन में हम प्रथम उसके माध्यम से सम्बन्धित स्वरूप को लेकर चलते हैं।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में रूपतत्त्व के चार गुण माने गए हैं— सापेक्षता (Proportion) समता (Symmetry) संगति (harmony) तथा सन्तुलन (balance)। अतः यह स्पष्ट है कि समता रूपतत्त्व का आवश्यक अंग है तथा ऐसा होने के नाते वह कला के

आधारों में से एक आधार है। इतना ही नहीं रूपतत्त्व के अन्य गुणों के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि उनके निर्वाह के लिए किसी न किसी रूप में समानता का ध्यान रखना अपेक्षित है। हम सर्वप्रथम सापेक्षता को लेते हैं। सापेक्षता का अर्थ है एक दूसरे की अपेक्षा रखना। इस सिद्धान्त के अनुसार कला में प्रत्येक अवयव की सृष्टि अन्य अवयव अथवा अवयवों को ध्यान में रखकर होती है। उदाहरणतः एक मनुष्य के चित्र मे सिर के आकार का निर्धारण शरीर के अन्य अवयवों को लक्ष्य करके होता है। यदि अन्य अवयव विशाल हैं तो सिर भी विशाल होगा और यदि अन्य अवयव लघु हैं तो सिर भी लघु होगा। इतना ही नही, सिर की इस विशालता तथा लघुता की मात्रा का निश्चय भी अन्य अवयवो की विशालता अथवा लघुता की मात्रा के आधार पर होगा। यदि ऐसा नहीं होता है और फलतः एक लघु शरीर पर विशाल सिर की योजना की जाती है तो वह व्यवस्थित रूपतत्त्व के लिए हानिकर होगा और कुरूपता का जनक होगा। वस्तुतः शरीर के अवयवों के आधार का अनुपात पूर्वदृष्ट शरीरों के आधार पर हमारे मस्तिष्क मे अंकित रहता है। अतः हम जब किसी मनुष्य का चित्र देखते हैं तो अज्ञातरूपेण यह चाहते हैं कि इस चित्र के अवयवों के अनुपात का साम्य हमारे मन में पहले से अंकित अवयवों के अनुपात से हो। सापेक्षता के सिद्धान्त का स्वतः कोई अर्थ नहीं। जब तक हमें यह ज्ञात नही कि अमुक वस्तु के अवयवों के आकार का अमुक अनुपात लोक मे निश्चित है तब तक यह कहना कि इस वस्तु के अवयवों की रचना उनके आकारसम्बन्धी पारस्परिक अनुपात को लक्ष्य करके की जानी चाहिए कोई अर्थ नहीं रखता। सापेक्षता का सिद्धान्त वस्तुतः पूर्व निश्चित अनुपात को मानकर चलता है तथा उस अनुपात से साम्य के निर्वाह का निर्देश करता है। इस प्रकार सापेक्षता के लिए समता अपेक्षित है। इतना अवश्य है कि सामान्य समता अवयवों की पारस्परिक समानता का निर्देश करती है तथा सापेक्षता पूर्व-निश्चित अनुपात से साम्य का निर्देश करती है।

संगति का अर्थ है अवयवों में सामञ्जस्य का होना। किसी वस्तु में अनेक अवयव होते हैं। इस अनेकता के कारण वस्तु में विविधता होती है। परन्तु वस्तु के व्यवस्थित रूपतत्त्व के लिए आवश्यक है कि इस विविधता में एकता की प्रतीति हो। अनेकता में एकता की यह प्रतीति

अवयवों के सामञ्जस्य के कारण होती है । सामञ्जस्य से अवयव पृथक् पृथक् प्रतीत न होकर एक व्यवस्थित एवं संश्लिष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं जो प्रत्येक कलाकृति के लिए आवश्यक है। अतः यह स्पष्ट है कि संगति अथवा सामञ्जस्य कला के रूपतत्त्व का प्राण है। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह संगति अवयवों में किस प्रकार आती है। अवश्य ही संगति के लिए कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता है जिनके फलस्वरूप संगति उत्पन्न हो। बिना किसी अन्य नियम को अपनाए अवयवों में स्वतः संगति नहीं लाई जा सकती। अवयवों में स्वतः संगति तो तभी लाई जा सकती है जब संगति का कोई पूर्व-निर्दिष्ट सामान्य स्वरूप कलाकार के सम्मुख हो। परन्तु ऐसा नहीं होता । संगति का ज्ञान कलाकार को तभी होता है जब संगति कलाकृति में आ चुकती है, इससे पूर्व नहीं। जब कलाकार कलाकृति के एक अवयव का निर्माण कर लेता है तथा एक अन्य अवयव का निर्माण करना चाहता है जिसकी पूर्व अवयव से संगति बैठे तब स्वतः संगति का कोई निश्चित स्वरूप उसके सामने नहीं होता जिसका तटस्थता से अनुसरण करके वह दूसरे अवयव का निर्माण कर सके। इसलिऐ स्पष्टतः अथवा अस्पष्टतः वह समानता आदि के सिद्धान्त अपनाता है जिनके फलस्वरूप कलाकृति में संगति आती है । अतः यह सिद्ध है कि संगति के निर्वाह के लिए समानता, सापेक्षता आदि का निर्वाह आवश्यक है। सापेक्षता के लिए समानता आवश्यक है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। अतःसंगति के निर्वाह में समानता का प्रमुख स्थान है।

सन्तुलन का अर्थ है एक अवयव के द्वारा अन्य अवयव अथवा अवयवों के प्रभाव में वृद्धि करना। संगति के समान इस गुण का भी कोई पूर्वनिश्चित स्वरूप कलाकार के सम्मुख नहीं रहता परन्तु समता के विभिन्न स्वरूपों को अपनाकर ही वह कलाकृति में इस गुण को जन्म देता है । रूपतत्त्व में सन्तुलन गुण के निर्देश का उद्देश्य कलाकृति में सन्तुलन लाना ही नहीं अपितु इस गुण के अभाव से उत्पन्न रूपविघातक प्रभाव से बचना भी है। इसका कारण यह है कि इस गुण के अभाव में अवयव-विशेष का ही सन्तुलन नष्ट नहीं होता अपितु वह अन्य अवयवों को भी प्रभावित करता है तथा उनके सन्तुलन को नष्ट कर देता है । इस प्रकार अवयव-विशेष का

असन्तुलन उसी अवयव तक सीमित न रहकर समस्त अवयवसमुदाय को अपने क्षेत्र में ले आता है। संगति के अभाव में ऐसा नहीं होता। अवयव-विशेष की असंगति उसी अवयव तक सीमित रहती है। इस दशा मे केवल इतना होता है कि असंगत अवयव का अन्य अवयवों से मेल नहीं बैठता। अन्य अवयवों का पारस्परिक मेल वैसा बना रहता है। परन्तु असन्तुलन में अवयव-विशेष इतना विषम अथवा बेमेल होता है कि उसका यह विषम स्वरूप समस्त चित्र को ही अस्त-व्यस्त कर देता है। इस प्रकार असन्तुलन असंगति का बढ़ा हुआ रूप है। अतः व्यवस्थित रूप-निर्माण के लिए इससे बचना परम आवश्यक है।

कलाकृति के स्वरूप मे बाह्य आकार अथवा रूप की दृष्टि से ही साम्य नहीं अपितु भाव की दृष्टि से भी साम्य होता है। हम भाव को कलाकृति के रूप से सर्वथा पृथक् नहीं कर सकते। वस्तुतः हम जब कलाकृति का दर्शन करते हैं तब उसका स्थूल आकार ही हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता, परन्तु वे भाव भी हमारी दृष्टि के विषय बनते हैं जो उस आकार से व्यक्त हो रहे हैं। इस प्रकार हम बाह्य आकारमात्र को न देखकर भावों से ओतप्रोत आकार को देखते हैं। यदि भगवान् शंकर की मूर्ति हमारे सामने है तो हम उस शान्त भावना को देखे बिना नहीं रह सकते जो उस मूर्ति के प्रत्येक अवयव से झलक रही है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि ऐसी दशा में हम एक जड मूर्ति का आकार न देखकर शान्त भावना का मूर्त रूप देखते हैं। इस शान्त भावना के लिए भी साम्य का निर्वाह अपेक्षित है। हम यह शान्त भावना मूर्ति के एक आध अवयव में प्रतिबिम्बित न देखकर समस्त अवयवों में प्रतिबिम्बित देखते हैं। इस भावना में शरीर के प्रत्येक अवयव की एक विशेष स्थिति होती है। नेत्र, मुख, हस्त आदि समस्त अवयव इस भावना के समय एक विशेष आकार धारण करते हैं। अतः हम इन सब अवयवों के इस विशेष आकार को देखकर इन सब अवयवों में एक समान शान्त भावना के दर्शन करते हैं। और फलतः एक शान्त मुद्रा हमारे सामने नाचने लगती है। यदि भाव के अभिव्यञ्जक किसी एक शारीरिक अवयव से शान्त भावना की अभिव्यक्ति न होकर अन्य किसी भाव की अभिव्यक्ति होती है तो सब अवयवों से समान भाव के अभिव्यक्त न होने के कारण शान्त भावना

की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए साम्य का निर्वाह अपेक्षित है।

चित्रकला में चित्र के विभिन्न अवयवों से ही नहीं अपितु उसके वर्णों से भी भावों की अभिव्यक्ति होती है। विभिन्न वर्ण विभिन्न भावनाओं के अभिव्यञ्जक माने गए हैं, जैसे हरा रंग शीतलता का, नीला रंग गम्भीरता का तथा श्वेत वर्ण स्वच्छता का अभिव्यञ्जक माना गया है। इस प्रकार चित्र के समस्त अवयवों एवं वर्णों से एक समान भाव की अभिव्यक्ति होने के कारण हमें वह चित्र उस भाव का मूर्त रूप प्रतीत होता है।

भावाभिव्यक्ति के इस विषय को लेकर वास्तुकला में बाधा अवश्य उपस्थित होती है, परन्तु इसका कारण यह नहीं कि वास्तुकला में भावों की अभिव्यक्ति का लेश भी नहीं होता अपितु इसका कारण यह है कि इस कला में भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त अस्पष्ट होती है। दूसरे इस कला में प्रधानतः जीवन के भावों की अभिव्यक्ति न होकर सनातन तथा चिरन्तन भावों की अभिव्यक्ति होती है। इन भावों का हमारे जीवन से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण तथा प्रस्तुत कला में बाह्य आकार के अत्यन्त विशाल होने के कारण हमारा ध्यान आकार से आगे बहुत कम बढ़ता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार भावाभिव्यक्ति का यह सिद्धान्त संगीत पर भी लागू नहीं होता। इनके अनुसार संगीत में केवल स्वर के आरोहावरोह का चमत्कार होता है किसी भावविशेष का नहीं। इन विद्वानों का यह मत पूर्णतः सत्य नहीं। हम भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से संगीत के दो भेद कर सकते हैं—शुद्ध तथा मिश्रित। शुद्ध संगीत में वाद्यसंगीत आदि आते हैं। इस संगीत में भावों की सत्ता नहीं होती परन्तु मिश्रित संगीत में भावों की सत्ता होती है। इस संगीत में श्रोता स्वरों के आरोहावरोह का ही आनन्द नहीं लेता अपितु उससे अभिव्यक्त होने वाले भावों का भी आनन्द लेता है। यह सम्भव है कि संगीत प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति न कर सके परन्तु हर्ष, विषाद आदि परस्पर सर्वथा भिन्न भावों की अभिव्यक्ति वह सरलता से कर सकता है और जहां ऐसे भावों की अभिव्यक्ति होती है, वहां वह अत्यन्त तीव्र होती है। ऐसे भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी साम्य का निर्वाह आवश्यक है।

उपर्युक्त कलाओं के द्वारा कलाकार जिस भाव को अभिव्यक्त करता है उसकी अनुभूति प्रायः पहले से विद्यमान रहती है। पूर्व विद्यमान अपनी इस अनुभूति को वह कला के माध्यम द्वारा व्यक्त करता है। कभी कभी यह भी सम्भव है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का अस्तित्व समकालीन हो तथा अभिव्यक्ति का रूप धारण करने पर ही कलाकार को अनुभूति का ज्ञान हो। परन्तु ऐसी दशाओं में भी अनुभूति का कोई न कोई अंश अभिव्यक्ति से पूर्व अवश्य रहता है तथा अभिव्यक्ति के समय अस्तित्व में आने वाली अनुभूति इसी पूर्व अनुभूति का विकसित स्वरूप होती है। ऐसा प्रायः बहुत कम होता है कि बिना किसी प्रकार की पूर्व अनुभूति के कलाकार सहसा अभिव्यक्ति का रूप खड़ा कर सके। अतः अनुभूति अथवा इस अनुभूति के किसी अंश के पूर्व से विद्यमान रहने के कारण यह आवश्यक है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में साम्य हो। कला की सफलता साम्य के इसी निर्वाह में निहित है।

कला में सादृश्य की यह सिद्धि विवेचक की दृष्टि से की गई है। जहां तक दर्शक का सम्बन्ध है उसे कला में सादृश्य की प्रतीति कुछ ही अंशों में होती है। जहां उसे कला में सापेक्षता, संगति आदि तत्त्वों के दर्शन होते हैं वहां उसकी दृष्टि उन्हीं तत्त्वों तक सीमित रहती है। इन तत्त्वों के निर्वाह के लिए समानता का ध्यान अपेक्षित अवश्य है परन्तु दर्शक उस समानता तक नहीं जाता।

"काव्य में सादृश्य"

कवि की दृष्टि से.—

काव्य में भी इस सादृश्य का निर्वाह अपेक्षित है। काव्य का निर्माण शब्द के माध्यम से होता है। इस माध्यम के द्वारा काव्य अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। अभिव्यक्ति से पूर्व यह अर्थ कवि के हृदय में अनुभूति के रूप में रहता है। इस अनुभूति को अभिव्यक्ति में परिणत करना ही काव्य का उद्देश्य है। अतः काव्य के लिए अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में साम्य होना नितान्त आवश्यक है। कवि जिस वस्तु की अनुभूति करता है उसे ही वह भाषा द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है। अतः उसकी इस अभिव्यञ्जना की सफलता इसी में है कि यह अनुभूति का ही एक बाह्य रूप हो। वस्तुतः अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के मूल में तत्त्व एक ही है। अन्तर है तो केवल इसके स्वरूप में है। कालिदास के निम्न लिखित श्लोक का यही आशय है:—

"तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकि के शोक ने ही श्लोक का रूप धारण किया। अतः श्लोक के रूप में जो वस्तु अभिव्यक्त हुई वह कोई नवीन वस्तु नहीं थी अपितु जो वस्तु पहले अव्यक्त थी उसी ने अब व्यक्त भाषा का रूप धारण किया। "क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः"[1] इस उक्ति का यही तात्पर्य है। दण्डी की काव्य की परिभाषा "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली"[2] भी शब्द तथा अर्थ के साम्य की द्योतक है।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि जब अनुभूति ही अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है तथा उसके साथ अविच्छेद्य रूप से लिपटी रहती है तो दोनों को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। क्रोचे ने ऐसा ही किया है। इनके अनुसार अभिव्यक्ति ही कला का सर्वस्व है। यह अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति के रूप

---

१. ध्वन्यालोक १।५ २. काव्यदर्श १।१०

में होती है। बाह्य अभिव्यक्ति की इस आन्तरिक अनुभूति में कोई पृथक् सत्ता नहीं। कलाकार के हृदय में आन्तरिक अनुभूति उत्पन्न होते ही अभिव्यक्ति वस्तुतः पूर्णता को प्राप्त कर चुकती है। अतः उसे शब्दादि के द्वारा बाह्य रूप देना विशेष महत्त्व का नहीं,—

"When we have mastered the internal word, when we have vividly and clearly conceived a figure or statue, when we have found a musical theme, expression is born and is complete, nothing more is needed. What we then do is to say aloud what we have already said within, sing aloud what we have already sung within".[१]

क्रोचे का यह मत समीचीन नही। क्रोचे के अनुसार आन्तरिक अनुभूति ही कला अथवा काव्य के लिए पर्याप्त है। परन्तु हमारे विचार से उसका शब्दादि बाह्य रूप में अभिव्यक्त होना अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए आवश्यक है। आन्तरिक अनुभूति कवि की व्यक्तिगत वस्तु है। अतः वह सहृदयों के आस्वादन का विषय नहीं बन सकती। काव्य के लिए आवश्यक है कि वह कवि की व्यक्तिगत चेतना तक सीमित न रहे अपितु सहृदयों के आस्वादन का विषय बने। अतः आन्तरिक अनुभूति के लिए बाह्य अभिव्यक्ति का रूप धारण करना आवश्यक है। दूसरे अनुभूति उत्पन्न होते ही स्वतः अभिव्यक्ति का रूप धारण नहीं कर लेती। इसके लिए कवि को शब्दादि जुटाने की क्रिया का आश्रय लेना पड़ता है। अतः इन दोनों में कुछ अन्तर मानना आवश्यक है।

अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का अन्तर दोनों के स्वरूपभेद पर आश्रित है। अभिव्यक्ति का स्वरूप भाषा होता है तथा अनुभूति का स्वरूप भाव अथवा भावों की तीव्रता। भाषा के दो अंश किए जा सकते हैं—उसका उच्चारणांश तथा विचारांश अथवा भावांश। पूर्व अंश श्रोत्रगम्य होता है तथा द्वितीय अंश बुद्धिगम्य अथवा हृदयगम्य। जहां तक भाषा के इस श्रोत्रगम्य अंश का सम्बन्ध है भावों से इसकी पृथक्ता स्पष्ट है। अनुभूति

१· साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ४५२ fn.

के समय इस अंश की उपस्थिति नहीं होती। हां इतना अवश्य है कि इस अंश का भावों से साम्य होता है। भाषा में उच्चारण की कठोरता तथा कोमलता भावों की कठोरता तथा कोमलता को लक्ष्य करके होती है (इसका निरूपण रस-प्रकरण में किया जाएगा)। भाषा के द्वितीय अंश का भी अनुभूति के समय उपस्थित भावों से आंशिक अन्तर है। भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति के समय प्रत्येक भाव भाषा का रूप ग्रहण कर चुका होता है। परन्तु अनुभूति के समय प्रत्येक भाव के साथ ऐसी बात नहीं होती। उस समय कवि के सम्मुख अनेक ऐसे भाव होते हैं जो भाषा के रूप में उसके सम्मुख उपस्थित न होकर केवल भावरूप में उपस्थित होते हैं और फलतः उसके लिए उन्हें भाषा का रूप देना अवशिष्ट होता है

यदि प्रश्न भावों का न होकर विचारों का हो तब तो हम कह सकते हैं कि विचारों की उपस्थिति प्रायः भाषा के रूप में होती है। परन्तु भावों के साथ ऐसी बात नहीं। इसका कारण विचारों तथा भावों का स्वरूप-भेद है। विचार शान्त चेतना के परिणाम हैं, परन्तु भाव उद्वेलित चेतना के परिणाम हैं। निश्चल चेतना जब कोई परिणाम धारण करती है तब ज्ञान की द्योतक भाषा भी प्रायः उपस्थित हो जाती है। परन्तु इस ज्ञान के फलस्वरूप जब भावना जागृत होती है तब वह भाषा के रूप में नहीं होती। उदाहरणतः कवि जब किसी के प्रसन्न मुख को देखता है और उसे मुख की प्रसन्नता का ज्ञान होता है तब इस ज्ञान के साथ साथ इस ज्ञान की द्योतक भाषा का ज्ञान भी चलता रहता है। कवि जब मुख की आकृति देखता है और उसमें प्रसन्नता के भाव का दर्शन करता है तब उसे यह ज्ञात होता है कि मेरे सम्मुख जो यह आकृति विद्यमान है उसका नाम मुख है तथा इस आकृति में जो भाव विद्यमान है उसे प्रसन्नता कहते हैं। परन्तु मुख की प्रसन्नता के दर्शन के फलस्वरूप कवि को जो अनुभूति होती है उसकी उपस्थिति भाषा के रूप में नहीं होती। इस अनुभूति में ज्ञानांश के साथ उसकी तीव्रता का अंश भी मिला रहता है। यह तीव्रतांश भाषा के रूप में उपस्थित नहीं होता। अतः उसे भाषा के रूप में व्यक्त करना अवशिष्ट रहता है। इसी की पूर्ति के लिए कवि कहता है कि इसका मुख पुष्प के समान विकसित है। इसी प्रकार कवि जब भुजाओं में कठोरता, विशालता आदि धर्मों को देखता है तब उसके

हृदय में तदनुरूप भावना जागृत होती है। इस भावना में कठोरता, विशालता आदि धर्मों के ज्ञान के साथ इन धर्मों के अतिशय का ज्ञान भी मिला रहता है और यह ज्ञान सीधे अतिशयज्ञान के रूप में न होकर भावों के वेग के रूप में होता है। इसी की अभिव्यक्ति के लिए कवि कहता है कि ये भुजाएं वज्र के समान कठोर हैं, अर्गला के समान विशाल हैं इत्यादि। इस प्रकार अभिव्यक्ति में प्रस्तुत विधान के अतिरिक्त अप्रस्तुत विधान भी रहता है। यह अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत की सफल अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। इस अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत उपर्युक्त उदाहरणों में पुष्प, वज्र तथा अर्गला आदि के चित्र हैं। अप्रस्तुत विधान अलंकार-विधान के अन्तर्गत आता है। अभिव्यक्ति के लिए इस अलंकार-विधान के अतिरिक्त शब्द की लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियों का भी प्रयोग होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में अन्तर है। परन्तु इस अन्तर के होते हुए भी इतना निश्चित है कि अभिव्यक्ति को अनुभूति से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। अनुभूति अभिव्यक्ति के मूल में रहती है तथा इस अभिव्यक्ति के साथ साथ चलती रहती है। इस प्रकार इन दोनों तत्त्वों को हम एक ही अनुभूति की दो स्थितियां कह सकते हैं जिनमें एक अमूर्त है तथा दूसरी मूर्त है। वह अनुभूति जो पहले अमूर्त होती है अभिव्यक्ति की अवस्था मे मूर्त होकर भाषा का रूप धारण करती है।

व्यवहार से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जब हमारे हृदय में भाव-सरणि प्रवाहित होती है तो हम उसे तदनुरूप भाषा द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। जब तक तदनुरूप भाषा हमें मिलती रहती है हमारी लेखनी अबाध गति से चलती रहती है और हमें एक आनन्द का अनुभव होता रहता है। परन्तु जब भावों के अनुरूप भाषा नहीं मिलती तब हमारी लेखनी की गति रुक जाती है और वह तभी आगे सरकती है जब भावों के अनुरूप भाषा मिल जाए।

अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में घनिष्ठता अवश्य है परन्तु दोनों में से हम किसी एक का लोप नहीं कर सकते। यही कारण है कि भारतीय आलंकारिकों ने अपनी काव्य की परिभाषा में प्रायः शब्द तथा अर्थ दोनों

का सन्निवेश किया है। भामह की काव्य की परिभाषा "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" [1] से यह स्पष्ट है।

काव्य का साहित्य नाम इसी तथ्य का परिचायक है। साहित्य का अर्थ है 'सहितयोर्भावः'। इसमें शब्द तथा अर्थ दोनों की सत्ता आवश्यक है। यह ठीक है कि प्राचीन काल में साहित्य के लिए काव्य शब्द का ही प्रयोग होता था और साहित्यशास्त्र के लिए अलंकारशास्त्र का प्रयोग होता था, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन लोगों को उपर्युक्त सिद्धान्त का ज्ञान न हो। भामह आदि की काव्य की परिभाषाएं जहां इस सिद्धान्त की द्योतक हैं वहां कालिदास का निम्नलिखित श्लोक इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन करता है:—

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।"—रघुवंश १।१

कवि को दो वस्तुओं की आवश्यकता है—दर्शन की तथा वर्णन की। केवल दर्शन से व्यक्ति दार्शनिक होता है। कवि के लिए आवश्यक है कि दर्शन के अनुरूप वर्णन भी हो। कवि की अनुभूति जब तदनुरूप भाषा द्वारा अभिव्यक्त होती है तभी उसकी कवि संज्ञा होती है। कवि के लिए दृष्टि तथा सृष्टि का मञ्जुल सामञ्जस्य अपेक्षित है—

'दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविविश्रुतिः।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥'

इत्यादि उपर्युक्त श्लोक इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं।

—साहित्यशास्त्र प्र० ख० पृ० २९७, २९८

१. भामहालंकार—१।१६

सहृदय को लक्ष्य करके काव्य के स्वरूप तथा उसमें सादृश्य का विवेचन

अब तक काव्य में साम्य का जो विवेचन हुआ है वह कवि को लक्ष्य करके निर्धारित किए हुए काव्य के स्वरूप को सामने रखकर हुआ है। संस्कृत साहित्यशास्त्र मे काव्य के स्वरूप का विवेचन सहृदय को लक्ष्य करके हुआ है। अतः अब हमें इसी दृष्टिकोण से काव्य के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन करके उनमें साम्य सिद्ध करना है। सर्वप्रथम हम काव्य के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन करते हैं

काव्य के पठन से सहृदय को विविध अनुभूतियां होती हैं। इन अनुभूतियों तक वह भाषा के माध्यम से पहुँचता है। भाषा के माध्यम से अनुभूतियों तक पहुँचने को हम अनुभूति तक पहुँचने की प्रक्रिया अथवा व्यापार कह सकते हैं। काव्य के स्वरूप-ज्ञान के लिए अनुभूति के स्वरूप-ज्ञान से पूर्व अनुभूति तक पहुँचने के इस व्यापार का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि यह व्यापार अनुभूति तक पहुँचने का साधन ही नहीं अपितु अनुभूति के स्वरूप का निश्चय भी करता है। अनुभूति तक पहुँचने का यह व्यापार शब्द-शक्ति के माध्यम से होता है।

शब्द-शक्तियां तीन प्रकार की मानी गई हैं—साक्षात् अर्थद्योतन की प्रक्रिया, साक्षात् अर्थ को गौण बनाकर अन्य अर्थ ध्वनित करने की प्रक्रिया तथा साक्षात् अर्थ को बाधित करके अन्य अर्थ लक्षित करने की प्रक्रिया। इनके नाम क्रमशः, अभिधा, व्यञ्जना तथा लक्षणा हैं।

काव्य के स्वरूप-विवेचन के लिए हम सर्वप्रथम अभिधा व्यापार को लेते हैं। काव्य में प्रयुक्त अभिधा व्यापार के लिए आवश्यक है कि उसमें वक्रता हो। लोक-व्यवहार में दृष्टिगोचर सीधा अभिधा व्यापार वहां अपेक्षित नहीं। इसका कारण यह है कि काव्य में चारुता का होना आवश्यक है। यह चारुता लोक में प्रयुक्त सीधे व्यापार से नहीं अपितु वक्रतायुक्त अभिधा व्यापार से ही सम्भव है। इसीलिए कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहा है। काव्य में प्रयुक्त विभिन्न अलङ्कार इसी वक्रतायुक्त अभिधा व्यापार के परिणाम हैं। इन अलङ्कारों को हम काव्य

का स्वरूप कह सकते हैं। अलङ्कार-सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

व्यञ्जना व्यापार चारुता का प्रमुख कारण है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तथा उसका सौन्दर्य इसी व्यापार के कारण है। इस प्रतीयमान अर्थ को ध्वनिकार ने वाच्यार्थ से पृथक् बताकर महाकवियों की वाणी का उत्कृष्ट तत्त्व कहा है तथा इसकी तुलना स्त्री के लावण्य से की है जो उसके प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न वस्तु है:—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनामु॥

ध्वन्यालोक १।४

प्रतीयमान अर्थ की चारुता का रहस्य व्यञ्जना व्यापार में निहित है। तथ्य यह है कि जो बात सीधे और स्पष्ट रूप से कह दी जाती है उसमें कोई चमत्कार नहीं होता। परन्तु जो बात छिपाकर कही जाती है वह चमत्कारोत्पादक होती है। इसीलिए कहा गया है कि 'गूढ सत् चमत्करोति।' व्यञ्जना व्यापार में यही होता है। अतः यह काव्य की आत्मा माना गया है। ध्वनि सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है। व्यञ्जना व्यापार शब्द के अर्थांश को लक्ष्य करके ही प्रवृत्त नहीं होता अपितु उसके उच्चारणांश को लक्ष्य करके भी प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति में शब्द अथवा वाक्य के वर्णों से ध्वनि निकलती है। यदि वर्ण कोमल होते हैं तो कोमल भाव और यदि वर्ण कठोर हों तो कठोर भाव ध्वनित होता है। इसे आलङ्कारिकों ने वर्ण-ध्वनि कहा है (इसका निरूपण रस एवं अनुप्रास प्रकरण में किया जायगा)। रीतिसम्प्रदाय के शब्द-गुणों का अन्तर्भाव इसी वर्ण-ध्वनि में किया जा सकता है।

लक्षणा में रूढि तथा प्रयोजन इन दो हेतुओं में से किसी हेतु का होना आवश्यक माना गया है। इसीलिए कहा गया है।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्,
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।

—काव्यप्रकाश २।१२

इन दो हेतुओं के अनुसार लक्षणा के दो भेद होते हैं—रूढ़ि एवं प्रयोजनवती। जहां तक काव्य के स्वरूप का सम्बन्ध है लक्षणा का प्रथम भेद रूढ़ि विचारणीय नहीं। इसका कारण यह है कि काव्य के लिए चारुता की सत्ता आवश्यक है। परन्तु रूढ़ि लक्षणा में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं होता। उदाहरणतः हम रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' को लेते हैं। इसमें किसी प्रकार का चमत्कार नहीं। अतः यह काव्य का स्वरूप नहीं हो सकता।

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की सत्ता आवश्यक है। चारुता की प्रतीति इसी प्रयोजन के कारण होती है। उदाहरणतः हम प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' को लेते हैं। यहां प्रयोजन के रूप में पावनत्वादिधर्म विद्यमान हैं। इनसे घोष में पवित्रता का बोध होता है। चमत्कार की सत्ता इसी पवित्रता के बोध में है। इस पवित्रता का ज्ञान व्यञ्जना व्यापार से होता है। इसीलिए कहा गया है कि 'प्रयोजनं हि व्यञ्जनाव्यापारगम्यम्'।[1] इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरणों में व्यञ्जना व्यापार की भी सत्ता रहती है और चमत्कार-प्रतीति इसी व्यञ्जना-व्यापार के कारण होती है। अतः काव्यस्वरूप की दृष्टि से प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण व्यञ्जना के उदाहरणों के अन्तर्गत किए जा सकते हैं। हम इन उदाहरणों को लक्षणामूला व्यञ्जना के उदाहरण कह सकते हैं। इसी व्यञ्जना को लक्ष्य करके ध्वनिकाव्य के भेदों में अविवक्षितवाच्यध्वनि नामक भेद माना गया है। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के आधार पर काव्य का पृथक् स्वरूप मानने की आवश्यकता नहीं।

भाषा के माध्यम से सहृदय जिस अनुभूति तक पहुंचता है वह प्रधानतः दो प्रकार की होती है—भावविषयक तथा अन्यवस्तुविषयक। प्रथम में अनुभूति का विषय भाव होता है तथा द्वितीय में भाव के अतिरिक्त अन्य वस्तु। अनुभूति का यह विभाजन उसके विषय के आधार पर किया गया है उसके स्वरूप के आधार पर नहीं। स्वरूप की दृष्टि से तो समस्त अनुभूति भावनारूप ही होती है। उदाहरणतः जब हम भुजाओं में विशालता धर्म को देखते हैं और उसके फलस्वरूप हमें विशालता की अनुभूति होती है तब वह अनुभूति एक बाह्य धर्म के तटस्थ ज्ञान के रूप में न होकर भावना-

१- काव्यप्रकाश पृष्ठ ५५।

रूप में होती है। विशालता धर्म का ज्ञान हमारे हृदय को स्पन्दित करके उसमें गति उत्पन्न कर देता है और फलतः यह ज्ञान शुष्क ज्ञान न रहकर भावना में परिवर्तित हो जाता है। इतना होते हुए भी इस प्रकार की भावना का विषय बाह्य ही होता है। अतः हृदय का उसके साथ अधिक निकट सम्बन्ध नहीं होता। भावानुभूति में इसके विपरीत अनुभूति का विषय चित्त ही की कोई वृत्ति होती है। ये वृत्तियां रति, हास, शोक आदि हैं। इनका सद्भाव अनुभूति करने वाले के चित्त में होता है। यद्यपि काव्य में इनका वर्णन पात्रादि के सम्बन्ध में होता है तथापि यह निश्चित है कि ये वृत्तियां मनुष्यमात्र की सामान्य वृत्तियां होने के नाते पाठक के हृदय में भी स्थित रहती हैं। अतः पाठक को अपने ही हृदय में सामान्य रूप से स्थित इन भावों की अनुभूति होती है। साहित्यशास्त्र में इसे रस कहा गया है। यह रस काव्य का प्रसिद्ध स्वरूप है। रस सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

रस का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। भावों से सम्बन्धित समस्त वर्णन रस के अन्तर्गत आता है। भावों के प्रसंग में किया हुआ अन्य वस्तुओं का वर्णन भी एक प्रकार से भावों का ही वर्णन है। अतः वह समस्त रस के अन्तर्गत आता है। काव्य में रसानुभूति अथवा भावानुभूति सदा व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है। इसका कारण यह है कि रस वाच्य न होकर सदा व्यंग्य होता है। यदि रस वाच्य हो तो रसादि शब्दों के प्रयोग से उसकी अनुभूति सम्भव होनी चाहिए। परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। इसके विपरीत रसादि के वाचक शब्दों के अप्रयोग की दशा में भी विभावादि के प्रतिपादन से रस की अभिव्यक्ति होती है। इससे यही निश्चय होता है कि रस व्यंग्य है।[1] इसीलिए साहित्यशास्त्रियों ने रस को रसध्वनि कहा है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि यदि रस की अभिव्यक्ति व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है तो रस को व्यञ्जना के अतिरिक्त काव्य का स्वरूप

१. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादि-शब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधान-द्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनासौ व्यंग्य एव। —काव्यप्रकाश पृष्ठ २१७।

मानने की क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर यह है कि रसदशा में व्यञ्जना व्यापार होता तो अवश्य है, परन्तु इसका क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि वह सहृदय को लक्षित नहीं होता। सहृदय को ऐसा प्रतीत होता है मानों उसे वाच्यार्थ के ज्ञान के साथ ही रसानुभूति हो रही है । इसका कारण यह नहीं कि व्यञ्जना व्यापार के क्रम का वहां पर अभाव है, अपितु उस व्यापार का लक्षित न होना ही इसका कारण है। इसी बात को लक्ष्य करके आलंकारिकों ने रस को अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि कहा है । इस समस्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि रस दशा में व्यञ्जना व्यापार की जो सिद्धि हुई है वह केवल विवेचक की विश्लेषण-बुद्धि के आधार पर हुई है। जहां तक सहृदय का सम्बन्ध है उसे इस प्रकार के व्यापार की प्रतीति नही होती अपितु केवल रस की प्रतीति होती है। इसलिए रस को व्यञ्जना के अतिरिक्त काव्य का स्वरूप मानना समीचीन है।

रसानुभूति में सहृदय को व्यञ्जना की तो प्रतीति नहीं होती, परन्तु एक अन्य तत्त्व की प्रतीति होती रहती है। यह तत्त्व औचित्य है। रसानुभूति के लिए आस्वादन की समरसता आवश्यक है और इस समरसता के लिए औचित्य का निर्वाह आवश्यक है। जैसे जैसे औचित्य का निर्वाह होता रहता है सहृदय को इसकी प्रतीति होती रहती है और इसके फलस्वरूप उसे रसानुभूति होती रहती है । जैसे ही उस औचित्य के निर्वाह में कोई बाधा आती है वह तुरन्त सहृदय का ध्यान रस से अन्यत्र आकृष्ट करती है और फलतः रसभंग हो जाता है। इसीलिए ध्वनि-कार ने कहा है:—

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥" ध्वन्यालोक पृ० ३३०

इससे यह स्पष्ट है कि औचित्य रस के लिए अपेक्षित है। अतः यह भी काव्य का एक स्वरूप है। औचित्य सम्प्रदाय का निर्माण काव्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके हुआ है।

काव्य में जहां सहृदय को भाव के अतिरिक्त अन्य वस्तु की अनुभूति होती है वहां व्यञ्जना अथवा अभिधा में से कोई एक व्यापार कार्य करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वहां व्यञ्जना अथवा अलंकारों

मे से किसी एक की सत्ता होती है। यह सत्ता केवल विवेचक की दृष्टि से ही नहीं होती अपितु सहृदय की दृष्टि से भी होती है। सहृदय को वहां व्यञ्जना अथवा अलंकार के चमत्कार की प्रतीति होती रहती है। और यह प्रतीति उसकी अनुभूति का आवश्यक अंग होती है। अतः ऐसे स्थल व्यञ्जना अथवा अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके लिए काव्य का पृथक् स्वरूप मानने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार औचित्य, रस, ध्वनि और अलंकार ये काव्य के विभिन्न स्वरूप हुए। हमें इनमें से एक एक को लेकर यह देखना है कि उनमे साम्य कहां तक स्थित है।

"औचित्य तथा सादृश्य"

औचित्य की परिभाषा क्षेमेन्द्र ने निम्न प्रकार से की है—

"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।"

—औचित्यविचारचर्चा पृ० २ कारिका ७

यहां सदृश से तात्पर्य अनुकूल से है। अतः अनुकूलता को औचित्य कहा जा सकता है। अनुकूलता किसी वस्तु की अन्य वस्तु के प्रति होती है। इस प्रकार अनुकूलता में दो वस्तुएं होती हैं—एक वह जो अनुकूल होती है तथा अन्य वह जिसके प्रति प्रथम वस्तु अनुकूल होती है। उदाहरणतः केयूर तथा हाथ इन दो वस्तुओं को लें। इनमें केयूर को हाथ में धारण करना हाथ के अनुकूल है। यदि केयूर को हाथ में धारण न करके पैर में धारण किया जाता है तो वह पैर के अनुकूल न होकर प्रतिकूल होगा। अतः ऐसा आचरण हास्य का जनक होगा। क्षेमेन्द्र की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

'कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम् ॥'

—औचित्यविचारचर्चा पृ० १, २

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि केयूर को धारण करना हाथ के लिए अनुकूल क्यों है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि इसके दो हेतु हैं। प्रथम है हाथ तथा केयूर में सादृश्य तथा द्वितीय है लोक-व्यवहार।

हाथ तथा केयूर में एक धर्म साधारण है। वह है गोलाई की समानता। हाथ में केयूर का विन्यास दोनों की इसी समान गोलाई के कारण किया जाता है। यदि केयूर तथा हाथ की गोलाई में यह समानता न होती तो प्रथम का द्वितीय में विन्यास उचित न होता। उदाहरणतः केयूर तथा

पैर की गोलाई में समानता नहीं होती। अतः प्रथम का द्वितीय में विन्यास औचित्य का जनक न होकर अनौचित्य का जनक होता है।

द्वितीय हेतु है लोक-व्यवहार। हम लोक में सदा केयूर का विन्यास हाथ में ही देखते हैं। अतः इस प्रकार का आचरण हमें उचित प्रतीत होता है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि औचित्य की लोकव्यवहारमूलकता भी एक प्रकार से सादृश्यमूलकता में पर्यवसित होती है। लोक में वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धविशेष को निरन्तर देखने से हमारे मस्तिष्क में उन वस्तुओं के उस सम्बन्ध का एक चित्र अंकित हो जाता है। अतः हम जब उन वस्तुओं को पुनः प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं तब उन्हें उसी पूर्व रूप में सम्बद्ध देखना चाहते हैं। इस प्रकार हमारी यह इच्छा होती है कि प्रत्यक्ष चित्र तथा पूर्व अंकित चित्र में साम्य हो। उदाहरणतः हाथ तथा केयूर के सम्बन्ध को हम लोक में नित्यप्रति देखते हैं। इससे ऐसा ही चित्र हमारे मस्तिष्क में अंकित हो जाता है। अतः हम जब इन्हें पुनः लोक में देखते हैं तो इस अंकित चित्र के समान ही देखना चाहते हैं। इस अंकित चित्र के समान प्रत्यक्ष चित्र को देखकर एक प्रकार से हमारी अज्ञात इच्छा पूर्ण होती है। इससे प्रत्यक्ष चित्र हमें उचित प्रतीत होता है तथा हमें एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है।

औचित्य के द्वितीय हेतु लोक-व्यवहार का पर्यवसान ही सादृश्य में नहीं होता अपितु उसकी प्रवृत्ति भी सादृश्य को ध्यान में रखकर होती है। लोक में हाथ तथा केयूर का सम्बन्ध स्वतः अथवा स्वेच्छा से ही स्थापित नहीं हो जाता, परन्तु उनकी पारस्परिक समानता ही उनके इस सम्बन्धस्थापन का कारण है। इस सम्बन्धस्थापन से इन वस्तुओं का इस रूप में सम्बद्ध चित्र हमारे मस्तिष्क में अंकित होता है तथा इस चित्र से साम्य का निर्वाह प्रस्तुत चित्र के औचित्य का हेतु है। इस प्रकार हाथ तथा केयूर के प्रस्तुत चित्र का औचित्य जिस पूर्व-अंकित चित्र के साम्य पर आश्रित है वह पूर्व:चित्र स्वयं साम्य पर आश्रित है। अतः हाथ तथा केयूर के औचित्य का हेतु लोक-व्यवहार स्वयं सादृश्य पर आश्रित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हाथ तथा केयूर के औचित्य का हेतु हम चाहे हाथ तथा केयूर के सादृश्य को मानें चाहे लोक-व्यवहार को यह निश्चित है कि प्रत्येक दशा में इस औचित्य के मूल में सादृश्य स्थित है। वस्तुस्थिति यह है कि विश्लेषण की दृष्टि से तो प्रत्येक दशा में इन दोनों वस्तुओं के औचित्य के मूल में सादृश्य स्थित है, परन्तु जहां तक दर्शक का सम्बन्ध है उसे इस औचित्य के मूल में सादृश्य पर आश्रित लोक-व्यवहार की पृथक् रूप से भी प्रतीति होती है। आरम्भ में दर्शक को इन दोनों वस्तुओं के औचित्य के मूल में केवल सादृश्य की प्रतीति होती है परन्तु इस सादृश्य के फलस्वरूप दोनों वस्तुओं को अनेक बार इस रूप में सम्बद्ध देखने के बाद जब वह इनको पुनः इसी रूप में सम्बन्धित देखता है तब उसे उनके औचित्य के मूल में उनका इस रूप में पूर्व भूयोदर्शन भी हेतु के रूप में प्रतीत होने लगता है। प्रस्तुत रूप का पूर्व भूयोदर्शन ही वस्तुतः लोकव्यवहार है।

काव्य के औचित्य के मूल में भी सादृश्य तथा लोकव्यवहार ये दो हेतु विद्यमान हैं। काव्य से सम्बन्धित सादृश्य का अर्थ है काव्य के किसी अंश का अन्य अंश अथवा अंशों से साम्य। यह साम्य काव्य के लिए परम आवश्यक है। काव्य के आत्मभूत रस की निष्पत्ति इसी साम्य के निर्वाह पर आश्रित है। काव्य में औचित्य का निरूपण रस को लक्ष्य करके किया गया है। अतः काव्यगत औचित्य के लिए यह आवश्यक है कि काव्य के समस्त अंग प्रस्तुत रस से सम्बद्ध हों। प्रस्तुत रस से सम्बन्धित होने के कारण काव्य के समस्त अङ्गों में रस-दृष्टि से साम्य होना स्वाभाविक है।

औचित्य का दूसरा हेतु है लोक-व्यवहार। भरतमुनि ने इस लोक-व्यवहार को काव्यगत औचित्य का आधार माना है। उनकी निम्नलिखित उक्तियां इसकी समर्थक हैं:—

"एवं लोकस्य या वार्ता नानावस्थान्तरात्मिका।
सा नाट्ये संविधातव्या नाट्यवेदविचक्षणैः॥" १२६

"यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्॥" १२७

—नाट्यशास्त्र २५। १२६, १२७।

हाथ तथा केयूर के औचित्यसम्बन्धी पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि इस लोक-व्यवहार का पर्यवसान भी सादृश्य में होता है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वान् काव्यगत औचित्य के प्रथम हेतु सादृश्य को तो स्वीकार करते हैं परन्तु इसके द्वितीय हेतु लोकव्यवहार को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह लोक-व्यवहार से साम्य का निर्वाह करे। ये विद्वान् काव्य के लिए केवल एक साम्य का निर्वाह आवश्यक समझते हैं और वह है उसका आन्तरिक साम्य अथवा औचित्य। इसे वे Internal consistency कहते हैं। इसके अतिरिक्त उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि यथार्थ जगत् से भी उसका साम्य हो। ये विद्वान् काव्य के सृजनात्मक सिद्धान्त (Creative theory) को मानने वाले हैं। इनके अनुसार काव्य का उद्देश्य जगत् का यथार्थ चित्र न खींच कर कल्पना के आधार पर उसका नव निर्माण करना होता है। अतः लोकव्यवहार से साम्य का निर्वाह उसके लिए अपेक्षित नहीं।

इन विद्वानों का उपर्युक्त सिद्धान्त वस्तुतः लोकव्यवहार से साम्य के निर्वाहसम्बन्धी सिद्धान्त पर विशेष प्रभाव नहीं डालता। लोक-व्यवहार के हम प्रधानतः दो भेद कर सकते हैं-भावरूप तथा आचरण-रूप अथवा घटनारूप। भाव-रूप लोक-व्यवहार सब मनुष्यों तथा सब कालों में समान रूप से देखने को मिलता है। देश तथा काल की सीमाएं इस पर प्रभाव नहीं डालतीं। रति, हास, शोक आदि जो सामान्य भाव आदिम युग में विद्यमान थे वे अब भी उसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अतः काव्य में इनका इसी रूप में वर्णन सम्भव है। इनमें वहां किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। हमारे काव्य में तो भावों के इस निर्वाह की ओर और भी विशेष ध्यान दिया गया है। इसका कारण यह है कि हमारे काव्यों का उद्देश्य प्रधानतः रसनिष्पत्ति रहा है जो भावादि के सार्वकालिक रूप के चित्रण पर आश्रित है। रसपरिपूर्ण काव्यों में Internal consistency भी भावादि के इस सम्यक् निर्वाह के फलस्वरूप ही आती है।

लोक-व्यवहार का दूसरा रूप है आचरण, घटनाएं आदि। आचरण, घटनाओं आदि का सम्बन्ध पात्रों से होता है। आचरण तो पात्रों के होते ही हैं, घटनाओं में से भी अनेक घटनाएं आचरण के अन्तर्गत चली

जाती हैं। यह आचरण देश-विशेष तथा काल-विशेष में किया जाता है। इस देश-विशेष तथा काल-विशेष में पात्र इस प्रकार का आचरण करके भावों को प्रकाशित करते हैं। काव्य में वर्णित इस आचरण के लिए लोक-व्यवहार का ध्यान रखना आवश्यक है। इस आचरण के औचित्य का निर्णय पात्रों के स्वरूप तथा देशकालादि की परिस्थितियों को देखकर किया जाता है। पात्रों के स्वरूप पर आश्रित आचरण के औचित्य को संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों ने प्रकृत्यौचित्य कहा है तथा भावौचित्य के प्रसङ्ग में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उदाहरण के लिए क्रोध मनुष्यों का एक सामान्य भाव है, परन्तु पात्रों के भेद से इस भाव को प्रकाशित करने वाले आचरण में भेद सम्भव है। पात्र दिव्य, अदिव्य, तथा दिव्यादिव्य आदि अनेक प्रकार के माने गए हैं। एक दिव्य पात्र क्रोध का प्रकाशन जिस आचरण के द्वारा करेगा वह आचरण साधारण पात्र मे सम्भव नहीं। शिव एक दिव्य पात्र हैं। वे क्रोध का प्रकाशन बिना किसी भ्रूकुटि आदि विकार के कर सकते हैं। परन्तु एक साधारण पात्र ऐसा नहीं कर सकता। अतः क्रोधप्रकाशक आचरण का वर्णन करते समय पात्रों के इस स्वरूप को ध्यान में रखना आवश्यक है।[1]

यदि लोक में दृष्टिगोचर इस आचरण की काव्य में वर्णित आचरण के समय उपेक्षा की जाती है तो अनौचित्य का जन्म होगा और हमें काव्य में वर्णित आचरण असत्य प्रतीत होगा। काव्य के आस्वादन के लिए यह आवश्यक है कि उसके वर्णनों में हमें पूर्ण विश्वास हो। काव्य के सृजनात्मक सिद्धान्त को मानने वाले कहते हैं कि काव्य में विश्वासोत्पादन (Make believe) की क्षमता होती है। इसके फलस्वरूप हम काव्य के वर्णन-सम्बन्धी समस्त अविश्वासों का परित्याग (Suspension of disbelief) कर देते हैं। इन विद्वानों का यह मत कुछ ही अंशों में सत्य है। यह ठीक है कि काव्य में विश्वासोत्पादन की शक्ति होती है। परन्तु इसकी एक सीमा होती है। इस सीमा का उल्लंघन करने पर हमें काव्य के वर्णन में

१. प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च·········इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादि-विकारवर्जितः क्रोधः सद्यःफलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लंघनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव। अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्।

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ४४१-४४४।

अविश्वास हो जाता है। काव्य उसी घटना अथवा आचरण में हमारा विश्वास उत्पन्न कर सकता है जो लौकिक दृष्टि से सम्भव है। जो आचरण लोक में सम्भव नहीं अथवा जो लोकानुभव द्वारा बाधित है उसे हम सत्य मानने के लिए कदापि तैयार नहीं हो सकते। यदि काव्य इस लोकानुभव की उपेक्षा करके आश्चर्य एवं अतिशयोक्तिपूर्ण अविश्वसनीय घटनाओं एवं आचरणों का वर्णन करता है तो उससे हमारी कुतूहल-वृत्ति भले ही जागृत हो हमारे हृदय को वह प्रभावित नही कर सकता और फलतः इस दशा में रस-निष्पत्ति सम्भव नहीं।

उपर्युक्त आचरण एवं घटनाओं का वर्णन जिस देश तथा काल की सीमाओं में किया जाता है उस देश तथा काल की परिस्थितियों का ध्यान रखना भी आवश्यक है। काव्य को पढ़ते समय सहृदय को यह ज्ञात होता है कि जो घटनाएं उसके सामने काव्य में घट रही हैं वे अमुक देश तथा अमुक काल में घट रही हैं। अतः उस देश एवं काल की परिस्थितियों से साम्य का निर्वाह उस काव्य के लिए अपेक्षित है।

देशविशेष तथा कालविशेष की परिस्थितियों से साम्य के निर्वाह का यह अर्थ नहीं कि कवि उस देश तथा काल में घटी हुई घटनाओं का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन करे। परन्तु इससे केवल इतना अभिप्राय है कि कवि जिस समय की घटनाओं का वर्णन करे उनका तत्कालीन परिस्थितियों में घटित होना सम्भव होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि वे घटनाएं उस काल में वस्तुतः घटित ही हुई हों।

कवि द्वारा अपनाई हुई वस्तु चाहे ऐतिहासिक हो चाहे काल्पनिक कवि उसका वर्णन करते समय इतिहासकार का रूप कभी धारण नहीं करता। उत्प्रेक्ष्य वस्तु के वर्णन में तो कवि के लिए इतिहासकार बनने का प्रश्न ही नहीं उठता ऐतिहासिक वस्तु के वर्णन में भी कवि कवि के रूप में ही रहता है। वह ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग अवश्य करता है परन्तु वहीं तक जहां तक वे उसके प्रकृत उद्देश्य रस-निरूपण में सहायक होते हैं। जैसे ही कोई ऐतिहासिक घटना अथवा घटनांश प्रकृत रस का पोषक न होकर विरोधी प्रतीत होता है वह उसका परित्याग करने तथा अन्य रसानुकूल घटना के निर्माण में स्वतन्त्र है। इतना होते हुए भी कवि उस देश तथा काल की परिस्थितियों की उपेक्षा करके मनमाना आचरण नहीं कर सकता।

रस में साहश्य

रस की परिभाषा भरतमुनि ने इस प्रकार की है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" नाट्यशास्त्र ६ । ३३

इस परिभापा से यह स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के उचित संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। प्रत्येक रस के विभावादि भिन्न भिन्न होते हैं। अतः रसनिष्पत्ति के लिए आवश्यक है कि उन्हीं विभावादि का संयोग हो जो प्रस्तुत रस से सम्बद्ध हों। यदि इनमें से कतिपय विभावादिक प्रस्तुत रस से सम्बद्ध न होकर अन्य रस से सम्बद्ध होंगे तो उनका उस स्थान पर सन्निवेश अनौचित्य का जनक होगा और फलतः रसभंग होगा। यही कारण है कि औचित्य का निर्वाह रस के लिए परम आवश्यक माना गया है। आनन्दवर्धन आदि ने रसनिरूपण के समय विभावादिकों के औचित्य का विस्तृत वर्णन इसी बात को लक्ष्य करके किया है। आनन्दवर्धन की निम्नलिखित उक्ति रस के लिए औचित्य के महत्त्व की स्पष्ट द्योतक है—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥"

ध्वन्यालोक पृ० ३३०

रस में विद्यमान इस औचित्य का निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है। विवेचक की दृष्टि से तथा सहृदय की दृष्टि से। विवेचक की दृष्टि से रस में औचित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसे रस में सर्वत्र किसी न किसी रूप में औचित्य दिखाई देता है। परन्तु सहृदय के साथ ऐसी बात नहीं। उसके औचित्य का क्षेत्र सीमित है। वस्तुतः उसके लिए औचित्य वहीं है जहां उसे उसकी प्रतीति हो। यह आवश्यक नहीं कि उसे औचित्य उन सब स्थानों पर प्रतीत हो जहां विवेचक उसकी सत्ता सिद्ध कर सकता है। दूसरे सहृदय को जहां औचित्य की प्रतीति होती है वह भी केवल आरम्भिक होती है। उसकी सत्ता रस-प्रवाह में लीन हो जाती है और केवल रसानुभूति शेष रह जाती है।

हम पहले विवेचक की दृष्टि से इस औचित्य का निरूपण करते हैं। इस औचित्य के लिए दो तत्त्वों की आवश्यकता है—विभावादि का लोक-व्यवहार से सादृश्य तथा विभावादि में पारस्परिक सादृश्य। पहला तत्त्व इस प्रकार है:—

लोक मे किसी स्थायी भाव के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होते हैं वे ही उस स्थायी भाव से सम्बद्ध रस में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी बन जाते हैं। उदाहरणतः लोक में स्थायी भाव रति के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होंगे वे ही काव्य अथवा नाटक मे श्रृंगार रस के विभावादि बन जाएंगे। मम्मट की निम्नलिखित उक्ति इसकी समर्थक है:—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिण',
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥'

—काव्य प्रकाश सू० ४३

अतः विभावादि के औचित्य के लिए यह आवश्यक है कि लोक-व्यवहार से उनका साम्य हो।

लोक-व्यवहार से विभावादि के इस साम्य का निर्वाह करते समय यह भी आवश्यक है कि पात्रादि के भेद से लौकिक कारण, कार्य आदि में जो भेद उत्पन्न होता है उस भेद का भी ध्यान विभावादिकों में रखा जाए। लोक में पात्र दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य तथा उत्तम, मध्यम, अधम आदि अनेक प्रकार के होते हैं। पात्रों के इस भेद के अनुसार उनके व्यवहार में भी भेद होता है। अतः काव्य में विभावादिकों का निरूपण करते समय इस भेद का ध्यान रखकर उससे साम्य का निर्वाह भी आवश्यक है। आनन्दवर्धनादि ने प्रकृत्यौचित्य के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है।

अब औचित्य के दूसरे तत्त्व को लेते हैं। इसके अनुसार सब विभावादिकों में एक साम्य का होना आवश्यक है। प्रथम साम्य विभावा-दिकों तथा लोक-व्यवहार की समानता के रूप में था। परन्तु यह साम्य विभावादि में एक समान तत्त्व विद्यमान होने के कारण उन सबके सादृश्य

के रूप में होता है। विभावादि में से प्रत्येक का सम्बन्ध एक समान चित्तवृत्ति से होता है। यह चित्तवृत्ति उन सबके मूल में रहकर उनके सादृश्य का कारण होती है।

विभावादि के प्रतिपादन के लिए कवि को किसी कथासूत्र अथवा वस्तु का अवलम्बन करना पड़ता है। यह वस्तु प्रधानतः दो प्रकार की होती है—प्रसिद्ध तथा कविकल्पित। इन दोनों का अवलम्बन वह विभावादिकों में विद्यमान साम्य को लक्ष्य करके करता है। जहां वस्तु कविकल्पित होती है वहां तो उसका उस रूप में अवलम्बन स्पष्टतः इस साम्य को लक्ष्य करके होता ही है, प्रसिद्ध वस्तु के अवलम्बन की दशा में भी यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है। यह सम्भव है कि प्रसिद्ध वस्तु का कुछ अंश उपर्युक्त साम्य से मेल न खाए। ऐसी दशा मे कवि उस अंश का परित्याग करने तथा उसके स्थान पर नए अंश की उद्भावना करने में स्वतन्त्र है। आनन्द-वर्धन का यही मत है।[1]

रसाभिव्यक्ति के लिए विभावादि का प्रतिपादन प्रस्तुत-विधान के अन्तर्गत आता है क्योंकि इनका रस से सीधा सम्बन्ध होता है। इस प्रस्तुत-विधान के अतिरिक्त रस में अप्रस्तुत विधान भी रहता है। यह अप्रस्तुत विधान अलंकारादि के रूप में होता है। इसका उद्देश्य प्रस्तुत विधान अथवा विभावादि में चारुता लाना होता है। उदाहरणतः मुख यदि आलम्बन है तो उसका चन्द्र से सादृश्य उसमें चारुता का जनक है। इस अप्रस्तुत विधान के लिए भी यह आवश्यक है कि वह उसी चित्तवृत्ति का परिणाम हो जो चित्तवृत्ति प्रस्तुत विधान के मूल में है। जहां कवि इस चित्तवृत्ति से हटकर अन्य प्रयत्न को अपनाता है वहां उस प्रयत्न से उत्पन्न अलंकार असंगत हो जाता है और वह प्रस्तुत का उपकारक नहीं रहता। यही कारण है कि आलंकारिकों ने रस में उन्हीं अलंकारों का विधान उपयुक्त माना है जो अपृथक् यत्न से उत्पन्न हों।[2]

---

१. इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयो यथा कालिदास—प्रबन्धेषु। कविना सर्वात्मना रस-परतन्त्रेण भवितव्यम्। न कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित्प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः। ध्वन्यालोक पृ० २३५

२. "रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्यालोक २। १६

रस की निष्पत्ति के लिए जहां यह आवश्यक है कि समस्त भावों में साम्य हो वहां यह भी आवश्यक है कि भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त भाषा के उच्चारण मे भी साम्य हो। भाषा के उच्चारण तथा भाव का यह साम्य इन दोनों स्थितियों में विद्यमान स्नायुमण्डल की अवस्था की समानता के कारण होता है। भावानुभूति तथा उस अनुभूति को भाषा द्वारा अभिव्यक्त करने के समय स्नायुमण्डल की एक ही अवस्था रहती है। अतः इन दोनों मे सादृश्य होता है। भावानुभूति के समय चित्त की अवस्थाएं प्रधानतः दो प्रकार की होती है—द्रुत तथा दीप्त। इन अवस्थाओं में स्नायुमण्डल भी क्रमशः शिथिल तथा उत्तेजित हो जाता है। स्नायुमण्डल की शिथिलता की अवस्था में भाषण अवयव भी वैसे ही बन जाते हैं। इस स्थिति में जो भाषा निकलती है वह कोमल होती है। स्नायुमण्डल की उत्तेजना की अवस्था मे भाषण-अवयवों मे तनाव आ जाता है। इस स्थिति मे जो भाषा निकलती है वह कठोर होती है। इससे यह स्पष्ट है कि कोमल भाषा के उच्चारण तथा चित्त की द्रुत अवस्था के समय स्नायुमण्डल की एक जैसी अवस्था होती है तथा कठोर भाषा के उच्चारण तथा चित्त की दीप्तावस्था के समय भी स्नायुमण्डल की अवस्था एक जैसी होती है। अतः इस प्रकार की चित्तवृत्ति तथा इस प्रकार की भाषा मे सादृश्य होता है।

आलंकारिकों ने भाव तथा भाषा के इसी सादृश्य को लक्ष्य करके वर्णों का रसश्च्युतः तथा रसच्युतः[1] इन दो भागों में विभाजन किया है। जहां भाव तथा वर्णों में सादृश्य होता है वहां वर्ण रसश्च्युतः होते है तथा जहां इनमें सादृश्य नहीं होता वहां वर्ण रसच्युतः होते हैं।

अब हम विभावादिकों में औचित्यप्रतीति का निरूपण सहृदय की दृष्टि से करते हैं। सहृदय को इस औचित्य का ज्ञान इन विभावादिकों के लोकव्यवहार से साम्य के कारण होता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

---

१. "शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः श्रृंगारे तेन वर्णाः रसच्युतः॥
त एव तु निवेश्यन्ते वीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसश्च्युतः॥" ध्वन्यालोक २। ३। ४

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् १—२७

यहां अनुरागोत्पत्ति की अवस्था में विद्यमान शकुन्तला की अनुराग-सूचक चेष्टाओं का वर्णन है। उपर्युक्त अवस्था में विद्यमान स्त्री-सामान्य की चेष्टाओं का चित्र सहृदय के मन में पहले से अंकित रहता है। अत: जब वह इस अवस्था में विद्यमान शकुन्तला की उपर्युक्त चेष्टाओं का वर्णन पढ़ता है तो पूर्व अंकित चित्र के साथ पूर्ण समता के कारण प्रस्तुत वर्णन में उसे औचित्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार यह औचित्यप्रतीति साम्य-प्रतीति के कारण होती है।

ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त का पूरक माना जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के द्वारा आनन्द ने रस के किसी विरोधी सिद्धान्त की स्थापना नहीं की, परन्तु रस सिद्धान्त के दोषों को दूर करके उसे स्थिरता प्रदान की।[1] ध्वनिवादियों ने रस की सत्ता स्वीकार की तथा इसे ध्वनि का ही एक भेद माना। रस के अतिरिक्त इन्होंने ध्वनि के दो भेद और माने। ये वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि हैं।[2] ध्वनि के इन तीनों भेदों में इन्होंने प्रधानता रसध्वनि को ही दी। ध्वनि के जो दो अन्य भेद हैं उन्हें केवल गौण स्थान दिया तथा इनका पर्यवसान रसध्वनि मे ही माना। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इनके अनुसार रसध्वनि ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है। अभिनव तथा आनन्द का यही मत है।[3]

समस्त ध्वनियों का पर्यवसान रस में होने के कारण रस में विद्यमान सादृश्य का सद्भाव इन ध्वनियों मे मानना सर्वथा उचित है। अतः यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार रस में सादृश्य विद्यमान है उस प्रकार ध्वनि में भी वह विद्यमान है।

1. "By his theory of Dhvani he did not propound any rival doctrine to that of Rasa, but only placed it on a firmer basis by removing its defects".

—Theories of Rasa and Dhvani P. 78.

२. "संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः। व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि। किंचिद्वाच्यतां सहते किंचित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रं विचित्रं त्वलंकाररूपम्।"

—काव्य प्रकाश पृ० २१६

३. "तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ-इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।।"

"प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणम् प्राधान्यात्।"

—ध्वन्यालोक पृ० ८६, ६०

ध्वनि में सादृश्य की उपर्युक्त सिद्धि ध्वनि सिद्धान्त तथा रस सिद्धान्त के साम्य को लेकर की गई है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि ध्वनि में सादृश्य विद्यमान है।

ध्वनि में शब्द अथवा अर्थ से किसी अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। जहां यह अभिव्यक्ति शब्द से होती है वहां शब्द का वाच्यार्थ गौण हो जाता है तथा जहां यह अभिव्यक्ति अर्थ से होती है वहां वह अर्थ स्वयं गौण हो जाता है। ध्वनि की निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः"

—ध्वन्यालोक १—१३

व्यंग्यार्थ की इस व्यक्ति की प्रक्रिया में साम्य का भी स्थान है। यह अवश्य है कि प्रतिभा की निर्मलता के अभाव में व्यंग्यार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं, परन्तु जहां प्रतिभा की निर्मलता के द्वारा इस व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है वहां वह साम्य का भी आश्रय लेता है। व्यञ्जना के विभिन्न भेदों तथा उनके उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा।

व्यञ्जना के दो भेद किए गए हैं—शाब्दी व्यञ्जना तथा आर्थी व्यञ्जना। शाब्दी व्यञ्जना के पुनः दो भेद किए गए हैं। ये अभिधामूला व्यञ्जना तथा लक्षणामूला व्यञ्जना हैं।

लक्षणामूला व्यञ्जना में फलविशेष अथवा प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार के द्वारा होती है। उदाहरणतः 'गंगायां घोषः' में 'गंगातटे घोषः' लक्ष्यार्थ है तथा घोष में पावनत्वादिधर्म प्रयोजन के रूप में हैं। इन धर्मों का ज्ञान व्यञ्जना के द्वारा होता है।[1] अतः ये व्यंग्य हैं। इन धर्मों की प्रतीति पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इनकी यह प्रतीति गंगा तथा घोष के गुणों में आंशिक सादृश्यज्ञान का आश्रय अवश्य लेती है। गंगा पर स्थित होने के कारण घोष में गंगा के पावनत्वादि धर्मों का सद्भाव प्रतीत होता है। गंगा में पावनत्वादि धर्म अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अतः घोष में इन धर्मों का होना सर्वथा स्वाभाविक है।

---

१. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥ —काव्यप्रकाश सू० २३

अभिधामूला व्यञ्जना में अनेकार्थक शब्दों का वाचकत्व संयोगादि के द्वारा नियन्त्रित हो जाता है। परन्तु फिर भी अवाच्य अर्थ अथवा अर्थों की प्रतीति होती रहती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार का विषय है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्" ॥

काव्यप्रकाश पृष्ठ ६८

यहां प्रकरण के अनुसार वाच्यार्थ राजा से सम्बद्ध है परन्तु फिर भी हस्ती से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती रहती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार पर आश्रित है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यह प्रतीति शब्दों के द्व्यर्थक होने के फलस्वरूप होती है। शब्दों के दो अर्थों में से एक अर्थ जो वाच्य नहीं है वही यहां व्यञ्जना के द्वारा व्यक्त होता है। इस प्रकार व्यञ्जना के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है वह कोई नवीन अर्थ नहीं अपितु शब्दों का एक अर्थ ही व्यंग्यार्थ का रूप धारण करता है। अतः शब्दों का एक अर्थ तथा व्यंग्यार्थ यहां एक अथवा सर्वथा समान है।

अप्पयदीक्षित के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में द्वितीय अर्थ व्यञ्जना का विषय न होकर अभिधा का ही विषय है। अतः यहां दोनों अर्थ अभिधेय हैं। अप्पयदीक्षित के अनुसार ऐसे स्थलों में ध्वनि होती अवश्य है परन्तु वह प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ के सादृश्य को लक्ष्य करके होती है अप्रस्तुत अर्थ को लक्ष्य करके नहीं होती।[2] इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में व्यंग्यार्थ राजा तथा हस्ती का सादृश्य है। हस्ती से सम्बद्ध अर्थ को यहां व्यंग्यार्थ के अन्तर्गत मानना उचित नहीं क्योंकि वह तो अभिधा का ही विषय है।

१. "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥" काव्यप्रकाश सू० ३२ ।

२. "यदत्र प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणं शब्दशक्तिमूलं ध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चस्तत्तु प्रकृताप्रकृताभिधानमूलस्योपमादेरलङ्कारस्य व्यंग्यत्वाभिप्रायं न त्वप्रकृतार्थस्यैव व्यंग्यत्वाभिप्रायम् ।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ७६ ।

अप्पयदीक्षित के इस व्यंग्यार्थ का तो स्वरूप ही सादृश्य है। अतः यह अर्थ सादृश्य के व्यंग्य रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

आर्थी व्यञ्जना में वक्ता श्रोता आदि की विशिष्टता के कारण वाच्यार्थ से एक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार का विषय है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"मातर्गृहोपकरणमद्य नास्तीति साधितं त्वया।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी॥"
काव्यप्रकाश पृष्ठ २८।

यहां व्यंग्यार्थ स्वैरविहार की इच्छा है। इसीलिए मम्मट लिखते हैं:—
"अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते।" —काव्यप्रकाश पृष्ठ २९।

यहां वक्ता एक चरित्रहीन स्त्री है। अतः उसका आचरण निन्दनीय है। उपर्युक्त व्यंग्यार्थ भी ऐसे ही आचरण की ओर सङ्केत करता है। अतः चरित्रहीन स्त्री के आचरण तथा उपर्युक्त व्यंग्यार्थ में समानता है। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त व्यंग्यार्थ वक्ता के आचरण से साम्य के आधार पर व्यक्त होता है।

ध्वनि में सादृश्य की उपर्युक्त सिद्धि विवेचक की दृष्टि से की गई है। जहां तक पाठक का सम्बन्ध है उसे भी ध्वनि में कुछ अंशों तक यह सादृश्यप्रतीति होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना की प्रक्रिया का अङ्गमात्र होती है। यह प्रतीति व्यञ्जना की प्रक्रिया में लीन हो जाती है और केवल ध्वनिजन्य चमत्कार शेष रह जाता है।

१. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ —काव्यप्रकाश सू० ३७।

द्वितीय अध्याय

अलंकारों के मूल में सादृश्य

अलंकारों के मूल मे सादृश्य-ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हमें अलंकारों के आधार अथवा आश्रय का ज्ञान हो। इसका कारण यह है कि सादृश्य इसी आधार में निवास करके अलंकारों का मूल बनता है तथा उसके रूप का निर्माण इसी आधार के अनुसार होता है। स्वतः सादृश्य का कोई मूर्त रूप नहीं होता। इसके मूर्त रूप के लिए उन वस्तुओं के रूप का ज्ञान आवश्यक है जो सादृश्य का आधार बनकर उसे मूर्त रूप प्रदान करती हैं। आलंकारिकों ने इस दृष्टि से अलंकारों के मुख्यतः दो आधार पृथक् पृथक् बताए हैं। ये शब्द तथा अर्थ हैं। इन पर आश्रित अलंकार क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार होते हैं। कतिपय आलंकारिकों ने शब्द तथा अर्थ दोनों को संयुक्त रूप से भी आधारों का एक भेद माना है तथा इस पर आश्रित अलंकार को उभयालंकार कहा है।[1] परन्तु इसको मानने वाले बहुत कम हैं। अतः हम केवल शब्दालंकार तथा अर्थालंकार इन दो अलंकार-भेदों को मानकर चलते हैं जो क्रमशः शब्द तथा अर्थ पर आश्रित हैं।

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शब्द तथा अर्थ का क्या स्वरूप मानकर आलंकारिक इन्हें अलंकारों का पृथक् पृथक् आधार निश्चित करते हैं। शब्द का सामान्य अर्थ लेने पर तो शब्द तथा अर्थ ये दोनों पृथक् पृथक् आधार सम्भव नहीं। इसका कारण यह है कि शब्द के

---

१. यह हमें अग्निपुराण में मिलता है:—

"शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम्।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः॥"

—अग्निपुराण ३४५–१

भोज ने अग्निपुराण की परम्परा का अनुसरण करते हुए इसे स्वीकार किया है:—

"शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलंकारान् कवीश्वराः।
बाह्यानाभ्यन्तरान् बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।१

सामान्य रूप में अर्थ का भी अन्तर्भाव हो जाता है। शब्द में दो अंश होते हैं—उच्चारणांश तथा अर्थांश। इस प्रकार शब्द का यह अर्थ लेने पर अर्थ एक पृथक् आधार नहीं रहता, परन्तु आलंकारिकों ने इसे पृथक् आधार माना है। अतः इस दशा में हमें शब्द का वही रूप लेना चाहिए जो अर्थ से इसकी पृथक्ता का द्योतक हो। यह रूप उसका उच्चारणांश ही हो सकता है। यह ध्वनि-स्वरूप है तथा कर्ण का विषय है। अर्थ इसके विपरीत बुद्धि का विषय है। आलंकारिकों ने अलंकारों के आधार का विवेचन करते हुए शब्द तथा अर्थ के इस रूप का उल्लेख तो नहीं किया है परन्तु आधार के विषय में उनके द्वारा अपनाए हुए शब्द तथा अर्थ के पृथक्ता-सम्बन्धी सिद्धान्त को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि उन्हें इनका यही अर्थ गृहीत है और यदि किसी आलंकारिक को यह अर्थ गृहीत नहीं तो उसका वह मत युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

अलंकार-विभाजन के लिए शब्द तथा अर्थ का उपर्युक्त अर्थ लेने पर यह स्पष्ट है कि जो अलंकार उच्चारण-चमत्कार पर आश्रित होता है वह शब्दालंकार होता है तथा जो अलंकार अर्थ-चमत्कार पर आश्रित होता है वह अर्थालंकार होता है। अलंकार-ज्ञान का आधार आश्रयाश्रयिभाव है।[1] जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसी का अलंकार कहा जाता है। उद्भट, रुय्यक आदि ने इसी आश्रयाश्रयिभाव को अलंकार ज्ञान का आधार माना है। अलंकार के आश्रय को जानना सर्वथा सीधा और स्पष्ट है। यदि हमें अलंकार-विशेष के स्वरूप का ज्ञान है तो यह निश्चित है कि हमें उसके आधार का भी ज्ञान है। इसका कारण यह है कि अलंकार के स्वरूप में उसके आधार का स्वरूप भी मिला रहता है। उदाहरणतः शब्दालंकार के स्वरूप में उसका आधार उच्चारण-स्वरूप शब्द विद्यमान रहता है।

अलंकार के आधार-ज्ञान के इस स्पष्ट सिद्धान्त का निराकरण करते हुए मम्मट ने इसके स्थान पर अन्वयव्यतिरेकभाव की स्थापना की है। "यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः, यदभावे यदभावो व्यतिरेकः" यह अन्वय तथा व्यतिरेक का लक्षण है। अतः यदि कोई वस्तु किसी वस्तु के रहने पर रहे तथा न

१. "आश्रयाश्रयिभावेनालंकार्यालंकारभावस्य लोकवद्व्यवस्थानात्"
सर्वस्व पृ० ११४

रहने पर न रहे तो वह उस अन्य वस्तु पर आश्रित होती है। उदाहरणतः दण्डचक्रादि के भाव में घड़े की उत्पत्ति होती है। यह अन्वय है। दण्डचक्रादि के अभाव में घड़े की उत्पत्ति नहीं होती। यह व्यतिरेक है। इस प्रकार घट का भाव दण्डचक्रादि के भाव पर आश्रित है। दण्डचक्रादि घट के कारण हैं तथा घट उनका कार्य है। अलंकारों के आधार का ज्ञान भी इसी प्रकार होता है। यदि शब्द-विशेष के भाव में अलंकार रहे तथा उसके अभाव में न रहे तो वह अलंकार उस शब्द पर आश्रित होता है तथा शब्दालंकार कहलाता है। परन्तु यदि शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार बना रहे तो वह शब्द पर आश्रित न होकर अर्थ पर आश्रित होता है तथा अर्थालंकार कहलाता है।[1]

मम्मटादि का उपर्युक्त मत उचित नहीं। उन्होंने अलंकार का आधार जानने के लिए एक तर्कप्रणाली को अपनाया है। परन्तु अलंकार से चमत्कारोत्पत्ति की मानसिक दशा मन की तार्किक दशा से भिन्न होती है। उस समय मन चमत्कार की दशा से तर्क की दशा को प्राप्त नहीं होता और व्यक्ति अन्वय-व्यतिरेक के तर्क का आश्रय नहीं लेता। अमुक अलंकार किस पर आश्रित है यह ज्ञान अलंकार से उत्पन्न चमत्कार ज्ञान के साथ ही हो जाता है। उसके ज्ञान की कोई विभिन्न प्रक्रिया नहीं होती। उसके ज्ञान को हम उसी प्रक्रिया का अङ्ग मान सकते हैं। चमत्कारप्रतीति के साथ चमत्कार का आधार भी जुड़ा रहता है। अतः उस समय हमें यह ज्ञान भी हो जाता है कि अमुक अलङ्कार किस तत्त्व पर आश्रित है अथवा इसमें किस तत्त्व की प्रधानता है। अतः अन्वयव्यतिरेकभाव को अपनाने की आवश्यकता नहीं।

अन्वयव्यतिरेकभाव के सिद्धान्त को अपनाने का प्रश्न तो तब उठता है जब हमें किसी वस्तु के आधार का निर्णय न करके हेतु का निर्णय करना हो। उदाहरणतः हम घट को लेते हैं। घट का आधार मृत्तिका है

१. इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथा हि। कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयो व्यर्थत्वादिप्रौढयाद्युपमादयस्तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

—काव्य प्रकाश पृ० ५१८

तथा इसका हेतु दण्डचक्रादि है। मृत्तिका के ज्ञान के लिए अन्वयव्यतिरेक-भाव अपनाने की आवश्यकता नही। मृत्तिका तो हमे घट मे प्रत्यक्ष दिखाई देती है। यदि हमें घट का ज्ञान है तो निश्चित रूप से यह भी ज्ञान है कि घट मृत्तिका का बना हुआ है अथवा इसका आधार मृत्तिका है। अतः इसके ज्ञान के लिए हम अन्वयव्यतिरेकभाव को नहीं अपनाते। अन्वयव्य-तिरेकभाव को तो हम तभी अपनाते हैं जब हमें घट के हेतु दण्डचक्रादि का ज्ञान अपेक्षित हो जो हमें घट के साथ दृष्टिगोचर नही होते। अलङ्कारों के साथ भी यही बात है। अलङ्कारों के लिए हमें जिस वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा है वह उनका आधार है हेतु नही। अतः इसे जानने के लिए अन्वयव्यतिरेकभाव का अवलम्बन अपेक्षित नही।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अन्वयव्यतिरेकभाव आश्रयज्ञान के लिए अनावश्यक ही नही अपितु असमीचीन है। उनके अनुसार इससे आश्रय का ज्ञान नहीं होता। इससे तो केवल हेतु का ज्ञान होता है और इस हेतु का अपने कार्य से उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध घट से दण्डादि का है। दण्डादि घट के आश्रय नहीं। आश्रय के लिए आवश्यक है कि आश्रित की उसमें सत्ता हो। दण्डादि में घट की सत्ता नहीं। शब्द तथा अर्थ में अलङ्कार की सत्ता रहती है। अतः अन्वयव्यतिरेक के द्वारा यह पता नहीं लग सकता कि अलङ्कार का आधार शब्द है अथवा अर्थ।[1]

आश्रयाश्रयिभाव का खण्डन करते हुए मम्मट तथा उनके अनुयायियों ने जिन तर्कों को उपस्थित किया है वे भी निर्मूल हैं। मम्मटादि कहते हैं कि आश्रयाश्रयिभाव एक अस्पष्ट सिद्धान्त है। जब तक अलङ्कार के आश्रय को जानने के साधन हमारे पास नहीं होगे तब तक यह कहना कि आश्रया-श्रयिभाव के द्वारा अलङ्कार का निर्णय हो जायगा उचित नहीं। आधार का निर्णय किए बिना केवलमात्र इतना कह देने से काम नहीं चल सकता कि जो अलङ्कार शब्द पर आश्रित होगा वह शब्दालङ्कार होगा तथा जो अर्थ पर आश्रित होगा वह अर्थालङ्कार होगा। ऐसे अलङ्कार जो सर्वथा शब्द पर आश्रित हों अथवा जो सर्वथा अर्थ पर आश्रित हों नहीं मिलेंगे। अलङ्कार

---

१. "अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु न तु आश्रय-त्वावगमः। स तु पुनस्तद्वृत्तित्वज्ञानाधीनः।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ५२६।

का प्रयोजन काव्य में शोभा अथवा चारुता लाना होता है। काव्य अर्थ के रूप में होता है। इस प्रकार समस्त शब्दालंकारों का किसी न किसी प्रकार अर्थ से सम्बन्ध होगा ही अर्थालंकारों का तो शब्द से सम्बन्ध होना स्वाभाविक है क्योंकि बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति ही नहीं होगी। अतः आश्रयाश्रयिभाव के कारण शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार बन सकते हैं तथा अर्थालङ्कार शब्दालङ्कार बन सकते हैं। अतः अन्वयव्यतिरेकभाव को ही अलङ्कार का आधार मानना उचित होगा। इससे अलङ्कारों के निर्णय में सहायता मिलेगी तथा विरोधी को उत्तर दिया जा सकेगा।[1]

हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आश्रयाश्रयिभाव के द्वारा अलङ्कारों के निर्णय में कोई कठिनता नहीं आती। जैसे ही कोई अलङ्कार अपने चमत्कार-रूप में हमारे सम्मुख आता है हमें इस चमत्कार के आधार का ज्ञान हो जाता है और हम उस अलङ्कार को उस आधार से सम्बन्धित अलङ्कार कह देते हैं। उदाहरणतः यदि हमें अलङ्कारविशेष के स्वरूप उच्चारणचमत्कार की प्रतीति होती है तो यह स्पष्ट है कि इस प्रतीति का आधार उच्चारण है तथा यह अलङ्कार उच्चारण अथवा शब्द से सम्बन्धित है। इसे ही हम शब्दालङ्कार कहते हैं। इसी प्रकार अर्थालङ्कार का भी निर्णय हो सकता है। यह ठीक है कि शब्दालङ्कार के आधार शब्द का अर्थ से सम्बन्ध होता है तथा अर्थालङ्कार का आधार अर्थ तो बिना शब्द के सम्भव न होने के कारण शब्द से अनिवार्यतः सम्बन्धित होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अर्थ तथा शब्द को भी क्रमशः शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का आधार मान लें। आधार के लिए आवश्यक है कि वह चमत्कार-प्रतीति का अङ्ग होना चाहिए। उपर्युक्त अलङ्कारों की चमत्कार-प्रतीति में अर्थ तथा शब्द के साथ यह बात नहीं। अतः ये इन अलङ्कारों के आधार नहीं कहे जा सकते।

---

१. चक्रवर्त्यादयस्तु "·········सर्वेषामलङ्काराणां सर्वालङ्कारत्वं शब्दार्थीयानामर्थशब्दीयत्वं चेति वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणेऽन्वयव्यतिरेकौ विनानुभवोऽपि प्रमाणयितुं न शक्यते इति तावेवोपन्यासार्हावित्यत्र तात्पर्यम्···।" इति व्याचख्युः। काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ७६६।

शब्दालंकारकोटि में आने वाले अलंकार

अलङ्कारों के आधारभूत शब्द तथा अर्थ का पूर्व-निर्दिष्ट स्वरूप निश्चित हो जाने पर तथा इस आधार को जानने की प्रक्रिया ज्ञान हो जाने पर अब हमें यह देखना है कि शब्द पर आधारित शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत कौन कौन से अलंकार आते हैं जिससे उन अलंकारों के मूल में साम्य का विवेचन हो सके। आलङ्कारिकों ने शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत प्रायः अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति आदि की गणना की है। परन्तु पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार प्रतीत होगा कि श्लेष, वक्रोक्ति आदि को शब्दालङ्कारकोटि में रखना उचित नहीं।

श्लेष अलङ्कार के दो भेद माने गए हैं—सभङ्गश्लेष तथा अभङ्गश्लेष। पहले में पदभङ्ग होता है तथा उच्चारण के प्रयत्न में भेद होता है। दूसरे में पदभङ्ग नहीं होता तथा उच्चारण के प्रयत्न में भेद नहीं होता। ये दोनों श्लेष पूर्वनिर्दिष्ट आधार के अनुसार अर्थालङ्कारकोटि में चले जाते हैं। अभङ्गश्लेष को तो शब्दालङ्कार के अन्तर्गत मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें पदभङ्ग न होने के कारण शब्द एक रहता है और उच्चारण में प्रयत्नभेद नहीं होता। इसे रुय्यक ने एक वृन्त के समान कहा है जिसमें दो फल लगे हों।[1] ये फल अर्थ के रूप में होते हैं। इन दोनों अर्थों की प्रतीति इसी एक शब्द से होती है।[2] अतः यह अर्थप्रतीति ही चमत्कार का आधार

१. "अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दः श्लिष्टत्वम्"।

— सर्वस्व पृष्ठ ११।

२. कुछ विद्वान् कह सकते हैं कि 'अर्थभेदे शब्दभेदः' नामक सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त दशा में भी दो शब्द हैं। परन्तु यह कथन उचित नहीं, क्योंकि जहां तक उच्चारण का प्रश्न है दोनों दशाओं में शब्द एक ही रहता है। यदि 'अर्थभेदे शब्दभेदः' के सिद्धान्त को मानें तब तो विरोधी के अर्थालङ्कार रूप में भी दो शब्द होंगे और वह शब्दालङ्कार बन जाएगा। रुय्यक तथा जगन्नाथ का यही मत है:—

'अर्थभेदे शब्दभेदः' इति दर्शने रक्तच्छदत्वमित्यादावपि शब्दद्वयाश्रितोऽयं तथाप्यौत्पत्तिकत्वादत्र शब्दभेदस्य प्रतीतावैकतयाध्यवसानान्नास्ति शब्दभेदः।

—सर्वस्व पृष्ठ ११४।

है। इसका कारण यह है कि एक शब्द से प्रायः एक अर्थ निकला करता है। परन्तु उपर्युक्त दशा में उससे दो या अधिक अर्थ निकलते हैं। अतः इस दशा में अर्थ का चमत्कारोत्पादक होना स्वाभाविक है। अर्थ के चमत्कारोत्पादक होने के कारण यह अर्थालंकार है।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि उपर्युक्त दशा में अर्थों की प्रतीति शब्द के कारण ही होती है। अतः इसे शब्दालंकार क्यों न मान लिया जाए। इसका उत्तर यह है कि शब्दों के द्वारा अर्थ-प्रतीति अलंकार को शब्दालंकार नहीं बनाती। शब्दालंकार तो वहीं माना जा सकता है जहां उच्चारणरूप शब्द अलंकार-जन्य चमत्कार का आवश्यक अंग हो। उपर्युक्त दशा में ऐसी बात नहीं। अतः यह शब्दालंकार नहीं माना जा सकता। दूसरे यदि शब्द के अर्थप्रत्यायकत्व को ही शब्दालंकार का आधार माना जाता है तब तो समस्त अर्थालंकार शब्दालंकार में परिवर्तित हो जाएंगे क्योंकि उनमें अर्थ का ज्ञान शब्दों के द्वारा ही होता है और इस प्रकार अर्थालंकारों का सर्वथा लोप हो जाएगा।

श्लेष की दशा में व्यवहार में प्रायः हम यह कह देते हैं कि यहां शब्द-चमत्कार है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि इस शब्द-चमत्कार से हमारा तात्पर्य वस्तुतः अर्थ चमत्कार से ही होता है। जब हम 'शब्द-चमत्कार' इस शब्द का प्रयोग करते हैं तब प्रश्न उठता है कि यह चमत्कार किस रूप में होता है। इसका उत्तर यही है कि यह अर्थरूप में होता है। शब्द से जो दो या अधिक अर्थ निकलते हैं वे ही चमत्कार का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार शब्द-चमत्कार का पर्यवसान अर्थ-चमत्कार में ही होता है।

सभंगश्लेष में शब्द-चमत्कार होता अवश्य है परन्तु प्रधानता अर्थ-चमत्कार की होती है। यही कारण है कि उद्भट आदि ने इसे शब्दश्लेष कहकर भी अर्थालंकार माना है। मम्मट ने इस पर उद्भट आदि की आलोचना की है। यह इस प्रकार है:—

यद्यपि द्वितीयस्य (अभङ्गस्य) अपि 'प्रतिप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दभेदः' इति नये शब्दद्वयवृत्तित्वात्.........परम् उभयत्र 'हरिः' इत्यानुपूर्वी एकैवास्ति। अत एव अभङ्गस्य शब्दद्वयवृत्तितासाधनं न सुशकम्। अन्यथा 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः' इति नये पराभिमतोऽर्थश्लेषोऽपि शब्दालङ्कार एव स्यात्। —रसगङ्गाधर पृष्ठ ५२६, ५२७।

'शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालंकारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः।'

—काव्य प्रकाश पृ० ५२७

मम्मटकृत यह आलोचना उचित नहीं। शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष में श्लेष के विभाजन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि इनमें आंशिक भेद है, इससे यह तात्पर्य नहीं कि ये शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की विभिन्न कोटियों में आते हैं। दोनों का यह आंशिक भेद स्पष्ट है। अभंगश्लेष में तो केवल एक ही शब्द होता है, परन्तु सभंगश्लेष में पदभंग के कारण दो शब्द बनते हैं। इनके उच्चारण में भी प्रयत्नभेद होता है। ये दोनों एक शब्द में श्लिष्ट हो जाते हैं। इनके इस श्लिष्टत्व को रुय्यक ने जतुकाष्ठन्याय की संज्ञा दी है।[1] इस शब्दभेद के होने पर भी चमत्कार अर्थ के कारण ही होता है। अतः इसे अर्थालंकार के अन्तर्गत रखना उचित होगा।

अब तक हमने श्लेष अलंकार के आधार का निरूपण आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार किया है तथा इसका आधार अर्थ निश्चित करके इस अलंकार को अर्थालंकारकोटि में रखा है। अब हम इसके आधार का निरूपण अन्वयव्यतिरेकभाव के द्वारा करते हैं तथा यह देखते हैं कि इस दृष्टि से यह अलंकार किस कोटि में आता है। यद्यपि अन्वयव्यतिरेकभाव का अवलम्बन अलंकार के आधारज्ञान के लिए आवश्यक नहीं, परन्तु मम्मटादि ने अलंकारों के निर्धारण के लिए यही सिद्धान्त अपनाया है तथा इसके अनुसार श्लेष को शब्दालंकार कोटि में रखा है। अतः हमें यह देखना है कि इस सिद्धान्त को अपना कर किया हुआ मम्मटादि का निर्णय ठीक है या नहीं।

अन्वयव्यतिरेक के सिद्धान्त को अपना कर मम्मट ने शब्द श्लेष के जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उनमें से एक निम्नलिखित हैः—

> "अलंकारः शंकाकरनरकपालं परिजनो
> विशीर्णांगो भृंगी वसु च वृष एको बहुवयाः।
> अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो—
> विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी॥"

---

१. 'अपरत्र तु जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव शब्दयोः श्लिष्टत्वम्'

—सर्वस्व पृ० ११४

मम्मट के अनुसार यहां 'विधौ' में शब्दश्लेष है। विधौ के दो अर्थ हैं—'चन्द्रे' तथा 'भाग्ये'। ये दो अर्थ तभी तक हैं जब तक यहां 'विधौ' शब्द है। जैसे ही इस शब्द के स्थान पर हम इसके पर्यायवाची 'चन्द्रे अथवा 'भाग्ये' में से किसी एक शब्द को रखते है उपर्युक्त दो अर्थो मे से एक अर्थ का लोप हो जाता है और फलतः श्लेषालंकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'विधौ' शब्द के सद्भाव की दशा में श्लेष का सद्भाव होने से तथा इस शब्द के अभाव मे श्लेष का अभाव होने से मम्मट कहते हैं कि यह अलंकार शब्द पर आश्रित है। अतः शब्दालंकार है। मम्मट का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं क्योंकि इस तर्क को अपनाकर तो इतने ही औचित्य के साथ इसे निम्नरीति से अर्थालंकार भी सिद्ध किया जा सकता है:—उपर्युक्त श्लोक में अर्थद्वय के सद्भाव की दशा में श्लेष का सद्भाव रहता है तथा इस अर्थद्वय के अभाव में श्लेष का अभाव हो जाता है। अत: यह निष्कर्ष निकला कि अर्थद्वय अथवा एक प्रकार से अर्थ ही श्लेष का आधार है। अत. यह अर्थालंकार है। विरोधी यहां यह कह सकते हैं कि यह वस्तुत: 'विधो' शब्द का सद्भाव तथा असद्भाव ही है जो अर्थद्वय के क्रमशः सद्भाव तथा असद्भाव का कारण बनता है। परन्तु अन्ततोगत्वा है तो यह अर्थद्वय का सद्भाव तथा असद्भाव ही जो श्लेपालंकार का सीधा निर्णायक बनता है।

दूसरे उपर्युक्त उदाहरण में तो 'विधौ' शब्द के परिवर्तन से अर्थद्वय का अभाव हो जाता है, परन्तु प्रत्येक दशा में ऐसा होना आवश्यक नहीं। हमें कभी कभी किसी शब्द के स्थान पर ऐसा पर्यायवाची शब्द भी मिल सकता है जिसके वे ही दो अर्थ निकलें। अतः शब्द के परिवर्तन पर अर्थद्वय के अभाव को हम सामान्य सिद्धान्त नहीं बना सकते।

वस्तुत: श्लेप को निर्णायक रूप से शब्दालंकार तभी माना जा सकता है जब अर्थद्वय के रहते हुए भी केवलमात्र शब्द के परिवर्तन से श्लेष का लोप हो जाए। हमारी इस मान्यता का आधार यह है कि हमारे सम्मुख श्लेप के दो सम्भावित कारण हैं—शब्द तथा अर्थ और इनमें से किसी एक का हमें निर्णय करना है। जहां किसी वस्तु के दो सम्भावित कारणों में से हमें किसी एक का निर्णय करना हो और हम अन्वयव्यतिरेकभाव को अपनाएं तो इसकी उचित प्रक्रिया यही है कि हम इन दो कारणों में से एक को तो रहने दें तथा केवल एक को हटाएं और तब देखें कि उस

वस्तु का लोप होता है या नहीं। यदि इस प्रकार उस वस्तु का लोप हो जाए तभी हम कह सकते हैं कि हटा हुआ कारण उस वस्तु का यथार्थ कारण है। उदाहरणतः सुगन्ध के लिए हम पुष्प तथा पत्र इन दो सम्भावित कारणों को लेते हैं और इसके लिए अन्वयव्यतिरेकभाव के सिद्धान्त को अपनाते है। इसको अपनाने की उचित प्रणाली यही है कि हम पुष्प तथा पत्र में से एक को रहने दें तथा अन्य को हटा लें और तब देखें कि सुगन्ध बनी रहती है या नहीं। हमें ज्ञात होगा कि पुष्प के हटाने पर पत्र के रहते हुए भी सुगन्ध का लोप हो जाता है। तभी हम कहते हैं कि सुगन्ध का कारण पुष्प है। श्लेषालंकार के निर्णय के लिए भी मम्मट को अन्वय-व्यतिरेकभाव का प्रयोग इसी रूप मे करना चाहिए और उसे शब्दालंकार तभी कहना चाहिए जब अर्थद्वय के रहते हुए भी शब्द के परिवर्तनमात्र से श्लेष का खण्डन हो जाए। परन्तु श्लेष में ऐसा नहीं होता। अतः अन्वयव्यतिरेकभाव के द्वारा भी कम से कम यह तो सिद्ध नहीं होता कि श्लेष शब्दालंकार है।

वक्रोक्ति भी इस आधार के अनुसार अर्थालंकार के अन्तर्गत आती है। वक्रोक्ति से यहां हमारा अभिप्राय संकुचित वक्रोक्ति अलंकार से है, भामह तथा कुन्तक की व्यापक वक्रोक्ति से नहीं। यह तो सब अलंकारों की तथा काव्य की मूल है। इस वक्रोक्ति अलंकार के दो भेद हैं—श्लेष-वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति।[1] मम्मटादि ने इसे शब्दालंकार के अन्तर्गत रखा है, परन्तु यह उचित नहीं। श्लेष अर्थालंकार है। अतः उस पर आधारित वक्रोक्ति भी अर्थालंकार ही होगी। काकु-वक्रोक्ति में भी अर्थतत्त्व का चमत्कार होता है। अतः यह भी अर्थालंकार के अन्तर्गत आएगी।

अनेक आलंकारिकों ने चित्र को भी शब्दालंकार माना है। परन्तु इसे अलंकारकोटि के अन्तर्गत रखना ही उचित नहीं। चित्र काव्य का अंग ही नहीं बन सकता। काव्य में शब्द तथा अर्थ दो तत्त्व होते हैं। इनमें शब्द स्वतः साध्य न होकर साधनमात्र होता है और उसका साध्य अर्थ की सम्यक् प्रतीति कराना होता है। परन्तु जब शब्द स्वतः साध्य बन जाता है तो

१. 'यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥'

—काव्यप्रकाश सू० १०१

वह अर्थ से असम्बद्ध हो जाता है और काव्य का अंग नही रहता। चित्र में भी यही बात है। इसमे शब्दों का केवल खिलवाड़ होता है। उससे अर्थ का कोई उपकार नहीं होता।

पुनरुक्तवदाभास को अनेक आलंकारिकों ने शब्दालंकार के अन्तर्गत रखा है। परन्तु यह उचित नही। इस अलंकार मे चमत्कार समान अर्थ के आभास पर आश्रित होता है।[1] इसमें न तो शब्दों की पुनरुक्ति होती है और न अर्थ की पुनरुक्ति केवल अर्थपुनरुक्ति का आभास होता है। अतः यह अलंकार शब्द पर आश्रित नही कहा जा सकता। अन्वयव्यतिरेकभाव को अलंकार का आधार मानने वाले आलंकारिकों ने इसे उभयालंकार कहना उचित समझा है, परन्तु शब्दवैचित्र्य की उत्कटता के कारण अथवा प्राचीन मतों के अनुरोध से इसे शब्दालंकार के अन्तर्गत रखा है। मम्मट तथा विश्वनाथ का यही मत है।[2]

इससे स्पष्ट है कि अन्वयव्यतिरेकभाव के अनुसार भी पुनरुक्तवदाभास में अर्थतत्त्व के चमत्कार की सत्ता है। परन्तु वे इसमे शब्द का भी चमत्कार मानते हैं। विचार करने पर प्रतीत होगा कि उनका यह विचार सदोष है। जहां तक शब्दों के उच्चारण का प्रश्न है उनमें न तो किसी प्रकार की पुनरुक्ति है और न किसी प्रकार का चमत्कार है। पुनरुक्ति अथवा चमत्कार की प्रतीति हमें तभी होती है जब हम अर्थ पर विचार करते हैं। यह कहना कि अर्थ की यह पुनरुक्ति शब्दों के कारण होती है कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त अर्थ का चमत्कार शब्दों के कारण होने से समस्त अर्थालंकार शब्दालंकार बन जाएंगे।

---

१. पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा एकार्थतेव'।

—काव्यप्रकाश सू० १२२

२. 'एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालंकारौ'—काव्यप्रकाश पृ० ७६८

इस पर उद्योतकार का कहना है:—"अत एव शब्दवैचित्र्यस्योत्कटतया पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकारमध्ये गणितः" काव्य प्रकाश टीका पृ० ७६८

"शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरंतनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह"—साहित्यदर्पण पृ० ४७२।

रुय्यक ने पुनरुक्तवदाभास का कारण अर्थपौनरुक्त्य माना है।[1] इस प्रकार यह अर्थालंकार के अन्तर्गत आना चाहिए।

भोज ने शब्दालंकारों की संख्या २४ तक पहुँचा दी है। इन्होंने जाति, गति, छाया, मुद्रा आदि अनेक शब्दालंकार माने हैं।[2] इस विषय में वे एक भिन्न परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्हें संस्कृत के मान्य आलंकारिकों का समर्थन प्राप्त नहीं और न उपर्युक्त अलंकारों के शब्दालंकार मानने का कोई उचित आधार ही दिखाई देता है।

इस प्रकार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास तथा यमक शब्दालंकार के अन्तर्गत रह जाते हैं। कुछ आलंकारिकों ने छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को दो भेद माना है। कतिपय आलंकारिक लाटानुप्रास को भी अनुप्रास के अन्तर्गत मानते हैं। भामह ने लाटानुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है।[3] उद्भट ने तीनों को भिन्न भिन्न माना है।[4] मम्मट ने लाटानुप्रास को तो भिन्न माना है परन्तु छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है।[5] रुय्यक तीनों को भिन्न भिन्न मानते हैं।[6] विश्वनाथ ने इस विषय में मम्मट का अनुसरण किया है, परन्तु उन्होंने अनुप्रास के श्रुत्यनुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास नामक दो भेद और किए हैं।[7] इनमें मम्मट तथा विश्वनाथ का मत समीचीन है। छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास दोनों में केवल शब्द (वर्णादि) सादृश्य होता है। अतः उन्हें एक अलंकार के दो भेद मानना उचित होगा। लाटानुप्रास में शब्दसादृश्य के अतिरिक्त अर्थसादृश्य भी होता है। अतः इसे भिन्न अलंकार मानना उचित होगा।

१. अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारोऽयम्' सर्वस्व पृ० १५

२. चतुर्विंशतिरित्युक्ताः शब्दालंकारजातयः।
अथासां लक्षणं सोदाहरणमुच्यते ॥" सरस्वती कण्ठाभरण २। ५

३. "लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।" काव्यालंकार २। ८

४. देखिए काव्यालंकारसारसंग्रह पृ० ३ से १०

५. देखिए काव्य प्रकाश पृ० ४ ६४—४६८

६. देखिए सर्वस्व सू० ४, ५, ८

७. देखिए साहित्यदर्पण पृ० ४ ७६, ४७७
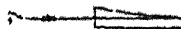
"शब्दालंकारों के मूल में सादृश्य"

इन समस्त शब्दालंकारों के मूल में सादृश्य है। अनुप्रास के मूल में वर्णादि का सादृश्य है । लाटानुप्रास के मूल में शब्दसादृश्य तथ अर्थ-सादृश्य दोनों विद्यमान हैं। यमक में स्वरव्यञ्जनसमुदाय का तो सादृश्य होता है परन्तु अर्थ में भेद होता है। आलंकारिकों ने प्रायः आवृत्ति को शब्दालंकार का मूल माना है। रुय्यक ने इसी आवृत्ति के आधार पर शब्दालंकारों के तीन आधार बताए हैं-शब्दपौनरुक्त्य, अर्थपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य ।[1] यह आवृत्ति तथा सादृश्य भिन्न तत्त्व नहीं । हम आवृत्ति को सादृश्य में अन्तर्भूत कर सकते हैं।

अनुप्रास में व्यञ्जनों की अथवा व्यञ्जनों एवं स्वरों की आवृत्ति होती है। यदि केवल व्यञ्जनों की आवृत्ति होती है तो स्वरों में भेद होगा। इस प्रकार व्यञ्जनों की दृष्टि से अभेद तथा स्वरों की दृष्टि से भेद प्रतीत होगा। ये दोनों भेद एवं अभेद मिलकर सादृश्य की प्रतीति कराएंगे। यदि व्यञ्जन तथा स्वर दोनों की आवृत्ति होती है तो शब्द के अन्य वर्णों की दृष्टि से भेद प्रतीत होगा। ये दोनों अभेद तथा भेद मिलकर पूर्ववत् सादृश्यप्रतीति कराएंगे। इस प्रकार व्यञ्जनों तथा स्वरों की आवृत्ति भले ही हो यह उच्चारण में सादृश्य की प्रतीति ही है जो चमत्कार का कारण है।

लाटानुप्रास में अभेद के दो तत्त्व होते हैं । ये शब्दपौनरुक्त्य तथा अर्थपौनरुक्त्य हैं। इसमें भेद का एक तत्त्व होता है। यह तात्पर्यभेद है। शब्दपौनरुक्त्य के कारण उच्चारण में सादृश्य की प्रतीति होती है। अर्थ-पौनरुक्त्य तथा तात्पर्यभेद के कारण अर्थ में सादृश्य की प्रतीति होती है । इस प्रकार लाटानुप्रास में शब्दसादृश्य तथा अर्थसादृश्य दोनों विद्यमान हैं।

यमक में स्वर तथा व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति होती है। यह आवृत्ति उच्चारण में सादृश्यप्रतीति का कारण है। इस अलंकार

---

१. "इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्य-प्रकाराः"—सर्वस्व सू० १

में उच्चारण की सादृश्यप्रतीति के अतिरिक्त एक और तत्त्व की आवश्यकता है और वह है आवृत्त स्वरव्यञ्जनसमुदाय में अर्थभेद।

इस प्रकार उच्चारण-साम्य सब शब्दालंकारों का सामान्य तत्त्व है। लाटानुप्रास तथा यमक में एक एक और अन्य तत्त्व होता है। लाटानुप्रास में अर्थसाम्य होता है तथा यमक में अर्थवैषम्य होता है।

अनुप्रास में उच्चारण तथा अर्थ का सादृश्य आवश्यकः—

अनुप्रास में उच्चारण-साम्य तो होता ही है, अलंकार होने के नाते इसमें एक और तत्त्व की आवश्यकता है। यह है इस उच्चारण का अर्थानुकूल होना। इसे हम उच्चारण तथा अर्थ का सादृश्य कह सकते हैं। उच्चारण तथा अर्थ में घनिष्ट सादृश्य होता है। यदि अर्थ माधुर्यपूर्ण है तो आवश्यक है कि वर्णों का उच्चारण भी कोमलतापूर्ण हो। यदि अर्थ ओजःपूर्ण है तो वर्णों का भी कठोर होना आवश्यक है। संगीत के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। संगीत में भावों की प्रधानता होती है। इस भाव का ज्ञान अर्थज्ञान से उतना नहीं होता जितना वर्णों के स्वभाव तथा लय से होता है। हम अपरिचित भाषा के भी संगीत को सुनकर उसके भाव को जो समझ लेते हैं उसका कारण वर्णों का स्वभाव तथा लय ही है।

वर्णों तथा अर्थ का यह सादृश्य भवभूति की निम्न पंक्ति से स्पष्ट हो जाएगाः—

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'

यहां कठोरता तथा कोमलता के दो भाव हैं और उन्हीं के अनुसार कठोर तथा कोमल वर्णों का विधान किया गया है।

वर्णों तथा अर्थ का यह सादृश्य निर्विवाद है। कतिपय वर्ण स्वभाव से कोमल होते हैं तथा कतिपय स्वभाव से कठोर होते हैं। भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है।[1] वर्णों तथा अर्थ के इस सादृश्य को अभिनव ने वर्णध्वनि कहा है। कुन्तक ने इसे वर्ण-वक्रता कहा है तथा क्षेमेन्द्र ने वर्णौचित्य कहा है।

---

१. आनन्द ने वर्णों के इसी स्वभाव के आधार पर इनके रसच्युतः तथा रसश्च्युतः नामक दो भेद किए हैं। रस-प्रकरण में इसका विवेचन हो चुका है।

अलंकारशास्त्र में अनुप्रासजातियों अथवा वृत्तियों का विधान इसी वर्णध्वनि पर आश्रित है।[1] मम्मट ने इस वर्णध्वनि को वृत्त्यनुप्रास का

अभिनव ने सन्तापक तथा निर्वापक नामक दो भागों में वर्णों का विभाजन किया है:—

अन्यैरपि उक्तं "तेन वर्णा रसच्युतः" इत्यादि। स्वभावतो हि केचन वर्णाः

सन्तापयन्तीव। अन्ये तु निर्वापयन्तीव उपनागरिकोचिताः। लोकगोचर एवायमर्थः। साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ८८

पाश्चात्य विद्वानों ने भी वर्णों तथा अर्थ के इस सादृश्य को स्वीकार किया है। अरस्तू, पोप आदि इनमें प्रमुख हैं:—

"It is a general result of these con-iderations that if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language there is a certain loss of persuasiveness." Rhetoric

—साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० ११७

"It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo of sense."

Essay on criticism.

—साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० १२८

१. मम्मट के अनुसार वृत्ति नियतवर्णगत रसविषय व्यापार है:—

"नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारो वृत्तिः"-काव्यप्रकाश पृ० ४५६। वृत्ति की यह परिभाषा वर्णों एवं रस के सादृश्य को स्पष्ट द्योतक है। मम्मट ने वृत्ति के उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामक तीन भेद करके उनका क्रमशः माधुर्यव्यञ्जक, ओजोव्यञ्जक तथा इनके अतिरिक्त अन्य वर्णों से सम्बन्ध दिखाया है।

—काव्यप्रकाश पृ० ४६७

आनन्द ने भी वृत्ति को रसोचित शब्दव्यवहार कहा है। उनका कथन इस प्रकार है:—

"रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।

औचित्यवान यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा मताः॥" ध्वन्यालोक ३। ३३

मूल माना है।[1] परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि छेकानुप्रास में भी यह अपेक्षित है। अनुप्रास का अर्थ मम्मट ने 'रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासः' किया है।[2] अतः इसमें वर्णविधान प्रकृत रस के अनुकूल होना चाहिए। इसी की व्याख्या करते हुए वामनाचार्य कहते हैं:—

'तथा च अनतिव्यवहिततत्वेन चमत्कृत्याधायिका प्रकृतरसव्यञ्जकसदृश-वर्णावृत्तिरनुप्रास इति फलितम्।·········प्रकृतरसप्रतिकूलेऽपि अनुप्रास-व्यवहारो भाक्त एव।' काव्य प्रकाश टीका पृ० ४९५

इससे स्पष्ट है कि प्रकृतरस से प्रतिकूल वर्णसाम्य मे अनुप्रास शब्द का व्यवहार केवल गौण रूप से होता है। छेकानुप्रास अनुप्रास का एक भेद है। अतः अनुप्रास की सामान्य परिभाषा उस पर भी लागू होनी है।

छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास में कोई विशेष भेद भी नहीं। अनुप्रास को वर्णसाम्य माना गया है। उसका भेद छेकानुप्रास अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति कहा गया है तथा वृत्त्यनुप्रास एक अथवा अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति कहा गया है।[3] अतः एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति के मूल में यदि रसोचितवर्णव्यवहार अथवा वर्णध्वनि है तो यह कैसे हो सकता है कि अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति में उसकी कोई अपेक्षा न हो।

'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एता कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः'।

ध्वन्यालोक पृ० ४०१

अभिनव ने भी वृत्ति के परुषा, उपनागरिका एवं कोमला नामक भेद करके उनका रस से सम्बन्ध दिखाया है:—

'नागरिकया उपमिता अनुप्रासवृत्तिः शृंगारादौ विश्राम्यति। परुषा दीप्तेषु रौद्रादिषु। कोमला हास्यादौ। तथा 'वृत्तयः काव्यमातरः' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः'।

साहित्यशास्त्र द्वि० ख० पृ० २६३

१. देखिए काव्यप्रकाश पृ० ४६७

२. काव्यप्रकाश पृ० ४६५

३. "सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः एकस्याप्यसकृत्परः" काव्य प्रकाश पृ० ४६६

जहां तक इन दोनों भेदों के मूल का प्रश्न है, उच्चारण-सादृश्य इनके मूल में विद्यमान है। परन्तु केवल उच्चारण-सादृश्य काव्य का अंग नहीं बन सकता। उच्चारण-सादृश्य का केवल शब्दों से सम्बन्ध होता है। परन्तु काव्य के लिए शब्दतत्त्व तथा अर्थतत्त्व दोनों की आवश्यकता है। अर्थ से असम्बद्ध शब्द कोई अर्थ नहीं रखता। अतः अर्थ से असम्बद्ध उच्चारण-सादृश्य का भी काव्य में कोई मूल्य नहीं। शब्द की इसी अर्थानुकूलता का ध्यान रखकर भामह ने काव्य की परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[२] की है। पण्डितराज जगन्नाथ को भी जिन्होंने काव्य की परिभाषा में शब्द पर बल दिया है 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[१] कहकर शब्द का अर्थ से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। अतः केवल शब्दचमत्कार काव्य का अंग नहीं बन सकता।

लाटानुप्रास तथा सार्थक आवृत्ति वाले यमक में तो कुछ अंशों में उच्चारण-सादृश्य की इस रसानुकूलता की उपेक्षा की जा सकती है, परन्तु अर्थहीन उच्चारण-सादृश्य वाले छेकानुप्रासादि में ऐसा सम्भव नहीं। लाटानुप्रास तथा सार्थक आवृत्ति वाले यमक में अर्थतत्त्व भी होता है। पहले मे तात्पर्यभेद के साथ अर्थसादृश्य होता है तथा दूसरे मे अर्थवैषम्य होता है। अतः यह उच्चारण-सादृश्य अर्थ का उपकारक बन जाता है और ये दोनों अलङ्कार वर्णध्वनि के अभाव में भी अलङ्कार बने रहते हैं परन्तु छेकानुप्रासादि में ऐसी बात नहीं।

ध्वनिवादियों का कथन है कि अर्थानुकूलता अलङ्कार की परिभाषा का आवश्यक अङ्ग नहीं। उनके अनुसार अलङ्कार काव्य का नियमित रूप से उपकार नहीं करते। कभी कभी ये काव्य का उपकार करते हैं तथा कभी कभी नहीं भी करते। ये अलङ्कार को काव्य का एक बाहिरी उपकरण मानते हैं जो काव्य का उपकार कर भी सकता है और कभी कभी नहीं भी करता। काव्य का यह उपकार अलङ्कार की अनुकूलता पर निर्भर करता है। अनुकूलता को ये एक भिन्न तत्त्व मानते हैं। यह अलङ्कार के अन्तर्गत नहीं आता। इसीलिए इन लोगों ने अलङ्कारों की तुलना लौकिक आभूषणों से

---

१. भामहालंकार १ । १६

२. रसगंगाधर पृ० ४

की है जो औचित्य का ध्यान रखकर ऊपर से जोड़े जाते हैं। मम्मट आदि का यही मत है।[1]

ध्वनिवादियों का यह कथन उचित नहीं। काव्य के अलङ्कारों की हार आदि से तुलना ठीक नहीं। हार एक बाह्य आभूषण है। इसकी सत्ता कण्ठ से पृथक् है। यह कण्ठ के सम्पर्क मे आकर कण्ठ की शोभा बढ़ाता है और उसके द्वारा शरीरी की शोभा बढ़ाता है। काव्य के अलङ्कारों के साथ यह बात लागू नहीं होती। अलङ्कारों की सत्ता शब्द तथा अर्थ से भिन्न नहीं। शब्द तथा अर्थ ही अलङ्कारों के स्वरूप है और इसी रूप मे वे प्रकट होते हैं। यदि अलङ्कारों की सत्ता शब्द तथा अर्थ मे पृथक् हो तभी हम हारादि बाह्य आभूषणो से उनकी तुलना कर सकते है। परन्तु ऐसी बात नहीं। अलङ्कार काव्य मे आकर जुड़ते नहीं हैं अपितु अलङ्कार के रूप में ही काव्य की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए कुन्तक का कथन है:—

'तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग.''।

यदि ऐसी बात है तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि अलङ्कार काव्य का नियमित रूप से उपकार करते हैं अथवा नहीं। यह प्रश्न तो तभी उठता है जब अलङ्कार काव्य से भिन्न कोई वस्तु हो। काव्य का स्वरूप शब्द तथा अर्थ है ओर इसी रूप में अलङ्कार की अभिव्यक्ति होती है। यह एक विचित्र बात है कि अलङ्कार अलङ्कार होते हुए काव्य को अलंकृत नहीं करता। इससे तो अच्छा होगा कि हम उसे अलङ्कार की श्रेणी में ही न रखें। केवल स्थूल परिभाषा ही तो अलङ्कार नहीं है। उसके लिए सामान्य तत्त्व चारुता तथा विच्छित्ति की आवश्यकता है। प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने अलङ्कार के अलङ्कारत्व के लिए इस चारुता को स्वीकार किया है। भामह ने इसे वक्रता कहा है। इनके अनुसार यह वक्रता सब अलङ्कारों के मूल में है।[2] इसी वक्रोक्ति को कुन्तक ने एक व्यवस्थित रूप दिया तथा इसकी महत्ता बताई। अतः अलङ्कार वही होगा जो अर्थ में चारुता लाए। यदि

---

१. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —काव्यप्रकाश सू० ८८।

२. ''सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनया अर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥'' भामहालङ्कार २।८५।

अलङ्कार अर्थानुकूल नही है तो वह अलङ्कार ही नही रहेगा और अलङ्कार के लिए ही ऐसा क्यों कहें। ध्वनि आदि पर भी यह बात लागू होती है। ध्वनि के अनेकों भेदोपभेद किए गए है, यहा तक कि उनकी संख्या सहस्रों तक पहुँच गई है। प्रश्न उठता है कि क्या काव्य में इन भेदोपभेदों के सन्निवेशमात्र से काव्यत्व आ जाएगा। इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। इन भेदोपभेदों के सन्निवेश के लिए आवश्यक है कि प्रधान अर्थ से इनकी अनुकूलता हो। यदि ध्वनि के लिए यह अनुकूलता आवश्यक है तो अलङ्कार के लिए क्यों नही ? यदि इस अनुकूलता को ध्वनि का एक अङ्ग माना जाता है तो इसे अलङ्कार का भी एक अङ्ग मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। अतः यह निश्चित है कि अर्थानुकूलता अलङ्कार का आवश्यक अङ्ग है और ऐसा होने के कारण छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास दोनों में वर्णध्वनि अपेक्षित है।

अनुप्रास

वर्णध्वनि का ध्यान रखते हुए सदृश उच्चारण-विधान अनुप्रास है। यह बात अनुप्रास के सभी भेदों पर समान रूप से लागू होती है। यह उच्चारण-सादृश्य व्यञ्जनसाम्य पर निर्भर है अथवा व्यञ्जन तथा स्वर दोनों के साम्य पर प्रायः इस विषय को लेकर आलङ्कारिकों ने अपनी परिभाषाओं की रचना की है। प्रायः सभी आलङ्कारिक इस बात पर सहमत हैं कि केवल स्वर-सादृश्य चमत्कार का कारण नहीं हो सकता। प्रदीपकार ने इस विषय में स्पष्ट निर्देश किया है:—

"..........न च स्वरमात्रसादृश्ये रसानुगमः न वा सहृदयहृदयावर्जकत्वलक्षणः प्रकर्षः।" काव्यप्रकाशटीका पृ० ४९४।

रुय्यक का यही मत है।[1] इस बात पर भी सभी आलङ्कारिक सहमत हैं कि सादृश्य के लिए आवृत्ति अव्यवधान से होनी चाहिए।[2] अधिक व्यवधान वाली आवृत्ति सादृश्य तथा चमत्कार की जनक नहीं होती।

मम्मट ने वर्णसाम्य को लेकर 'वर्णसाम्यमनुप्रासः'[3] परिभाषा की है। विश्वनाथ की परिभाषा इस प्रकार है:—

"अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्"

—साहित्यदर्पण पृ० ४३८।

जयदेव ने स्वर तथा व्यञ्जन दोनों के समुदाय को आवश्यक मानते हुए छेकानुप्रास की परिभाषा की है:—

"स्वरव्यञ्जनसन्दोहव्यूहा मन्दोहदोहदा।"

मम्मट तथा विश्वनाथ की परिभाषा समान प्रतीत होती है। विश्वनाथ ने शब्द का अर्थ वर्णादि लिया है। मम्मट ने भी "स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जन-सदृशत्वं वर्णसाम्यम्"[4] ऐसा अपनी वृत्ति में कहा है। अतः व्यञ्जनमात्र

१. 'अलङ्कारप्रस्तावे केवलस्वरपौनरुक्त्यमचारुत्वान्न गण्यते' —सर्वस्व पृ० १६

२. 'प्रकृष्टः—संनिहितः, तेनातिव्यवधानेन न्यासस्य चमत्काराप्रयोजकस्य व्युदासः' उद्योत —काव्यप्रकाश टीका पृ० ४६४।

३. काव्य प्रकाश सू० १०४।

४. काव्यप्रकाश पृ० ४६५।

का साम्य पर्याप्त है। स्वरसाम्य उसमें चारुता अवश्य ला देता है। अतः स्वर तथा व्यञ्जन दोनों का सादृश्य अनिवार्य नही कहा जा सकता। उद्योतकार का यही मत है।[1]

व्यञ्जन-साम्य निम्न प्रकार से सम्भव है:—एक व्यञ्जन की एक बार आवृत्ति, एक व्यञ्जन की अनेक बार आवृत्ति, अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति तथा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति। इसमे एक व्यञ्जन की एक बार आवृत्ति चमत्कारजनक नहीं होती। अतः वह अनुप्रास का उदाहरण नहीं हो सकती। एक व्यञ्जन अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास कहलाती है तथा अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति छेकानुप्रास कहलाती है।[2]

वर्णसाम्य के लिए यह आवश्यक नही कि उसी वर्ण की आवृत्ति हो। तत्सदृश वर्ण आने पर भी यह साम्य सम्भव है। वर्णादि कर्णेन्द्रिय के विषय हैं। अतः उनके साम्य का ज्ञान भी कर्णेन्द्रिय मे होता है। कर्णेन्द्रिय का सम्बन्ध शब्द के उच्चारण से होता है। और वस्तुतः शब्द उच्चारण-स्वरूप ही है। पुस्तक में लिखित शब्द तो उसी का एक लिपिबद्ध प्रतीक है। उच्चारण कण्ठादि स्थानों से होता है। अतः वर्णादि के उच्चारण-स्थानों में यदि एकता है तो उसमें साम्य की प्रतीति होगी। अतः वर्णसाम्य के लिए जातिसाम्य आवश्यक न होकर श्रुतिसाम्य आवश्यक है। एक ह वर्ण के आने पर उसमे सादृश्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि दूसरे वर्ण में भी हत्व हो परन्तु इतना पर्याप्त है कि दूसरा वर्ण इसी स्थान मे उच्चरित हो तथा समान प्रयत्नवाला हो। यही कारण है कि 'रंहः संघः' आदि में

१. "......उभयसाम्ये चारुत्वातिशय इति ध्वन्यते। यथा 'अग्रेसरा वासराः' इत्यादौ" उद्योत। —काव्यप्रकाश टीका पृ० ४६४।

२. "सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः, एकस्याप्यसकृत्परः"।

—काव्यप्रकाश सू० १०६, १०७।

अनुप्रास माना गया है ।[1]

कतिपय आलङ्कारिकों ने इसे अनुप्रास का एक भिन्न भेद माना है तथा इसका नाम श्रुत्यनुप्रास रखा है । भोज ने इसे स्वीकार किया है । वे तो अनुप्रास के भेदों में इसे सर्वोत्तम समझते हैं ।[2] विश्वनाथ ने भी इसे अनुप्रास का एक भिन्न भेद माना है । उनकी श्रुत्यनुप्रास की परिभाषा इस प्रकार है:—

"उच्चार्यत्वाद्यदैकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास इष्यते ॥" —साहित्य दर्पण १०।५

सहृदयों के कानों को अतीव सुखकर होने के कारण इसका नाम उन्होंने श्रुत्यनुप्रास रखा है ।[3]

कतिपय आलङ्कारिकों ने अनुप्रास का अन्त्यानुप्रास नामक एक और भेद माना है । यह पद के अन्त में आता है । विश्वनाथ ने इसे स्वीकार किया है । इसकी परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है:—

"व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यते अन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ।"—साहित्यदर्पण १०।६

इसके दो भेद किए हैं:—पादान्तगः तथा पदान्तगः । इनके उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं:—

"केशः काशस्तवकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः ।"
"मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः ।" —साहित्यदर्पण पृ० ४७७ ।

भोज ने नामद्विरुक्ति के आधार पर अनुप्रास के कुछ और भेद किए हैं । वे लिखते हैं:—

१. "साम्यं च श्रुतिकृतमपि गृह्यते । यथा 'याति राजा बलान्ध्वः' इति 'रहः संघः' इति च श्रुतिसाम्यं स्थानैक्यात् ।" उद्योत—काव्यप्रकाश टीका पृष्ठ ४४६

२. 'प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासनायकः ।

३. 'एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रासः'
साहित्यदर्पण पृष्ठ० ४७६ ।

"स्वभावतश्च गौण्या च वीप्साभीक्ष्ण्यादिभिश्च सा।
नाम्ना द्विरुक्तिभिर्वाक्ये तदनुप्रास उच्यते ॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।९९।

स्वभाव का उदाहरण 'कलकलम्' गौणी का उदाहरण 'रतिरपि रतिः' वीप्सा का उदाहरण 'शैले शैले' तथा आभीक्ष्ण्य का उदाहरण 'पायं पायम्' है।[1] इन अलङ्कारों में केवल उच्चारणसादृश्य ही नहीं अपितु अर्थतत्त्व भी है।

१. देखिए सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ २५४, २५५।

यमक

यमक का वर्णन प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने किया है। भरत ने इसे शब्दाभ्यास कहा है तथा इसके दस भेद किए हैं।[1] भट्टि का यमकवर्णन विस्तृत है। इन्होंने इस सम्बन्ध में बीस श्लोक लिखे हैं। दण्डी ने भी इसका वर्णन विस्तार से किया है। भामह ने यमक के पांच भेद किए है।[2] उद्भट ने यमक का वर्णन नहीं किया है। रुद्रट, वामन आदि ने इसका वर्णन किया है। भोज, मम्मट आदि ने इसका सविस्तार वर्णन किया है।

यमक की परिभाषा करने मे आलङ्कारिक प्रायः सहमत हैं। हेमचन्द्र, मम्मट तथा विश्वनाथ की परिभाषाएं समान हैं। मम्मट की परिभाषा इस प्रकार है:—

"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः"।

—काव्यप्रकाश सू० ११७।

भोज तथा केशवमिश्र की परिभाषाएं प्रायः समान हैं। भोज की परिभाषा इस प्रकार है:—

"विभिन्नार्थैकरूपाया या वृत्तिर्वर्णसंहतेः"।

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।५८।

रुय्यक, जयदेव तथा विद्यानाथ की परिभाषाएं प्रायः समान हैं। रुय्यक की परिभाषा इस प्रकार है:—

"स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यम् यमकम्"। —सर्वस्व सू० ६।

जहां तक वर्णसमुदाय की पुनरुक्ति का प्रश्न है ये परिभाषाएं समान हैं। इनमें अन्तर है केवल अर्थवैषम्य की ओर संकेत करने अथवा न करने का। रुय्यक की परिभाषा में इस ओर कोई संकेत नहीं। मम्मट में यह

---

१. "शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्।
एतद्दशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम्॥" —नाट्यशास्त्र १६।६२-६५।

२. "आदिमध्यान्तयमकं पादाभ्यासं तथावली।
समस्तपादयमकमित्येतत् पञ्चधोच्यते॥" —भामहालङ्कार २.६।

संकेत है अवश्य परन्तु प्रत्येक दशा मे अर्थ-वैषम्य हो ऐसी बात नहीं। अर्थ होने पर यह अर्थ-वैषम्य होगा। भोज मे इस ओर स्पष्ट संकेत है।

यदि अर्थवैषम्य को परिभाषा का आवश्यक अङ्ग नहीं माना जाता है तो निरर्थक वर्णो की अथवा सार्थक एवं निरर्थक वर्णो की आवृत्ति भी यमक के अन्तर्गत आएगी। अपनी वृत्ति मे मम्मट ने यह बात स्पष्ट कर दी है:—

"समरसमरसोऽयमित्यादावेकेषामर्थवत्त्वे अन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम् इति अर्थे सतीत्युक्तम्" काव्यप्रकाश पृ० ५०२

यदि ऐसी बात है तो अनुप्रास से निरर्थक वर्णावृत्ति वाले यमक का विभेदक क्या है? दोनों मे वर्णसाम्य है। अर्थवैषम्य किसी मे भी नहीं। यदि कहा जाता है कि अनुप्रास में स्वरसादृश्य केवल आनुषंगिक है, परन्तु यमक मे वह अनिवार्य है तो भी यमक के इस भेद को अनुप्रास से पृथक् करने का यत्न सिद्ध नही होता। उच्चारण साम्य दोनों मे समान रूप से है। यह उच्चारण व्यञ्जनों की आवृत्ति के कारण है अथवा स्वरव्यञ्जनसमुदाय की आवृत्ति के कारण, केवलमात्र इतने भेद से पृथक् अलंकार की सत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि इतने से भेद करना ही है तो यह एक अलंकार के दो भेद करके हो सकता है। अतः निरर्थक वर्णावृत्ति वाले यमक को अनुप्रास का ही एक भेद कहना उचित होगा।

सार्थक तथा निरर्थक वर्णावृत्ति वाला यमक भी अनुप्रास से भिन्न नहीं कहा जा सकता। इसमें एक वर्णसमुदाय सार्थक अवश्य है परन्तु चमत्कार का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। उससे अर्थ निकलता है केवल इतनी बात है। परन्तु यह अर्थ अलंकार का अंग नही। अनुप्रास में चारुता उच्चारण-सादृश्य तथा वर्णध्वनि पर आश्रित है और यही बात इसमें है। अतः इसे भी अनुप्रास का एक भेद मानना उचित होगा।

अब यमक का तीसरा भेद रह जाता है। इसमें अर्थ-वैषम्य होता है। इसके पृथक् अलंकार होने के लिए भी यह आवश्यक है कि आवृत्ति अथवा वर्णसाम्य अर्थवैषम्य में चमत्कार लाए। अर्थ के वैषम्यमात्र से काम नहीं चल सकता। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा:—

"यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम्"

काव्यप्रकाश पृ० ५०७

वामनाचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है:—

"यस्यां पार्वत्याम् आनतः—प्रणतः अयं जनः नयात्ययं-नयस्य नीतेः अत्यय नाशं नीतिविश्लेषमित्यर्थः न याति नाधिगच्छति। कुतः अयदानतः अयस्य शुभावहविधेर्दानतः दानात् अर्थात्तयैव पार्वत्यास्य शुभावहविधि-दानादित्यर्थः।" काव्य प्रकाश टीका पृ० ५०७

यहां अर्थवैषम्य है अवश्य परन्तु वह चमत्कारयुक्त नहीं तथा उसका कारण आवृत्ति नही। यहां अर्थवैषम्य का कारण भिन्न शब्दों का सन्निवेश है। 'यदानतो' मे यद् तथा आनतो शब्द है। 'अयदानतो' में अय तथा दानतो शब्द हैं। इन भिन्न शब्दों से भिन्न अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है। यही कारण है कि यहां अर्थवैषम्य में चमत्कार नहीं। अर्थवैषम्य का चमत्कार तो दूर रहा यह कहना अनुचित न होगा कि यहां अर्थवैषम्य की प्रतीति ही नहीं होती। प्रतीति केवल यही होती है कि यहां विभिन्न शब्दों के समुदाय को समान उच्चारण का रूप दिया गया है। परन्तु यमक अलंकार के लिए इतना पर्याप्त नहीं। यह अलंकार तभी सम्भव है जब अर्थ-वैषम्य का कारण उन्हीं शब्दों की आवृत्ति हो तथा यह आवृत्ति चमत्कार का कारण हो। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक यमक का उदाहरण सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाता है कि इस श्लोक में चमत्कार अवश्य है तो हमारा उत्तर है कि यह चमत्कार आवृत्तिजनित अर्थवैषम्य के कारण नहीं अपितु वर्णध्वनि के कारण है। इसमें ऐसे सदृश वर्णों का विधान है जो प्रस्तुत भाव के अनुकूल हैं। जहां तक वर्णध्वनि के चमत्कार का सम्बन्ध है वह सदृश वर्णों के स्वभाव पर निर्भर करता है। उसका सम्बन्ध केवल इनके उच्चारण से होता है। इस उच्चारण के अन्तर्गत विभिन्न शब्द आते है या नहीं इससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

आलंकारिकों ने यमक के अनेकों भेदोपभेद किये हैं। ये भेद सदृश वर्णों की व्यवस्था के भेद पर आश्रित हैं। सदृश वर्णों की यह व्यवस्था श्लोक में अनेक प्रकार से सम्भव है।

यमक तथा अनुप्रास का रसों से कैसा सम्बन्ध है इस विषय का आनन्द-वर्धन ने सविस्तर वर्णन किया है। उनके अनुसार इन अलंकारों का विधान

शृङ्गार रस के प्रतिकूल है। यमक को तो उन्होंने शृङ्गार मे सर्वथा वर्जित बताया है। वे लिखते हैं:—

'शृङ्गारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धनात्।

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥" ध्वन्यालोक २।१४

"ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।

शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।" ध्वन्यालोक २।१५

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आनन्द का कथन है:—

"यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः।" ध्वन्यालोक पृ० २२१

ध्वनिवादी अलंकार को बाह्य आभूषण मानते हैं। अतः इस दशा में यमक का प्रकरण मे योग कठिन ही है। परन्तु यह बात तो सभी अलंकारो पर लागू होगी। ध्वनिवादी अलंकारों का स्वरूप बताकर औचित्य के आधार पर उनका रस आदि से सम्बन्ध जोड़ते हैं। इस प्रकार अलंकारों को पहले बताकर वे फिर औचित्य को एक समन्वय की शृङ्खला के रूप मे लाते है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अनुकूलता का विचार पूर्व आता है और उसके आधार पर भाषा जो रूप धारण करती है उसी के कतिपय भेद अलंकार है। ऐसा मानने से अलकारों के प्रकरण-विरोध का परिहार हो जाता है।

लाटानुप्रासः—

लाटानुप्रास का प्रायः सभी आलंकारिकों ने वर्णन किया है। प्राचीन आलंकारिकों में भामह तथा उद्भट ने इसका वर्णन किया है। भामह में तो इसकी ओर केवल संकेतमात्र है परन्तु उद्भट में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। भट्टि, दण्डी, वामन तथा रुद्रट ने इसका वर्णन नहीं किया है। भोज, मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ आदि ने इसका वर्णन किया है।

लाटानुप्रास की परिभाषा प्रायः सभी आलंकारिकों की समान है। भोज की परिभाषा निम्नलिखित है:—

"अर्थाभेदे पदावृत्तिः प्रवृत्त्या भिद्यते या"—सरस्वतीकण्ठाभरण २।१०८

मम्मट की परिभाषा इस प्रकार है:—

'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः'—काव्यप्रकाश सू० ११२

अन्य आलंकारिकों की परिभाषाएं भी इसी के समान है। इस परिभाषा के अनुसार लाटानुप्रास में तीन तत्त्व हैं:—शब्दावृत्ति, अर्थसादृश्य तथा तात्पर्यभेद। शब्दावृत्ति को हम उच्चारणसादृश्य कह सकते हैं। शब्द वर्णो का समुदाय है। अतः जहां तक उच्चारण-साम्य का प्रश्न है, इसमें तथा यमक एवं अनुप्रास में कोई विशेष भेद नहीं। परन्तु इसमें अन्य दो विभेदक तत्त्व हैं। ये हैं अर्थ-सादृश्य तथा तात्पर्यभेद। इनको साथ भिन्नाकार भिन्न-तात्पर्यैकार्थसादृश्य कहा जा सकता है। केवल अर्थसादृश्य कहना पर्याप्त नहीं, क्योंकि यह तो पुनरुक्त दोष होता है। उच्चारण-साम्य के इसके तथा अनुप्रास के उपादानों में अर्थ की दृष्टि से अन्तर होता है। अनुप्रास में उच्चारण-साम्य के उपादान वर्णादि निरर्थक होते हैं परन्तु इसमें वे सार्थक होते हैं। इसी सार्थक वर्णसमुदाय के सादृश्य विधान से यह अर्थसादृश्य निकलता है। इस प्रकार इसमें अर्थतत्त्व भी होता है। इस सादृश्ययुक्त अर्थतत्त्व में तात्पर्यभेद अन्वय के कारण होता है। उदाहरणतः "यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥"

—काव्यप्रकाश पृ० ४९१

इस श्लोक में 'दवदहनस्तुहिनदीधितिः' की आवृत्ति है। शब्दों का अर्थ भी दोनों दशाओं मे समान है परन्तु अन्वय करने पर तात्पर्य में भेद हो जाता है। पहली पक्ति मे तुहिनदीधिति उद्देश्य है तथा दवदहन विधेय है। इस प्रकार इसका अन्वय है:—

"तुहिनदीधितिर्दवदहनोऽस्ति"

दूसरी पंक्ति में दवदहन उद्देश्य है तथा तुहिनदीधिति विधेय है। इस प्रकार इसका अन्वय है:—"दवदहनस्तुहिनदीधितिरस्ति।" इसी बात को वामनाचार्य ने निम्न प्रकार से कहा है:—

"……पूर्वार्धे तुहिनदीधितौ दवदहनत्वं विधेयम्, उत्तरार्धे तु दवदहने तुहिनदीधितित्वं विधेयमित्युद्देश्यविधेयभावविपर्यासेन शाब्दबोधरूपान्वय-भेदात्तात्पर्यभेदोऽत्रेति बोध्यम्।" काव्यप्रकाश टीका पृ० ४९९

पहली पंक्ति में तुहिनदीधिति पर दवदहन का आरोप है तथा दूसरी पंक्ति मे दवदहन पर तुहिनदीधिति का आरोप है। आरोप में लक्षणा होती है। इसे सारोपा लक्षणा कहा जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण "गौर्वाहीकः" है। इसमे लक्ष्यार्थ जाड्य मान्द्य आदि गुण हैं।[1] ये गौ तथा वाहीक में समान रूप मे विद्यमान हैं। इस प्रकार 'दवदहनस्तुहिनदीधिति' मे भी लक्ष्यार्थ है। पूर्व पंक्ति में यह तापकरत्व के रूप मे है तथा दूसरी पंक्ति में शीतलत्व के रूप मे है। ऐसा होने पर भी पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति पर आरोप दवदहन का ही है तापकरत्व का नहीं तथ उत्तरार्ध में दवदहन पर आरोप तुहिनदीधिति का ही है शीतकरत्व का नहीं। यदि पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति पर तापकरत्व का आरोप हो तथा उत्तरार्ध मे दवदहन पर शीतकरत्व का आरोप हो तो दोनों अर्थो में भेद हो जाए और इस प्रकार यह लाटानुप्रास न रहे। परन्तु यहां तापकरत्व अथवा शीतकरत्व का आरोप विवक्षित नही। अतः यह लाटानुप्रास ही है।

दोनों पंक्तियों में अर्थ का जो अभेद है वह अभिधेय अर्थ के द्वारा है लक्ष्यार्थ के द्वारा नहीं। पूर्वार्ध में दवदहन का अर्थ दावानल है तथा लक्ष्यार्थ तापकर है। उत्तरार्ध में तुहिनदीधिति का अभिधेय अर्थ चन्द्र है तथा लक्ष्यार्थ शीतकर है। यहां चमत्कार अभिधेय अर्थ के सादृश्य के

१. देखिए काव्यप्रकाश पृ० ४७—४६

कारण है। लक्ष्यार्थ यहां है अवश्य परन्तु वह गौण है तथा अभिधेय अर्थ का उपकारक है।

अभिधेय अर्थ के आरोप के अनुसार यहां दो रूपक बनते हैं। कुछ के अनुसार यहां दो उपमाएं हैं। चन्द्रिकाकार का यही मत है। उनके अनुसार 'तुहिनदीधितिर्दवदहनतुल्यः दवदहनस्तुहिनदीधितितुल्यः'[1] यह व्याख्या है। जैसा हो यहां चमत्कार न तो दो रूपकों पर आश्रित है और न दो उपमाओं पर अपितु भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थकशब्दावृत्ति पर आश्रित है।

दो वस्तुओं की पारस्परिक उपमा को उपमेयोपमा कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला।'[2]

यहां कमला को मति के समान तथा मति को कमला के समान कहकर यह सिद्ध किया है कि कोई तृतीय वस्तु उनके तुल्य नहीं। इस प्रकार यहां चमत्कार तृतीयसदृशव्यवच्छेद के रूप में है और यह दो वस्तुओं के पारस्परिक सादृश्य के कारण है। परन्तु "यस्य न........." में ऐसी बात नहीं। यहां तुहिनदीधिति को दावानल के समान बताकर तथा दावानल को तुहिनदीधिति के समान बताकर यह अभिप्राय नहीं कि इनके सदृश तृतीय वस्तु नहीं। तुहिनदीधिति को भी दवदहनतुल्य बताने में यह प्रयोजन नहीं कि उन दोनों में वस्तुतः सादृश्य है, परन्तु इसके विपरीत प्रयोजन यह है कि अवस्था-विशेष में तुहिनदीधिति दवदहन का सा आचरण करता है। अतः तात्पर्य दोनों के सादृश्य में न होकर अवस्था-विशेष के प्रभाव से है। अतः यह उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं।

इसी प्रकार दोनों में यदि रूपक मानें तो भी यह स्पष्ट है कि यहां चमत्कार पारस्परिक आरोप के कारण नहीं। अतः यह लाटानुप्रास नामक भिन्न अलंकार है।

रुय्यक का लाटानुप्रास का उदाहरण निम्नलिखित है:—'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।'

---

१. काव्यप्रकाशटीका पृ० ४६६

२. सर्वस्व पृ० २०

यहां कमल शब्द की आवृत्ति है। उसका अर्थ भी समान है। परन्तु पहला कमल उद्देश्य है तथा दूसरा विधेय है। पहले का सम्बन्ध 'रविकिरणानुगृहीतानि' से है तथा दूसरे का 'भवन्ति' से है।

यहां चमत्कार का कारण भिन्न तात्पर्य के साथ कमल शब्द की आवृत्ति है। कमल से कमल का सादृश्य चमत्कार का कारण नहीं। यदि कमल का कमल से सादृश्य अभिप्रेत हो तो अनन्वय हो जाएगा। अनन्वय मे उसी वस्तु का उसी से सादृश्य दिखाकर अन्य सदृश वस्तु का निषेध किया जाता है। परन्तु कमल को कमल कहने से उपामानान्तरव्यवच्छेद से तात्पर्य नहीं। अतः यहां अनन्वय अलंकार नही।

विश्वनाथ ने लाटानुप्रास का अनन्वय से भेद बताते हुए इसी आवृत्ति का महत्त्व बताया है। उनका कथन है:—

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम्।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम्॥

साहित्यदर्पण पृ० ५२०

लाटानुप्रास में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि भी होती है। 'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि' में यह ध्वनि है। इसमें द्वितीय कमल शब्द शोभावत्त्वादि अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है। शोभावत्त्वादि द्वितीय कमल का लक्ष्यार्थ है और इसका व्यंग्यार्थ है कमल का सार्थक होना। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि उपादान लक्षणा पर आश्रित होती है। उपादान लक्षणा में अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है।[1] 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। अचेतन होने के कारण कुन्त का प्रवेश मे सम्बन्ध नही। अतः 'कुन्तयुक्ताः' अर्थ का आक्षेप होता है। यह लक्ष्यार्थ है। इसका व्यंग्यार्थ है पुरुषबाहुल्य। इसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में भी कमल शब्द लक्ष्यार्थ में संक्रमित हो जाता है और उससे व्यंग्यार्थ भी निकलता है। इतना होने पर भी यहां प्रधानता अलंकार की है। ध्वनि उसकी उपकारक है। अतः यह लाटानुप्रास का ही उदाहरण है।

---

१. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥, काव्य प्रकाश सू० १२

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

'त्वामस्मि वच्मि विदुषाम् समवायोऽत्र तिष्ठति ।'

काव्यप्रकाश पृ० ८३

'कुन्ताः प्रविशन्ति' काव्यप्रकाश पृ० ४३

प्रथम उदाहरण मे 'वच्मि' उपदेशादि रूप में परिणत हो जाता है तथा द्वितीय मे कुन्त शब्द कुन्तयुक्त पुरुष में परिणत हो जाता है। इनके व्यंग्यार्थ क्रमशः 'हितसाधनत्व' तथा पुरुषबाहुल्य हैं।

इन उदाहरणो की तुलना 'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि' से करने पर परस्पर भेद स्पष्ट है। इन उदाहरणों में चमत्कार केवल ध्वनि के कारण है, परन्तु 'रविकिरणा······' मे ध्वनि का सद्भाव होने पर भी यह कमल शब्द की आवृत्ति ही है जो चमत्कार का प्रधान कारण है।

अन्वय की दृष्टि से 'यस्य न सविधे······' तथा 'रविकिरणा······' की तुलना करने पर प्रतीत होगा कि पूर्व श्लोक में समान शब्दों का पारस्परिक अन्वय भिन्न है। यह अन्वय वाक्य के अन्य शब्दों के अन्वय पर निर्भर है। द्वितीय श्लोक में अन्वय की दृष्टि से समान शब्दों (कमल) का वाक्य के भिन्न शब्दों से सम्बन्ध है।

'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः' इस परिभाषा के अनुसार लाटानुप्रास के लिए आवश्यक है कि अन्वय-सम्बन्ध को अभिधेय अर्थ से भिन्न माना जाए। अभिहितान्वयवादी ऐसा ही मानते हैं। उनके अनुसार अभिधा शक्ति के द्वारा अन्वय का ज्ञान नहीं होता। इसके लिए एक अन्य वृत्ति की आवश्यकता है। यह तात्पर्यवृत्ति है।[1] इसके द्वारा शब्दों के अन्वय का ज्ञान होकर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। अतः अभिहितान्वयवादियों के अनुसार लाटानुप्रास एक पृथक् अलंकार माना जा सकता है। यदि अन्वय की पृथक् सत्ता न मानकर उसे अभिधेय अर्थ के ही अन्तर्गत कर लिया जाए तो यह अलंकार सम्भव नहीं। उस दशा में शब्दों का असम्बद्ध रूप में अर्थ प्रतीत न होकर अन्वित रूप में होगा। यही अन्वित अर्थ उनका अभिधेय अर्थ होगा। ऐसा नहीं कि पदों के

---

१. विशेष विवेचन के लिए देखिए काव्यप्रकाश टीका पृ० २५

पृथक् पृथक् अर्थ निकलें और बाद मे अन्वय के आधार पर उनको सम्बद्ध किया जाए। इस प्रकार इस दशा मे 'भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थक' शब्दावृत्ति कहना सम्भव नही होगा। यह तो तभी हो सकता है जब अन्वय पर आश्रित तात्पर्यार्थ अभिधेय से अतिरिक्त हो। अन्विताभिधानवादियों का यही मत है।[1] इनके अनुसार अन्वित शब्दो का ही अर्थ निकलता है। अतः अन्वय-ज्ञान के लिए किसी भिन्न व्यापार को मानने की आवश्यकता नही। इस प्रकार अन्वित अर्थ को अभिधेय अर्थ मानने से लाटानुप्रास मे प्रयुक्त समान शब्दों का अर्थ भिन्न हो जाएगा। उन्हें भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थक न कहकर भिन्नार्थक कहना होगा। यह भिन्नार्थकत्व तो यमक मे भी होता है। इस प्रकार लाटानुप्रास का यमक से कोई भेद न होगा।

अन्विताभिधानवादियों का उपर्युक्त मत समीचीन नहीं। 'गामानय' इस वाक्य मे अन्वित 'गाम्' शब्द के अर्थ का ज्ञान होने पर भी इस 'गाम्' शब्द का प्रयोग जब अन्य वाक्य मे किया जाएगा तब यह जानने की आवश्यकता बनी ही रहेगी कि इस शब्द का किस शब्दविशेष से सम्बन्ध है। इस शब्द का अन्य शब्द से सम्बन्ध है केवलमात्र इतने से काम नही चल सकता। यह ज्ञान भी चाहिए कि वह शब्द कौनसा है जिससे इसका सम्बन्ध है। इसी आधार पर उद्योतकार ने इस मत का खण्डन किया है।[2]

अन्विताभिधानवादी व्यवहार का आश्रय लेकर कहते है कि बालक को वाक्यार्थ के रूप में ही अर्थज्ञान होता है, पृथक् पृथक् शब्दार्थ के रूप में नहीं। अतः अन्वय के पृथक् ज्ञान की आवश्यकता नहीं। परन्तु हमारा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि श्लोकादि के अर्थज्ञान के लिए हमें ज्ञान की दो प्रक्रियाओं में से होना पड़ता है। पहली प्रक्रिया पृथक् पृथक् शब्दार्थज्ञान की है तथा दूसरी उनके अन्वयज्ञान की है। हमें प्रायः पृथक् पृथक् शब्दों का अर्थ ज्ञात होता है परन्तु श्लोक के अर्थ का ज्ञान इसीलिए नही होता क्योंकि

---

१. 'वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः'—काव्यप्रकाश पृ० २७

२. '.........अन्वितत्वेन शक्तावपि अन्वयविशेषभानायाकांक्षादिकमवश्यं कारणं वाच्यम्। एवं च विशेषरूपेणाशक्यस्यैव भानमिति त्वयाप्यवश्यं वाच्यमिति।'

उद्योत

काव्यप्रकाश टीका पृ० २७

उनके अन्वय का हमें ज्ञान नहीं। आरम्भ में व्यक्ति को शब्दार्थज्ञान किसी प्रकार ही हो ज्ञान की विकासशील स्थिति में अन्वय का पृथक् ज्ञान मानना ही पड़ेगा।

अतः अभिहितान्वयवादियों का मत समीचीन है और लाटानुप्रास जो अन्वयज्ञान की पृथक् सत्ता पर आश्रित है एक पृथक् अलंकार है।

आलंकारिकों ने नाम तथा पद के आधार पर इस अलंकार के भेद किये हैं। नाम प्रत्ययरहित होता है। इसे प्रातिपदिक कहते हैं। पद प्रत्यय-युक्त होता है। ये प्रत्यय सुप् तथा तिङ् के रूप में होते हैं। नाम में स्थित लाटानुप्रास नामगत कहलाता है तथा पद मे स्थित पदगत कहलाता है। मम्मट का लाटानुप्रास का भेद इसी प्रकार का है। पद के फिर दो भेद किए गए हैं। एक पद तथा अनेक पद। इस प्रकार पदगत लाटानुप्रास दो प्रकार का होता है। नाम की सत्ता समास में ही सम्भव है। अतः समासभेद के आधार पर इसके भेद किए गए हैं। ये नाम एक समास में हो सकते है अथवा भिन्न समासों मे अथवा समास एवं असमास मे।[1] इनमे मम्मट के पहले दो भेद तो नामगत कहे जा सकते हैं परन्तु समास एवं असमास वाले (वृत्त्यवृत्तिगत) भेद को नामगत कहना उचित नहीं। समासगत शब्द को तो नाम कहा जा सकता है परन्तु असमासगत शब्द नाम न होकर पद होगा। यदि पद में नाम की सत्ता मानकर नामगत लाटानुप्रास कहा जाता है तब तो प्रत्येक पद में नाम की सत्ता होने के कारण समस्त पदगत लाटानुप्रास नामगत लाटानुप्रास बन जाएंगे। अतः वृत्त्यवृत्तिगत लाटानुप्रास को नामगत कहना उचित नहीं। अतः मम्मटादि का लाटानुप्रास का वर्गीकरण उचित नहीं। नाम तथा पद के आधार पर लाटानुप्रास के भेद न करके स्वतन्त्र पद तथा परतन्त्र पद के आधार पर भेद करना उचित होगा। समासगत पद परतन्त्र होगा तथा असमस्त पद स्वतन्त्र होगा। समासगत पद तथा असमस्त पद दोनों मिलकर स्वतन्त्रपरतन्त्र पद कहलाएंगे। इस प्रकार लाटानुप्रास के तीन भेद हो जाएंगे—स्वतन्त्रपदाश्रय, परतन्त्रपदाश्रय तथा स्वतन्त्रपरतन्त्रपदाश्रय। उद्भट ने लाटानुप्रास का विभाजन इसी प्रकार किया है। इन भेदों के उन्होंने फिर अन्य भेद किये हैं। स्वतन्त्रपदाश्रय के दो भेद किए हैं—एकैकपदाश्रय तथा

१. वृत्तौ अन्यत्र तत्र वा। नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च। काव्यप्रकाश सू० ११५

पदसमुदायाश्रय। परतन्त्रपदाश्रय के भी दो भेद किए हैं:—एकपदाश्रय, पदद्वितयाश्रय। इस प्रकार इनके अनुसार लाटानुप्रास के कुल पाँच भेद है।[1] मम्मट के अनुसार भी इसके कुल पांच भेद होते है परन्तु दोनों के विभाजन-प्रकारों मे साधारण अन्तर है।

१. एवमयं पञ्चविधो लाटानुप्रासः प्रतिपादितः। स्वतन्त्रपरतन्त्राणां तस्य प्रत्येकं द्विभेदत्वात् स्वतन्त्रपरतन्त्रयोश्च समुदितयोरेकप्रकारत्वात्। लघुवृत्ति पृ० १०

शब्दालंकारों की प्राचीनता का कारण

शब्दालङ्कारों की उत्पति उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन कविता की उत्पत्ति है। इसका कारण यह है कि कविता के विषय तथा शब्दालङ्कारों के विषय मे एक नियत सम्बन्ध है। कविता का विषय हृदय की अनुभूति होता है तथा शब्दालङ्कारों का विषय .उच्चारण का सादृश्य-विधान है। हृदय की अनुभूति तथा उच्चारण के सादृश्यविधान मे गहरा सम्बन्ध है। हृदय की अनुभूति की अवस्था में समस्त स्नायुमण्डल तदनुकूल रूप धारण करता है और फलतः उच्चरित भाषा मे एक साम्य होता है। स्नायुमण्डल की समान अवस्था मे उच्चरित भाषा का जो स्वरूप होता है उसमे एक साम्य होना स्वाभाविक है।

हृदय की अनुभूति की अवस्था मे समस्त स्नायुमण्डल झंकृत हो जाता है। अतः इस स्थिति में उच्चरित भाषा मे एक प्रवाह होता है। यह प्रवाह एक प्रकार का साम्य ही है। कविता में छन्दों का जो विधान है वह इसी तथ्य का परिचायक है। छन्दों में स्वरों के आरोहावरोह का ध्यान रखा जाता है।। स्वरों के इस आरोहावरोह के फलस्वरूप भाषा में एक प्रवाह आ जाता है।

अनुभूति के समय कवि के हृदय की अवस्थाएं प्रधानतः दो प्रकार की होती है। ये है उल्लास तथा विह्वलता। कवि जब उल्लसित होता है तब वह गाता है और जब विह्वल होता है तब रोता है। इस प्रकार इन अवस्थाओं में उसकी भाषा में एक लय तथा साम्य होते है। भाषा का यह साम्य चित्तवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम होता है। इसके लिए पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। जो साम्यविधान पृथक् प्रयत्न का परिणाम होता है वह प्रस्तुत चित्तवृत्ति के अनुकूल न होने के कारण अनुचित होता है।

कवि की अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होती है उतना ही अधिक उसकी भाषा में साम्य होता है। यही कारण है कि स्तोत्रों मे जहां कवि की तन्मयता चरम सीमा को पहुँच जाती है हमें भाषा में अत्यन्त साम्य देखने को मिलता है।

ऋग्वेद में शब्दालंकार

अनुभूति तथा उच्चारण-साम्य में इस नियत सम्बन्ध के फलस्वरूप हमे ऋग्वेदकालीन कविता मे भी भाषा के सादृश्यविधान तथा उसके कतिपय स्वरूप शब्दालङ्कारों के दर्शन होते है । ऋग्वेद मे छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है:—

'परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये ।
वयो न वसतीरुप' ॥ १ । २५ । ४

'अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वां अभि पश्यति ।
कृतानि या च कर्त्वा' ॥ १ । २५ । ११

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम् ।
न देवमभिमातयः ॥ १ । २५ । १४

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः ।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः ॥
१ । १४३ । ३

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः । १० । १४ । ७

शब्दों की आवृत्ति भाषा के सादृश्य के अन्तर्गत आती है । इस आवृत्ति का ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है । इससे अर्थ मे एक विशेष चमत्कार आ गया है ।

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नावः समुद्रियः ॥ १ । २५ । ७

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः ।
वेदा य उपजायते ॥ १ । २५ । ८

यहां 'वेद' शब्द की आवृत्ति हुई । इससे ज्ञान का आधिक्य व्यक्त होता है ।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंह-
द्यः पर्वतान्प्रकुपितान् अरम्णात् ।

यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो
यो द्यामस्तभ्नात्स जनासः इन्द्रः ॥ २ । १२ । २

यहां 'यः' की आवृत्ति हुई है। इससे इन्द्र के भिन्न भिन्न रूप क्रमशः हमारे सम्मुख आते हैं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १० । ९० । १

यहां 'सहस्र' शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे शीर्ष आदि के बाहुल्य के साथ साथ उनकी संख्या मे समानता प्रतीत होती है।

उपर्युक्त उदाहरणों में आवृत्ति से जो चमत्कार उत्पन्न होता है उसमे आवृत्ति के साथ साथ आवृत्त शब्द का अर्थ भी जुड़ा हुआ है। अर्थज्ञान से रहित आवृत्तिमात्र यहां चमत्कार की जनक नहीं हो सकती। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों मे चमत्कारोत्पत्ति के लिए उच्चारणसाम्य तथा उच्चरित शब्दों के अर्थ इन दोनों के ज्ञान की अपेक्षा है।

रामायण एवं महाभारतः—

रामायण तथा महाभारत में प्रायः सभी प्रकार के अनुप्रासों का प्रयोग हुआ है।

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारद परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥ बाल काण्ड

एवं दत्त्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम्।
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः॥ ,,

सर्वे भवन्तस्सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः।
पत्नीभिस्सन्तु काकुत्स्था मा भूत् कालस्य पर्ययः॥ ,,

कृष्णः कमलपत्राक्षः कंसकालियसूदनः। आदि पर्व

प्रथम श्लोक में तकार तथा वकार की सकृत् आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है। इसी प्रकार द्वितीय श्लोक मे भी सकार की सकृत् आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है। तृतीय तथा चतुर्थ श्लोकों में क्रमशः स तथा क की असकृत् आवृत्ति है। अतः वहां वृत्त्यनुप्रास है।

रामायण तथा महाभारत में प्रायः शब्दो की आवृत्ति हुई है तथा उससे अर्थ मे चमत्कार आ गया है। इस आवृत्ति के स्वरूप तथा उस आवृत्ति से निकलने वाले अर्थ के प्रकार की दृष्टि से अनेक भेद सम्भव हैं। आवृत्ति के प्रकार की दृष्टि से प्रधानतः तीन भेद सम्भव हैं। कभी कभी समस्त आवृत्त शब्द स्वतन्त्र होते हैं, कभी कभी उनमें से एक अथवा अधिक स्वतन्त्र होते हैं तथा अन्य समास के अंग होने के नाते परतन्त्र होते हैं। कभी कभी वे सब समास के अंग होने के नाते परतन्त्र होते हैं।

निम्नलिखित उदाहरणों में आवृत्त शब्द स्वतन्त्र हैं:—

'एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याऽधिको लोके तपसश्च परायणम्॥' बालकाण्ड

'भवान् पिता भवान् माता भवान्नः परमो गुरुः।
तस्मात्स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम्॥' आदि पर्व

प्रथम श्लोक में 'एष.' की आवृत्ति हुई है। इससे राम के भिन्न भिन्न स्वरूप क्रमशः हमारे सम्मुख आते हैं। द्वितीय श्लोक मे 'भवान्' शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे भीष्म को क्रमशः भिन्न भिन्न रूपों में चित्रित किया गया है।

निम्नलिखित उदाहरणों में आवृत्त शब्दों मे से एक शब्द स्वतन्त्र है तथा अन्य परतन्त्र है:—

'गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदाऽनघः।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥' अयोध्या काण्ड

"तथोक्तवति सा काले वायुमेवाजुहाव ह।
तस्यां जज्ञे महावीर्यो भीमो भीमपराक्रमः ॥" आदि पर्व

प्रथम उदाहरण में 'शत्रुघ्नः' शब्द की आवृति हुई है। इसमे प्रथम शत्रुघ्न शब्द स्वतन्त्र है तथा द्वितीय परतन्त्र है। आवृत्ति के कारण यहां शत्रुघ्न के नाम की अन्वर्थता व्यक्त होती है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में भीम शब्द की आवृत्ति हुई है। इससे भीम के नाम की अन्वर्थता व्यक्त होती है।

इन उदाहरणों में शब्दों की आवृत्ति चमत्कारोत्पत्ति का आवश्यक अंग है। शत्रुघ्न तथा भीम के नामों की अन्वर्थता-प्रतीति के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि उनमें विद्यमान गुणों का निर्देश कर दिया जाए परन्तु यह भी आवश्यक है कि यह निर्देश उन्हीं शब्दों के द्वारा हो।

निम्नलिखित उदाहरणों में आवृत्त शब्द परन्त्र हैं:—

'ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम्।
प्रादुर्भूतं महद्भूतं महावीर्यं महाबलम् ॥ बालकाण्ड

कृतदारा कृतास्त्राश्च सधनास्ससुहृज्जनाः। बालकाण्ड

अथाम्बिकेयस्सामात्यः सकर्णस्सहसौबलः।
सात्मजः पार्थनाशस्य स्मरंस्तथ्यं जहर्ष ह ॥ आदि पर्व

उपर्युक्त श्लोकों में महत्, कृत आदि शब्द समास के अंग होने के नाते परतन्त्र हैं। प्रथम श्लोक में महत् की आवृत्ति हुई है। इससे महत्ता का उत्कर्ष व्यक्त होता है। द्वितीय उदाहरण मे कृत तथा सह की आवृत्ति हुई है। समास में होने के कारण सह का स रह गया है। इस आवृत्ति मे समृद्धि का आधिक्य व्यक्त होता है। तृतीय उदाहरण में भी यह बात है।

आवृत्ति से व्यक्त अर्थ की दृष्टि से आवृत्ति अनेक प्रकार की हो सकती है। विश्वनाथ ने इस दृष्टि से आवृत्ति अथवा कथितपद का निरूपण किया है।[1] रामायण तथा महाभारत मे आवृत्ति से व्यक्त होने वाले अर्थ अनेक प्रकार के है। ये क्रमिक विभिन्नरूपसम्पन्नता, उत्कर्ष, अनुकूलता, सार्थकता आदि है।

निभिन्नरूपसम्पन्नता की व्यक्ति की दशा मे विशेष्य की आवृत्ति होती है। 'एषः विग्रहवान् धर्मः·········''भवान् पिता·········' आदि पूर्वोक्त श्लोकों मे यही बात है। इन मे 'एषः' 'भवान्' आदि विशेष्य है।

उत्कर्ष की व्यक्ति की दशा मे विशेषणों की आवृत्ति होती है। 'प्रादुर्भूतं महद्भूतं·········' 'कृतदारा·········' 'अथाम्बिकेयस्सामात्यः ······' आदि श्लोकों मे यही बात है।

कभी कभी आवृत्त विशेषणों में से एक के साथ निषेधभाव जोड़कर प्रत्येक अवस्था की व्यक्ति की जाती है:—

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा ॥ बालकाण्ड

यहां अकृतास्त्र कृतास्त्र का सर्वथा विपरीत है। इससे यह व्यक्त होता है कि राम ऐसी अवस्था मे हों अथवा इसके सर्वथा विपरीत अवस्था मे हों अर्थात् वे किसी भी अवस्था में क्यों न हों राक्षस इनका सामना नहीं कर मकते।

अनुकूलता, सार्थकता आदि की व्यक्ति की दशा में आवृत्त शब्दों में से एक शब्द विशेषण अथवा धर्म होता है तथा अन्य विशेष्य अथवा धर्मी होता है। 'शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो·········' 'तस्यां जज्ञे महावीर्यो भीमो भीम-पराक्रमः' इन उदाहरणों मे यही बात है। इनमें प्रथम शत्रुघ्न तथा भीम शब्द विशेष्य हैं तथा द्वितीय शत्रुघ्न तथा भीम शब्द विशेषण के अग हैं।

१. कथितं च पदं पुनः। विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि। दैन्येऽथ लाटप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे गुण इत्येव। यथा··········'साहित्यदर्पण पृ० ४३३

काव्यकाल में शब्दालंकार

काव्यकाल के पूर्ववर्ती कवियों तथा काव्यकालीन कवियों मे शब्दालंकारों का स्थान स्थान पर प्रयोग हुआ है। प्रायः सभी प्रकार के अनुप्रास प्रयुक्त हुए हैं। अश्वघोष, कालिदास आदि पूर्ववर्ती कवियों में इनका प्रयोग सीमित है। तथा माघ, हर्ष आदि काव्यकालीन कवियों में इनका प्रयोग प्रचुर है। एक प्रकार से कालक्रम के अनुसार इन अलंकारों के प्रयोग में हमे विकास देखने को मिलता है।

अश्वघोष ने निम्नलिखिति श्लोक में वृत्त्यनुप्रास का प्रयोग किया है:—
'केचिद्भुजंगैः सह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन'। बुद्धचरित ७। २५

निम्नलिखित श्लोक में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग है:—
'स्निग्धाभिराभिर्हृदयंगमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः'।
—बुद्धचरित ७। ४६

कालिदास ने छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास अन्त्यानुप्रास का स्थान स्थान पर प्रयोग किया है:—

'अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥'
—रघुवंश १। १२

'पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥'
—रघुवंश २। ७४

'विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥' रघुवंश २। ९

प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति में 'प्र' की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है तथा द्वितीय पंक्ति में 'प्र' की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है। द्वितीय श्लोक की प्रथम पंक्ति में 'भ' की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है। तृतीय श्लोक में आद्य स्वर अ के साथ स्य की पद तथा पाद के अन्त में आवृत्ति होने के कारण पदान्त तथा पादान्त अन्त्यानुप्रास है।

कालिदास ने वर्णध्वनि का पूर्ण ध्यान रखा है। ओजोवर्णन के अवसर पर कठोर वर्णों का तथा माधुर्यवर्णन के अवसर पर कोमल वर्णों का प्रयोग करके उन्होंने भाव तथा भाषा मे एक सामञ्जस्य स्थापित किया है:-

'बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ।।'

रघुवंश २ । ३२

'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ।'

—रघुवंश २ । ४७

प्रथम श्लोक में ओजोवर्णन के अनुकूल कठोर वर्णों का प्रयोग हुआ है । यहां संयुक्त वर्ण द्ध तथा अन्य वर्ण श, ष्, ट् आदि कठोरता के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त दीर्घ समास का प्रयोग भी ओजस् की अभिव्यक्ति मे सहायक है। द्वितीय श्लोक की प्रथम पंक्ति में क्रमशः कठोरता तथा कोमलता की अभिव्यक्ति हुई है। इस पंक्ति के प्रथम चरण में कठोरता के अनुरूप कठोर वर्णो का तथा द्वितीय चरण मे कोमलता के अनुरूप कोमल वर्णों का प्रयोग हुआ है। इस पंक्ति के पठन अथवा श्रवणमात्र से क्रमशः इन कठोर तथा कोमल भावों का पता चल जाता है।

भवभूति इस वर्णध्वनि के चित्रण में अत्यन्त सिद्धहस्त है। उनका 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' श्लोक इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर उन्होंने इस वर्णध्वनि का चित्रण किया है। एक ही श्लोक मे चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ उन्होंने भाषा में परिवर्तन करके भाव तथा भाषा का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया है:—

भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष में इन अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है:-

'भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः ।।'

किरात १ । २८

'निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसितांगसंगिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ।।' माघ १ । २८

'क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥' नैषध १ । ६७

प्रथम श्लोक में छेकानुप्रास का प्रयोग हुआ है । द्वितीय श्लोक में च की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है । इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति मे वर्णों के सादृश्य-विधान के द्वारा भाषा में एक अद्भुत प्रवाह आ गया है तथा संगीत का सा आनन्द आता है । तृतीय श्लोक मे भी यही बात है । माघ तथा श्रीहर्ष वर्णों के इस सादृश्यविधान में सिद्धहस्त हैं । इन दोनों कवियों की भाषा भावों के सर्वथा अनुरूप है । निम्नलिखित उदाहरण इसके समर्थक हैं:—

'बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥'
माघ १ । ५४

'पतत्पतंगप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥'
माघ १ । १२

'स्फुरुद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य संगरे ।
निजस्य तेजःशिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे ॥'
नैषध १ । ९

प्रथम श्लोक में ओजस् का वर्णन है । अतः उसके अनुरूप कठोर वर्णों का प्रयोग हुआ है । द्वितीय श्लोक की प्रथम पंक्ति में तपोनिधि के नीचे उतरने का वर्णन है तथा द्वितीय पंक्ति में भगवान् कृष्ण के खड़े होने का वर्णन है । इस प्रकार इन दोनों पंक्तियों में गति का वर्णन है । परन्तु इन गतियों के प्रकार में अन्तर है । प्रथम गति में एक क्रम तथा समानता है । यह गति एक प्रकार से सरकने के रूप में है । अतः इसके द्योतक वर्ण भी कोमल तथा प्रवाहयुक्त हैं । द्वितीय गति इसके विपरीत अत्यन्त द्रुत तथा एक क्षण भर की है । ऐसी गति के समय समस्त स्नायुमण्डल में एक तनाव होना स्वाभाविक है । अतः इसके सूचक वर्ण भी कठोर हैं । इसी प्रकार तृतीय श्लोक की प्रथम पंक्ति में ओजोवर्णन के अनुकूल कठोर वर्णों का प्रयोग हुआ है ।

गद्य काव्य:—

संस्कृत के गद्य काव्यों में इन अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उच्चारण-साम्य, प्रवाह, लय आदि कविता की जो विशेषताएं होती हैं वे सब इनमें विद्यमान है। यही कारण है कि गद्यग्रन्थ काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। यही नहीं, संस्कृत गद्य की इन विशेषताओं को देखकर आलोचकों ने यहां तक कह दिया कि गद्य कवियों की कसौटी है।[1]

दशकुमारचरित के रचयिता दण्डी वर्णों के सादृश्यविधान के लिए सुप्रसिद्ध हैं। इन्होंने अधिकतर कोमल वर्णों का प्रयोग किया है। इन कोमल वर्णों के सादृश्यविधान के फलस्वरूप उनकी भाषा में लालित्य, संगीत का माधुर्य तथा प्रवाह देखने को मिलता है। 'दण्डिनस्तु पदलालित्यम्' यह उक्ति उपर्युक्त कथन की समर्थक है। निम्नलिखित उदाहरण में पदों का अपूर्व लालित्य है:—

''विरोधिदैवधिक्कृतपुरुषकारो दैन्यव्याप्ताकारो मगधाधिपतिरधिकाधिरमात्यसंमत्या मृदुभाषितया तया वसुमत्या मत्या कलितया च समबोधि।''

—दशकुमार चरित पृ० ११

यहां कोमल वर्णों तथा स्वरों के सादृश्यविधान के द्वारा भाषा में संगीत का सा प्रवाह है।

प्रसिद्ध गद्यलेखक बाण भी भाषा के सादृश्यविधान के लिए प्रसिद्ध हैं। इस सादृश्यविधान के फलस्वरूप उनकी भाषा मे प्रायः सभी प्रकार के अनुप्रासों का प्रयोग हुआ है:—

'आसीदशेषनरपतिशिरःसमभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरश्चतुरुदधिमालामेखलाया भुवो भर्ता प्रतापानुरागावनतसमस्तसामन्तचक्रः······ कर्ता महाश्चर्याणामाहर्ता क्रतूनामादर्शः सर्वशास्त्राणामुत्पत्तिः कलानां कुलभुवनं गुणानामागमः काव्यामृतरसानामुदयशैलो मित्रमण्डलस्योत्पातकेतुरहितजनस्य प्रवर्तयिता गोष्ठीबन्धानामाश्रयो रसिकानां प्रत्यादेशो धनुष्मतां धौरेयः साहसिकानामग्रणीर्विदग्धानां वैनतेय इव विनतानन्दजननो वैन्य इव चापकोटिसमुत्सारितसकलारातिकुलाचलो राजा शूद्रको नाम।'

—कादम्बरी पृ० ८—१०

---

१. 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'।

यहां 'मालामेखलाया' 'भुवो भर्ता' तथा 'समस्तसामन्तचक्र:' में क्रमशः मकार, भकार तथा सकार की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है। इससे उच्चारण मे एक साम्य की प्रतीति होती है। 'महाश्चर्याणाम्, क्रतूनां, शास्त्राणां, कलानां, गुणानां तथा रसानाम् में प्रत्येक के अन्त में आनाम् का सन्निवेश करके साम्य उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार मित्रमण्डलस्य तथा अहितजनस्य में से प्रत्येक के अन्त में अकार के बाद स्य का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के प्रयोग अन्त्यानुप्रास के अन्तर्गत आते है। गोष्ठीबन्धानां, रसिकानां आदि में भी यही बात है। 'वैनतेय इव विनतानन्दजननो' तथा 'समुत्सारितसकलाराति' मे क्रमशः वकार तथा सकार की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास हैं। इस प्रकार स्वरों एवं वर्णों के सादृश्यविधान के द्वारा उपर्युक्त गद्यांश में अपूर्व भाषा-सौष्ठव प्रतीत होता है।

बाण ने स्वरों एवं वर्णो के इस साम्य के अतिरिक्त वाक्यों एवं वाक्यांशों के विन्यास में भी एक साम्य उपस्थित किया है। जहां उन्होंने दीर्घ वाक्यों का प्रयोग किया है वहां उनके प्रायः सभी वाक्य दीर्घ एवं समासयुक्त मिलेंगे। परन्तु जहां छोटे वाक्यों का प्रयोग हुआ है वहां प्रायः सभी वाक्य छोटे तथा समासविहीन अथवा अल्पसमासयुक्त मिलेंगे। यही बात वाक्यांशों के प्रयोग पर चरितार्थ होती है। वाक्यों एवं वाक्यांशों की इस एकरूपता के फलस्वरूप उनकी भाषा में एक साम्य तथा प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

'क्व ते तद्धैर्यम्। क्वासाविन्द्रियजयः। क्व तद्वशित्वं चेतसः। क्व सा प्रशान्तिः। क्व तत्कुलक्रमागतं ब्रह्मचर्यम्।............। सर्वथा निष्फला प्रज्ञा। निर्गुणो धर्मशास्त्राभ्यासो, निरर्थकः संस्कारो निरुपकारको गुरूपदेशविवेको निष्प्रयोजना प्रबुद्धता निष्कारणं ज्ञानं यदत्र भवादृशा अपि रागाभिषंगैः कलुषीक्रियन्ते प्रमादैश्चाभिभूयन्ते'।

यहां छोटे वाक्यों तथा वाक्यांशों का प्रयोग हुआ है और फलतः भाषा में एक प्रवाह आ गया है।

गीतगोविन्दः—

भाषा के साम्यविधान की दृष्टि से जयदेव के गीतगोविन्द का विशिष्ट स्थान है। इसमें स्वरों एवं वर्णों का ऐसा अद्भुत साम्य है कि समस्त

श्लोक एक ही ध्वनि की श्रृङ्खला प्रतीत होता है। भाषा के इस साम्य-विधान के अतिरिक्त इसमें भावों एवं भाषा की अनुरूपता का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। भाषा एवं भावों मे ऐसा मञ्जुल सामञ्जस्य है कि भाषा के श्रवणमात्र से भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है:—

'ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥' गीतगोविन्द

यहां कोमल वर्णों के सादृश्यविधान के द्वारा कोमल अथवा मधुरभाव की स्वतः अभिव्यक्ति हो रही है। यहां हरि के विहार तथा नृत्य का मधुर वर्णन किया गया है। यह माधुर्य अर्थ तक ही सीमित नही अपितु भाषा में भी यह ओतप्रोत है। यहां केवल हरि ही नृत्य नहीं कर रहे हैं अपितु उनके नृत्य की अभिव्यञ्जक भाषा भी नृत्य कर रही है।

जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में सरस एवं कोमल भावों की अभिव्यञ्जना की है। अतः उनकी भाषा में तदनुकूल सरसता एवं कोमलता दृष्टिगोचर होती है। जयदेव अपनी कोमलकान्त पदावली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। उनका निम्नलिखित श्लोक उन पर सर्वथा चरितार्थ होता है:—

'यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलिं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥'

गीतगोविन्द

उनके श्लोकों में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास आदि विभिन्न अनुप्रासों का जो सुन्दर प्रयोग हुआ है वह भाषा एवं भावों की इस अनुरूपता का स्वाभाविक परिणाम है।

स्तोत्र साहित्य:—

स्तोत्रसाहित्य में भाषा एवं भावों की अनुरूपता तथा भाषा का सादृश्य-विधान अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है। स्तोत्रों की अभिव्यक्ति कवि की मार्मिक अनुभूति तथा तन्मयता के परिणाम है। इस अनुभूति तथा तन्मयता के समय कवि के हृदय में केवल एक ही भावना रहती है और

वह है अपने आराध्यदेव के प्रति भक्ति की तीव्रता। भक्ति की यह तीव्रता यद्यपि आराध्य देव की महत्ता से उत्पन्न होती है और इस महत्ता के कतिपय कारण भी हैं परन्तु कवि का उद्देश्य इन कारणों के आधार पर आराध्यदेव की महत्ता का प्रतिपादन करना न होकर केवल अपने भावो के वेग के लिए अनुरूप भाषा ढूंढना होता है। इस भाषा में यद्यपि महत्ता के कारण भी प्रसंगवश आ जाते हैं परन्तु वे केवल गौण होते हैं। कवि का प्रधान उद्देश्य अपने समस्त भाषण-अवयवों को हृदय की अनुभूति के अनुरूप बनाकर उस अनुभूति को भाषण-अवयवों के माध्यम के द्वारा प्रवाहित करना होता है। ऐसी दशा में स्वरों एवं वर्णों का आरोहावरोह एवं साम्यविधान स्वाभाविक है।

कवि जहां अपने आराध्यदेव के कोमल रूप का वर्णन करता है वहां उसकी भाषा भी कोमल एवं मधुर होती है परन्तु जहां वह अपने आराध्य देव के ओजस्वी रूप का वर्णन करता है वहां उसकी भाषा कठोर एवं परुष होती है। निम्नलिखित उदाहरण में कठोर भाषा का प्रयोग इसी बात को लक्ष्य करके हुआ है:—

'जयत्वदभ्रविभ्रमभ्रमद्भुजंगमस्फुरद्धगद्धगद्विनिर्गमत्करालभालहव्यवाट्। धिमिद्धिमिद्धिमिध्वनन्मृदङ्गतुङ्गमंगलध्वनिक्रमप्रवर्तितप्रचण्डताण्डवः शिवः।'

—स्तोत्ररत्नाकर पृ० १७३

स्तोत्रसाहित्य में भाषा के साम्यविधान के फलस्वरूप छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास आदि प्रायः सभी शब्दालंकारों का प्रयोग हुआ है:-

"गोविन्दं गोकुलानन्दं गोपालं गोपिवल्लभम्। गोवर्धनोद्धरं धीरं तं वन्दे गोमतीप्रियम्॥

नारायणं निराकारं नरवीरं नरोत्तमम्। नृसिंहं नागनाथं च तं वन्दे नरकान्तकम्॥"

—स्तोत्ररत्नाकर पृ० ८९

यहां प्रथम श्लोक में ग की तथा द्वितीय श्लोक में न की असकृत् आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास है। प्रथम श्लोक में ग के साथ ओ की भी आवृत्ति हुई है। इतना ही नहीं इन दोनों श्लोकों के प्रायः प्रत्येक पद के अन्त में अनुस्वार का विधान करके उच्चारण-साम्य में और अधिक वृद्धि की गई है। प्रत्येक श्लोक के अन्तिम पद से पूर्व 'तं वन्दे' का प्रयोग भी

सादृश्यविधान मे सहायक है। इस प्रकार यह समस्त स्तोत्र सादृश्यों एवं अन्तःसादृश्यों की एक सुन्दर शृङ्खला है।

अन्त्यानुप्रास का स्तोत्रसाहित्य में स्थान स्थान पर सुन्दर प्रयोग हुआ हैः—

'नित्यानन्दकरी परा भयकरी सौन्दर्यरत्नाकरी निर्धूताखिलघोरपावनकरी प्रत्यक्षमाहेश्वरी। प्रालेयाचलवंशपावनकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी॥' —स्तोत्ररत्नाकर पृ० ६४-६७

'विश्वेश्वराय नरकार्णवतारणाय कर्णामृताय शशिशेखरधारणाय। कर्पूर-कान्तिधवलाय जटाधराय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
—स्तोत्ररत्नाकर पृ० १८३-१८४

प्रथम स्तोत्र में अ के बाद री की आवृत्ति से तथा द्वितीय स्तोत्र में आ के बाद य की आवृत्ति से उच्चारण की दृष्टि से एक सुन्दर साम्य उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त प्रथम स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक के अन्त मे 'भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी' का सन्निवेश तथा द्वितीय स्तोत्र में प्रत्येक श्लोक के अन्त में 'दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय' का सन्निवेश भी इन स्तोत्रों में विद्यमान उच्चारण-साम्य में सहायक है।

इन स्तोत्रों में कही कहीं पाद अथवा पद के अन्त में व्यञ्जनसहित स्वर की आवृत्ति न होकर केवल स्वर की आवृत्ति हुई है। यह आवृत्ति भी साम्यविधान में सहायक हैः—

'नमस्ते शरण्ये शिवे सानुकम्पे नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वरूपे। नमस्ते जगद्वन्द्यपादारविन्दे नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे॥......॥"
—स्तोत्ररत्नाकर पृ० ५३

इस स्तोत्र में यही बात है।

स्तोत्रसाहित्य में कतिपय स्तोत्र आराध्य देव के प्रति भक्तिभावना के फलस्वरूप अभिव्यक्त न होकर ज्ञानस्थिति के अनुभूतिरूप में परिणत होने के फलस्वरूप अभिव्यक्त हुए हैं। वेदान्तस्तोत्र इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इनमें भी स्तोत्रों की उपर्युक्त सामान्य विशेषताए मिलती हैं।

श्रीमच्छंकराचार्य के निम्नलिखित स्तोत्र से यह स्पष्ट हैः—

"भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।
दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः । भज गोविन्दं० ॥"

—स्तोत्ररत्नाकर पृ० ४१२-४१५ ।

यहाँ शब्दों की आवृत्ति तथा अन्त्यानुप्रास का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में शब्दालंकारों का विकास

अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों मे भरतमुनि का नाट्यशास्त्र सबसे प्राचीन है। इस ग्रन्थ मे शब्दालङ्कारों में केवल यमक का निरूपण है। इससे हम यही अनुमान लगाते हैं कि यमक से आरम्भ होकर शब्दालङ्कारों का क्रमिक विकास हुआ।

यमक की परिभाषा नाट्यशास्त्र मे निम्न प्रकार से की गई है:—

"शब्दाभ्यासः यमकम्" ॥

इस परिभाषा मे केवल उच्चारणसाम्य की ओर संकेत है। परन्तु इस परिभाषा के लिए जो उदाहरण दिए गए हैं उनमे से अनेक में हमारा ध्यान अंशतः अर्थचमत्कार की ओर भी जाता है। इस अर्थतत्त्व को परिभाषा का अङ्ग नही बनाया गया है। यह अर्थतत्त्व यमक के उदाहरणों मे दो रूपों में मिलता है—अर्थसादृश्य के रूप मे तथा अर्थवैदग्ध्य के रूप मे। निम्न-लिखित उदाहरण में अर्थतत्त्व का प्रथम रूप है:—

केतकीकुसुमपाण्डुरदन्तः, शोभते प्रवरकाननहस्ती।
केतकीकुसुमपाण्डुरदन्तः, शोभते प्रवरकाननहस्ती॥

—नाट्यशास्त्र १७-७०।

निम्नलिखित उदाहरण में अर्थतत्त्व का द्वितीय रूप है:—

फुल्ले फुल्ले सभ्रमरे वाभ्रमरे वा
रामा रामा विस्मयते च स्मयते च।

नाट्यशास्त्र १७-६८।

नाट्यशास्त्र में यमक के अनेक उदाहरणों में अर्थगत इस आंशिक चमत्कार का होना स्वाभाविक है। इसका कारण यह है कि जहां उच्चारण-सादृश्य होता है वहां अनेक दशाओं मे अर्थगत आंशिक चमत्कार भी सम्भव है। यदि उच्चारणसादृश्य का क्षेत्र एक आध व्यञ्जन की आवृत्ति

तक सीमित रहे तब तो हमारा ध्यान केवल उच्चारणसादृश्य तक सीमित रहता है परन्तु उस क्षेत्र में यदि स्वरों एवं व्यञ्जनों के समुदाय की आवृत्ति आ जाए तो हमारा ध्यान अर्थगत चमत्कार की ओर भी जा सकता है। स्वरों एवं व्यञ्जनों के समुदाय की आवृत्ति के फलस्वरूप समान उच्चारण वाले जो विभिन्न शब्द बनते हैं उनके अर्थगत सादृश्य अथवा वैषम्य पर भी हम विचार करने लगते हैं।

इस प्रकार उच्चारणसादृश्य होने पर चमत्कार की तीन अवस्थाएं होती हैं—केवल उच्चारणसादृश्य का चमत्कार, उच्चारणसादृश्य के साथ अर्थ-सादृश्य का आंशिक चमत्कार तथा उच्चारणसादृश्य के साथ अर्थवैषम्य का आंशिक चमत्कार। नाटयशास्त्र में चमत्कार की इन तीनों अवस्थाओं के आधार पर अलङ्कारों का निरूपण न होकर उच्चारणसादृश्य के आधार पर केवल एक यमक का निरूपण किया गया है। इस प्रकार वहां इन तीनों अवस्थाओं को एक मे मिला दिया गया है।

भामह के शब्दालङ्कारों के निरूपण पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होगा कि उन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर बनने वाले तीन अलङ्कारों की पृथक्ता तो अंशतः स्वीकार की है, परन्तु उस पृथक्ता का आधार उपर्युक्त सिद्धान्त को न बताकर उच्चारण-सादृश्य के स्वरूपभेद को बताया है। भामह ने पहले अनुप्रास एवं यमक इन दो शब्दालङ्कारों का निर्देश किया है।[1] इसके बाद ग्राम्यानुप्रास तथा लाटीयानुप्रास का उल्लेख किया है जो भामह के अनुसार अनुप्रास के भेद प्रतीत होते हैं।[2] अनुप्रास के इन भेदों को यदि पृथक् अलङ्कार मान लिया जाए अथवा ग्राम्यानुप्रास को अनुप्रास कह दिया जाए तथा लाटीयानुप्रास को पृथक् अलङ्कार कहा जाय तो तीन

१. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवाऽन्यैरुदाहृताः॥

—काव्यालङ्कार २–४

२. ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।

—काव्यालङ्कार २–६

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।

—काव्यालङ्कार २–८

अलङ्कार हो जाते हैं। इस प्रकार भामह के मत एवं इन तीनों अलङ्कारों के पृथक्तासम्बन्धी मत में विशेष अन्तर नही।

पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त को इन अलङ्कारों पर लागू करके हम कह सकते हैं कि अनुप्रास में केवल उच्चारणसादृश्य होता है, लाटीयानुप्रास अथवा लाटानुप्रास में उच्चारणसादृश्य के अतिरिक्त अर्थसादृश्य भी होता है तथा यमक मे उच्चारणसादृश्य के अतिरिक्त अर्थवैषम्य होता है। भामह ने इन अलङ्कारों के जो उदाहरण दिए है उनमे ये तत्त्व विद्यमान हैं।[1] परन्तु इन अलङ्कारों के भामह ने जो लक्षण किए हैं उनमे केवल उच्चारणसादृश्य के स्वरूपविशेष की ओर संकेत है। भामह ने अनुप्रास का लक्षण 'सरूपवर्ण-विन्यासः'[2] किया है। अतः वर्णसाम्य को भामह अनुप्रास कहते हैं। यमक को भामह ने पदाभ्यास कहा है।[3] अतः पदसाम्य उनके अनुसार यमक है। वर्णसाम्य तथा पदसाम्य उच्चारणसाम्य के भेद हैं। अतः हम कह सकते हैं कि भामह ने उच्चारणसाम्य के भेदों को शब्दालङ्कारों के विभाजन का आधार बनाया है। परन्तु साथ में यदि हम यह कहें कि भामह शब्दालङ्कारों के विभाजन के समय पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त का भी अप्रत्यक्ष रूप से अनुसरण कर रहे थे तो अनुचित न होगा। भामह के शब्दालङ्कारों के उदाहरणों पर इस सिद्धान्त का पूर्णतः लागू होना हमारे इस मत को पुष्ट करता है।

अपने शब्दालङ्कारों के लक्षणों में पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त को न अपनाकर उच्चारणसादृश्य के भेदसम्बन्धी सिद्धान्त को अपनाने से भामह का शब्दालङ्कार-

---

१. काव्यालङ्कार में अनुप्रास, लाटीयानुप्रास तथा यमक के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं:—

किं तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम्। २–५

दृष्टिं दृष्टिसुखां धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदितः।—२–८

साऽधुना साधुना तेन राजताऽराजताऽऽभृता।

सहितं सहितं कर्तुं सङ्गतं सङ्गतं जनम्॥—२–११

२. काव्यालङ्कार २–५

३. देखिये काव्यालङ्कार २–६

विवेचन सन्तोषजनक नहीं हो सका है। भामह ने अनुप्रास एवं यमक का भेद वर्णसाम्य एवं पदसाम्य के भेद पर आश्रित बताया है। परन्तु जहां तक उच्चारणसाम्य का प्रश्न है इस दृष्टि से हमें इन दोनों अलङ्कारों से उत्पन्न चमत्कार में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। अतः केवल वर्णसाम्य एवं पदसाम्य के भेद के आधार पर इन दोनों अलङ्कारों का भेद सन्तोषजनक प्रतीत नही होता। दूसरे केवल उच्चारणसादृश्य के भेदों के आधार पर शब्दालङ्कारों का विवेचन करने से लाटीयानुप्रास को अनुप्रास तथा यमक से पृथक् मानने का कोई आधार नहीं रह जाता। भामह के लाटीयानुप्रास में पदसाम्य है। अतः भामह के अनुसार वह यमक के अन्तर्गत चला जाना चाहिए। परन्तु उन्होंने ऐसा नही किया है।

भामह के शब्दालङ्कारविवेचन मे जो दोष थे उनका निराकरण उद्भट ने कुछ अंशों तक कर दिया है। उद्भट ने भामह के उच्चारणसादृश्य के सिद्धान्त को अधिक समीचीनता के साथ अपनाया है तथा इस सिद्धान्त के साथ अर्थसादृश्य के सिद्धान्त की भी उद्भावना की है। उद्भट के अनुसार उच्चारणसादृश्य पर आश्रित अलङ्कार छेकानुप्रास तथा अनुप्रास हैं।[1] यमक का उन्होने निरूपण नहीं किया क्योंकि उच्चारणसादृश्य के भेद के आधार पर किए हुए भामह के अनुप्रास तथा यमक के पृथक्करण की असमीचीनता सम्भवतः उन्होंने समझ ली और अर्थवैषम्य के आंशिक चमत्कार की ओर उनका ध्यान नहीं गया। उच्चारणसादृश्य तथा अर्थसादृश्य पर आश्रित अलङ्कार को उन्होंने लाटानुप्रास कहा तथा इसका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया।[2]

उच्चारणसादृश्य के प्रसङ्ग में उद्भट ने एक प्रमुख सिद्धान्त का निरूपण

---

१. छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ। —काव्यालङ्कारसारसंग्रह १–३

अनुप्रास पर की हुई इन्दुराज की निम्नलिखित वृत्ति से यह स्पष्ट है कि उसमें उच्चारणसादृश्य होता हैः—सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।

पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥—लघुवृत्ति पृष्ठ ४

२. स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते॥—काव्यालङ्कारसारसंग्रह १–८

किया है। यह सिद्धान्त है उच्चारण का भावानुकुल होना।[1] उद्भट का अनुप्रास इसी तत्त्व पर आश्रित है। परवर्ती आलङ्कारिकों ने अपने वृत्त्यनुप्रास का निरूपण उद्भट के इसी अनुप्रास के आधार पर किया है।

वस्तुतः देखा जाए तो केवल उच्चारणसादृश्य का काव्य में विशेष महत्त्व नहीं। काव्य मे जहां जहां उच्चारणसादृश्य होता है वहां वहां उच्चारण का भावानुकूल होना समीचीन है। परन्तु नाटयशास्त्र मे केवल उच्चारणसादृश्य का निरूपण कर दिया गया था। अतः उच्चारण तथा भावों के सादृश्यसम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण करने पर भी उद्भट परम्परा से आते हुए सिद्धान्त का निराकरण नही कर सके और उस पर आश्रित छेकानुप्रास की उन्होंने सत्ता स्वीकार की। यह छेकानुप्रास कालान्तर में भी चलता रहा।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उद्भट के समय में अनुप्रास तथा लाटानुप्रास ने लगभग आधुनिक तथा परिष्कृत रूप प्राप्त कर लिया था। परन्तु यमक के परिष्कृत रूप का आविर्भाव अभी शेष था। इसका आविर्भाव हमें वामन के काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में मिलता है। वामन ने यमक की परिभाषा निम्नप्रकार से की है:—

"पदमनेकार्थाक्षर वावृत्तं स्थाननियमे यमकम्"।

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४-१-१

इस परिभाषा मे अनेकार्थता अथवा अर्थवैषम्य का स्पष्ट उल्लेख है। रुद्रट तथा भोज ने भी यमक में इस अर्थवैषम्य का निर्देश किया है।[2] मम्मट ने यमक की परिभाषा मे यमक के इस नवीन रूप तथा प्राचीन रूप का सामञ्जस्य करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यमक में अर्थवैषम्य का निर्देश अवश्य किया है परन्तु यह अर्थवैषम्य वहां प्रत्येक दशा में आवश्यक नही।

१. इन्दुराज की निम्नलिखित वृत्ति से यह स्पष्ट है:—

तासु च रसाद्यभिव्यक्त्यानुगुण्येन पृथक् पृथगनुप्रासो निबध्यते।

—लघुवृत्ति पृष्ठ ६

२. तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम्।

पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य"॥ —काव्यालङ्कार ३-१

"विभिन्नार्थैकरूपाया यावृत्तिर्वर्णसंहतेः"। —सरस्वतीकण्ठाभरण २-५८

यह अर्थवैषम्य तभी होगा जब विभिन्न वर्णों का कोई अर्थ निकलता हो। अर्थ न निकलने पर उनके अनुसार यमक में अर्थवैषम्य का प्रश्न नहीं उठता। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः"।

—काव्यप्रकाश सूत्र ११७

यमक के निरूपण के समय रुय्यक में हमें मम्मट की यह सामञ्जस्य-बुद्धि नहीं दिखाई देती। मम्मट ने यमक की परिभाषा में नवीन दृष्टिकोण को स्थान देकर उसका आदर तो किया था, रुय्यक ने तो प्राचीनता के मोह में इस नवीनता का सर्वथा तिरस्कार कर दिया है। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यम् यमकम्"। —सर्वस्व सूत्र ६

इस परिभाषा में अर्थवैषम्य की ओर संकेत नहीं।

तृतीय अध्याय

अर्थालंकारों में सादृश्य

कवि का एक उद्देश्य प्रायः वस्तु के दर्शन से उत्पन्न अपनी अनुभूति को व्यक्त करना होता है। इस दशा मे वह वस्तु का स्वरूपनिबन्धन न करके प्रतिभास-निबन्धन करता है। यदि मुख उसका वर्ण्यविषय है तो वह मुख का बाह्य और स्थूल वर्णन न करके मुखदर्शन से उत्पन्न अपनी सौन्दर्यभावना को अभिव्यक्त करेगा। यह सौन्दर्यभावना मुखदर्शन से उत्पन्न अवश्य हुई है परन्तु इसमें कवि की कल्पना का अंश मिला हुआ है। यह सौन्दर्यभावना बाह्य सौन्दर्य से भिन्न है। अतः सुन्दर शब्द के प्रयोग के द्वारा इसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। कवि अपने वर्णन के द्वारा पाठक को उसी सौन्दर्यानुभूति की मानसिक स्थिति मे ले जाना चाहता हैं जिसमे वह मुखदर्शन के द्वारा पहुँचा है। 'मुख सुन्दर है' इस प्रयोग के द्वारा पाठक उस स्थिति मे नही पहुँचाया जा सकता। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि कवि मुख से सादृश्य रखने वाली ऐसी वस्तुओं का वर्णन करे जिनका वर्णन पाठक को अभीष्ट भाव की अनुभूति कराने मे समर्थ हो। इस बात को ध्यान मे रखकर रुद्रट कहते है:—

'सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिस्तदौपम्यम् ॥[1]

मुख के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि कमल, चन्द्र आदि ऐसी वस्तुओं से मुख का सादृश्य बताता है जो लोक में अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इन वस्तुओं क साथ सादृश्य के वर्णन से पाठक को वह सौन्दर्यानुभूति सहज ही हो जाती जो 'मुख सुन्दर है' केवल इतना कहने से सम्भव नहीं। चन्द्र कमल आदि के साथ सौन्दर्य की भावना जुड़ी हुई है। ये सौन्दर्य के उपमान हैं। उपमान की परिभाषा इस प्रकार है:—

"साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्धः पदार्थः उपमानम्" बालबोधिनी पृ० ५४५

---

१. काव्यालंकार ८। १

चन्द्र, कमल आदि का सौन्दर्य लोक में प्रसिद्ध है। अतः 'मुखं चन्द्र इव सुन्दरम्' ऐसा कहने से हमारी सौन्दर्य-भावना जागृत हो जाती है। 'मुखं सुन्दरम्' ऐसा कहने से हमारी जो स्थूल भावना थी वह अब कल्पना के जगत् में पहुँच जाती है और इस प्रकार हम कवि की मानसिक स्थिति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। अतः सादृश्यविधान एक माध्यम है जो पाठक को कवि की मनोभूमि तक पहुँचाता है।

इस सादृश्यविधान को अपनाकर कवि जिस भाषा का प्रयोग करता है वे ही सादृश्यमूलक अलंकार हैं। भावों की अभिव्यक्ति में इन अलंकारों का प्रमुख हाथ है। संस्कृत के आलंकारिकों ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है। अर्थालंकारों के विवेचन में उन्होंने इनके जो मूल तत्त्व निर्धारित किए है उनमें सादृश्य को प्रमुख माना है।

रुद्रट ने अर्थालंकारों के चार मूल तत्त्व माने हैं। ये वास्तव, अतिशय, औपम्य तथा श्लेष हैं।[1] इस प्रकार इन चारों तत्त्वों में औपम्य अथवा सादृश्य भी एक तत्त्व है। रुद्रट ने उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य एवं स्मरण को इसी औपम्य के भेद माना है।[2]

दण्डी का उपमा अलंकार का विवेचन अत्यन्त विस्तृत है। इन्होंने उपमा के अनेक भेद किए हैं। परवर्ती आलंकारिकों ने इन्हें स्वतन्त्र अलंकार बना दिया है। दण्डी की अन्योन्योपमा, अद्भुतोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, असाधारणोपमा, प्रतिवस्तूपमा, मोहोपमा तथा उत्प्रेक्षितोपमा परवर्ती आलंकारिकों के क्रमशः उपमेयोपमा, अतिशयोक्ति, सन्देह, निश्चय, अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान् तथा प्रतीप अलंकार हैं। दण्डी का उपमा-संबंधी यह विस्तृत विवेचन इन अनेक अलंकारों की सादृश्यमूलकता का
।

---

१. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ काव्यालंकार १। ७

२. उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः॥
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः॥ काव्यालंकार ८। २, ३

वामन ने समस्त अलंकारों को उपमाप्रपञ्च कहकर[1] उनकी सादृश्य-मूलकता स्पष्टतः स्वीकार की है। रुय्यक ने अर्थालंकारों के मूल तत्त्वों में औपम्य को माना है। विद्यानाथ ने भी इसे एक तत्त्व माना है।[2] उन्होंने इसके लिए साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है।[3] अप्पयदीक्षित ने अनेक अलंकारों को उपमा के भेद बताकर अलंकारों की सादृश्यमूलकता स्वीकार की है। उनके अनुसार एक उपमा ही भिन्न भिन्न रूप धारण करती हुई भिन्न भिन्न अलंकारों में परिवर्तित हो जाती है।[4] यही नहीं उन्होंने तो यहां तक कह दिया है कि जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार उपमा से भी हो जाता है।[5]

अनेक आलंकारिकों ने वक्रोक्ति अथवा अतिशय को अलंकारों का मूल तत्त्व माना है। भामह की वक्रोक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है ही।[6] यह वक्रोक्ति एक

---

१. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः—काव्यालंकारसूत्र ४।३।१

२. 'अर्थालंकाराणां चातुर्विध्यम्—केचित् प्रतीयमानवास्तवाः, केचित् प्रतीयमानौपम्याः, केचित् प्रतीयमानरसभावादयः, केचिदस्फुटप्रतीयमाना इति।'

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २४५

३. 'साधर्म्यं त्रिविधम्—भेदप्रधानम्-अभेदप्रधानम्, भेदाभेदप्रधानं चेति।'

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २४६

४. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयन्ती काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा। सैवोक्तिभेदेनानेकालंकारभावं भजते। तथा हि चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमा……। मुखं मुखमिवेत्यनन्वयः………मुखस्य पुरतः चन्द्रो निष्प्रभ इत्यप्रस्तुतप्रशंसा। एवमुक्तानेकालंकारविवर्तवतीयमुपमा॥' चित्रमीमांसा पृ० ६

५. 'तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा॥' —चित्रमीमांसा पृ० ६

६. 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥'

—भामहालंकार २।८५

प्रकार का अतिशय है। 'विवक्षा वा विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी'[१] कहकर दण्डी ने इस अतिशय को स्वीकार किया है। अभिनव के अनुसार यह अतिशय 'सर्वालंकारसामान्यरूपम्' है।[२] मम्मट ने इसके लिए 'प्राणत्वेनावतिष्ठते'[३] शब्द का प्रयोग किया है। कुन्तक के वक्रोक्तिसम्प्रदाय का तो यह प्राण ही है।

सादृश्य की इस अतिशय के साथ तुलना करने पर प्रतीत होगा कि अनेक अवस्थाओं में सादृश्य इस अतिशय के मूल में रहता है। अतिशय का प्रयोजन भी कवि की अनुभूति को पाठक तक पहुँचाना होता है। यदि भुजाओं की दीर्घता कवि का वर्ण्य विषय है तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसमें अतिशय लाना आवश्यक हो जाता है। यह अतिशय दीर्घतारूपी साधारणधर्म के आधार पर होता है। कवि ऐसे उपमान का वर्णन करता है जिसमें साधारणधर्म का अतिशय हो। साधारणधर्म से असम्बद्ध अन्य वस्तु का वर्णन नहीं किया जा सकता। अतिशय उस वस्तु को मानकर चलता है जिसका अतिशय अभिप्रेत है और यह वस्तु साधारणधर्म ही सम्भव है। यह साधारणधर्म प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में सम्बन्ध स्थापित करता है। जो साधारणधर्म प्रस्तुत में अल्पमात्रा में रहता है वही अप्रस्तुत मे अतिशयित मात्रा में रहता है। इसीलिए उपमान की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है:—

'अधिकगुणवत्त्वेन सम्भाव्यमानमुपमानम्' बालबोधिनी पृ० ५४५

भुजाओं की दीर्घता को अभिव्यक्त करने के लिए उनका अर्गला से सादृश्य दिखाकर अतिशय का वर्णन इसीलिए किया जाता है क्योंकि अर्गला में दीर्घतारूपी साधारणधर्म का अतिशय है। और इस अतिशय का प्रयोजन भी यही है कि दीर्घता के अतिशय से युक्त अर्गलाओं-सदृश भुजाओं के वर्णन से हम कल्पना की उस स्थिति में पहुँच जाएं जिसमें कवि दीर्घ

---

१. 'विवक्षा वा विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा॥' काव्यादर्श २। २१४

२. History of Sanskrit Poetics–P. 65

३. 'सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते'……।
काव्यप्रकाश पृ० ७४३

भुजाओं के दर्शन से पहुँचा है और फलतः हमारी तथा कवि की कल्पना-स्थितियों में साम्य स्थापित हो जाए । यद्यपि दीर्घता की दृष्टि से भुजा तथा अर्गला में मात्रा-भेद है परन्तु कवि तथा पाठक की कल्पनाजन्य स्थितियों में यह भेद प्रतीत नहीं होता ।

"सादृश्य के लिए आकृतिगत साम्य आवश्यक अथवा नहीं"

सादृश्यविधान का उद्देश्य कल्पनाजन्य इसी सदृश भाव की अनुभूति कराना होता है । 'मुखं चन्द्र इव सुन्दरम्' से उद्देश्य मुख एवं चन्द्र के स्थूल अथवा आकृतिगत सादृश्य से न होकर मुखदर्शन तथा चन्द्रदर्शन से उत्पन्न कल्पनाजन्य इनके सौन्दर्यसम्बन्धी सादृश्य से है । कल्पनाजन्य इस सादृश्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में आकृतिगत पूर्ण सादृश्य हो । जहां प्रतिपाद्य भाव का आकृति से सम्बन्ध होता है वहां न्यूनाधिक रूप में आकृतिगत साम्य अवश्य अपेक्षित है परन्तु जहां इसका आकृति से कोई सम्बन्ध नहीं वहां इस साम्य की आवश्यकता नहीं ।

भुजाओं की दीर्घता को व्यक्त करने के लिए उनके उपमान में आकृति-साम्य अपेक्षित है । दीर्घता स्थूल शरीर का धर्म है और आकृति के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है । अतः इस भाव को व्यक्त करने के लिए सादृश्य-विधान में आकृतिसाम्य आवश्यक है । भुजाओं का उपमान अर्गला है । इनकी आकृति में अन्य वैषम्य भले ही हो दीर्घता की दृष्टि से आंशिक साम्य अवश्य है ।

जहां साधारणधर्म का आकृति से सम्बन्ध नहीं होता वहां इस आकृति-गत सादृश्य की आवश्यकता नहीं । वीरता, उदारता, दानशीलता आदि धर्मों का आकृति से सम्बन्ध नहीं । अतः इनकी अभिव्यक्ति के लिए उपमान में आकृतिसाम्य आवश्यक नहीं । वीरता की अभिव्यक्ति के लिए पुरुष की तुलना सिंह से की जाती है, यथा—'पुरुषः सिंह इव वीरः' । यहां पुरुष तथा सिंह में आकृतिगतसाम्य नहीं । वीरता आत्मा का गुण है । शरीर का उससे कोई सम्बन्ध नहीं । कहीं कहीं स्थूल शरीर वाले व्यक्ति में वीरता को देखकर यह समझना कि इसकी आकृति ही वीर है उचित नहीं । मम्मट

का यही मत है।[1] अतः वीरता आदि की अभिव्यक्ति के लिए आकृतिगत साम्य की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न उठता है कि 'Face is the index of mind' इत्यादि उक्तियां आकृति तथा भावों में निश्चित सम्बन्ध स्थापित करती हैं। अतः यह कहना कहां तक उचित है कि वीरता आदि धर्मों का आकृति से कोई सम्बन्ध नहीं ?

इसका उत्तर इस प्रकार है:—उपर्युक्त उक्ति में भावों तथा आकृति का जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह प्रायः भावों की उद्दीप्त स्थिति को लक्ष्य करके दिखाया गया है, मनुष्य के स्वभाव के अंग बने हुए भावों को लक्ष्य करके नहीं दिखाया गया। मनुष्य की आकृति से जिन भावों का पता चलता है वे प्रायः ऐसे उद्दीप्त भाव हैं जो अपने इस उद्दीपन के फलस्वरूप आकृति में अन्तर उत्पन्न कर देते हैं। आकृति से कतिपय ऐसे भावों का भी पता चल सकता है जो मनुष्य के स्वभाव के अंग बन गए हैं, परन्तु ऐसे भाव इने गिने ही होते हैं। अतः इनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि आकृति उन समस्त भावों की परिचायक है जो मनुष्य के चरित्र के अन्तर्गत आते हैं।

शारीरिक अवयवों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए इस आंशिक आकृतिगत साम्य का ध्यान रखा जाता है। केशपाश, नासिका आदि के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए उनका सादृश्य क्रमशः सर्प, शुकचञ्चु आदि से दिखाया जाता है। इन उपमानों में अपने उपमेयों के साथ आंशिक आकृतिगत साम्य है। इसका कारण यही है कि यह सौन्दर्य-भावना आकार-जन्य है। प्रस्तुत आकृति ही कल्पना का विषय बनकर सौन्दर्य का रूप धारण करती है। यह सौन्दर्यभावना यद्यपि एक आन्तरिक भावना है परन्तु इसमें उस विषय की वह स्थूल रूपरेखा बनी रहती है जिससे यह उत्पन्न होती है।

---

१. "आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य······।क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि वितताकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्याहरन्ति········।" काव्यप्रकाश पृ० ६४

उपमानों का क्षेत्र

सादृश्यविधान के लिए कवि समस्त विश्व को अपनी कल्पना का क्षेत्र बनाता है और उसमें से उपयुक्त उपमानों का चयन करता है। इस चयन के समय अपनी अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति तो उसका प्रमुख उद्देश्य रहती ही है, इसके साथ साथ वह कविपरम्परागत रूढियों का भी ध्यान रखता है। अप्पयदीक्षित तथा हेमचन्द्र ने इसका समर्थन किया है।[1]

कतिपय उपमान कविपरम्परानुसार किसी अर्थ में रूढ हो जाते हैं। इनके श्रवणमात्र से पाठक को अभीष्ट अर्थ की अनुभूति हो जाती है। कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए इनका आश्रय लेता है। कमल, कोकिलस्वर आदि क्रमशः मुख, मधुर संगीत आदि के उपमान के अर्थ में रूढ हो गए हैं। इनके प्रयोग से पाठक को मुख के सौन्दर्य तथा संगीत के माधुर्य की अनुभूति सहज ही हो जाती है। अतः उक्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवि बिना प्रयत्न के ही इनका चयन कर लेता है। इस प्रकार रूढियां कवि की भावाभिव्यक्ति तथा पाठक की भावानुभूति में सरलता लाती हैं।

कभी कभी कवि की भावाभिव्यक्ति के लिए एक वस्तु उपमान के रूप में पर्याप्त नहीं होती। अतः वह कई वस्तुओं का चयन करके उनका उचित समन्वय करता है तथा इन्हें एक संश्लिष्ट उपमान का रूप देता है।

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥"

कुमारसम्भव १।४४

यहां ओष्ठ पर बिखरी हुई हंसी उपमेय है। इसके लिए संश्लिष्ट उपमान की योजना की गई है। यह 'प्रवालोपहितं पुष्पम्' अथवा 'विद्रुमस्थं मुक्ताफलम्' के रूप में है।

कभी कभी कवि को वस्तुओं का वर्णन न करके उनके पारस्परिक संबंध

---

१. "कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेनोपमानोपमेयत्वयोग्ययोरेव साधर्म्यमुपमा। अत एव 'कुमुदमिव मुखं प्रसन्नम्' इत्यादि नोपमा······।" चित्रमीमांसा पृ० ७

"प्रसिद्धमुपमानमप्रसिद्धमुपमेयम्। प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी च कविविवक्षावशादेव।"
काव्यानुशासन पृ० ३४१

का वर्णन करना होता है। इसके लिए वह ऐसी वस्तुओं का उपमान के रूप में चयन करता है जिनका पारस्परिक संबंध प्रस्तुत संबंध को अभिव्यक्त कर सके। ऐसी दशा मे उसका प्रमुख उद्देश्य सम्बन्धों का सादृश्य व्यक्त करना होता है। सम्बद्ध वस्तुओं का सादृश्य केवल गौण होता है तथा वह प्रधान सादृश्य का अंग होता है। निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः ॥' शाकुन्तल १। १०

यहां प्रधान सादृश्य मृगशरीर तथा बाण के सम्बन्ध एवं तूलराशि तथा अग्नि के सम्बन्ध में है। मृगशरीर तथा बाण में नाश्यनाशक सम्बन्ध है तथा तूलराशि एवं अग्नि में दाह्यदाहक सम्बन्ध है। दाह्यदाहक भाव नाश्य-नाशक भाव का एक अंग है। अतः नाश्यनाशक सम्बन्ध तथा दाह्यदाहक सम्बन्ध में सादृश्य है। मृगशरीर का तूलराशि से तथा बाण का अग्नि से सादृश्य इसमें केवल गौण है तथा प्रधान सम्बन्ध का उपकारक है। मृगशरीर तथा तूलराशि में कोमलता एवं बाण तथा अग्नि में कठोरता का भिन्न भिन्न सादृश्य दिखाने से उतना प्रयोजन नहीं जितना मृगशरीर तथा बाण के एवं तूलराशि तथा अग्नि के पारस्परिक सम्बन्धों का सादृश्य दिखाने से है। कोमलता की दृष्टि से तो मृगशरीर का सादृश्य पुष्प से भी दिखाया जा सकता है, परन्तु उस दशा मे पुष्प तथा अग्नि के सम्बन्ध में दाह्यदाहक भाव की दृष्टि से वह चमत्कार नहीं रहेगा जो तूलराशि के प्रयोग से विद्यमान है।

वस्तुओं का यह पारस्परिक सम्बन्ध तीन प्रकार से होता है—अनुकूल रूप से, प्रतिकूल रूप से तथा असम्भव रूप से। उपर्युक्त उदाहरण में यह प्रतिकूल रूप से है। मृग तथा बाण का सम्बन्ध प्रतिकूल है। अतः उसका सादृश्य तूलराशि तथा अग्नि के प्रतिकूल सम्बन्ध से दिखाया गया है।

अनुकूल सम्बन्ध निम्नलिखित श्लोक में है:—

"राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः।
द्रुमाणामिव लोकानां मधुमास इवाभवत् ॥" रसगंगाधर पृ० २४३

यहां युधिष्ठिर तथा लोकों का एवं मधुमास तथा द्रुमों का सम्बन्ध

अनुकूल है। अतः प्रथम सम्बन्ध का सादृश्य दूसरे सम्बन्ध से दिखाया गया है। रसगंगाधरकार ने इन दोनों संबंधों का निरूपण किया है।[1]

असम्भव सम्बन्ध का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव चानलः।
परुषा वागितो वक्त्रादित्यसम्भावितोपमा"॥— चित्रमीमांसा पृष्ठ ९

यहां मुख तथा वाक् का, चन्द्रबिम्ब तथा विष का, एवं चन्दन तथा अनल का जन्यजनक सम्बन्ध असम्भव है। अतः प्रथम सम्बन्ध का सादृश्य अन्य दो सम्बन्धों से दिखाया गया है। यहां सादृश्य मुख से उत्पन्न वाणी तथा चन्द्र से उत्पन्न विष में न होकर मुख तथा वाणी के सम्बन्ध एवं चन्द्र तथा विष के सम्बन्ध मे है और इस सादृश्य का कारण है साधारणधर्म की असम्भाविता। विश्वेश्वर का भी यही मत है।[2]

यदि यह असम्भाविता चन्द्र से उत्पन्न विष तथा मुख से उत्पन्न परुषता में हो तो उपर्युक्त उदाहरण का अर्थ होना चाहिए कि मुख से उत्पन्न परुषता चन्द्र से उत्पन्न विष के समान असम्भव है। परन्तु उपर्युक्त उदाहरण का अर्थ है कि इस मुख से परुष वाक् की उत्पत्ति उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब से विष की उत्पत्ति। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस मुख तथा परुष वाक् का जन्यजनक सम्बन्ध उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब तथा विष का जन्यजनक सम्बन्ध। अतः साधारणधर्म असम्भाविता के आधार पर सादृश्य उस प्रकार की वाणी तथा उस प्रकार के विष में न होकर इस मुख तथा परुष वाणी के सम्बन्ध एवं चन्द्रबिम्ब तथा विष के सम्बन्ध में है।

उपमानों के चयन के लिए यह आवश्यक नहीं कि अमूर्त वस्तुओं के उपमान अमूर्त हों तथा अचेतन के अचेतन हों। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि मूर्त वस्तुओं के उपमान मूर्त हों तथा चेतन के चेतन

---

१. "उपमानयोः परस्परमुपमेययोश्चानुकूल्ये उपमयोरेवोपायता निरूपिता। प्रातिकूल्ये उपायता यथा············।" रसगंगाधर पृ० २४४

२. "एवं च 'असम्भावितोपमा' इत्यस्य असम्भावितोपमानकत्वं नार्थः, किन्तु असम्भावितत्वं तदुपमायां साधारणधर्म इत्येव"—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ ११

हों। मूर्तता तथा अमूर्तता एवं चेतनता तथा अचेतनता का विषय उपमान-चयन के क्षेत्र से बाह्य है। कवि प्रायः अमूर्त वस्तुओं का सादृश्य मूर्त वस्तुओं से दिखाते हैं। कीर्ति तथा स्मित अमूर्त वस्तुएं हैं, परन्तु उनका सादृश्य क्रमशः हंसी तथा पुष्प से दिखाया जाता है:—

"हंसीव धवला कीर्तिः स्वर्गंगामवगाहते" —चित्रमीमांसा पृष्ठ ८

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥"

—कुमारसम्भव १।४४

अचेतन का चेतन से सादृश्य तो अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। इसका कारण कवि की मानसिक स्थिति है। कवि अपने भावों का आरोप प्रकृति पर करता है और उसे चेतन के रूप में व्यवहार करते देखता है। उसे प्रकृति में अपने भावों की झांकी देखने को मिलती है। यदि वह आनन्दित है तो प्रकृति उसे आनन्दित प्राणी का आचरण करती हुई प्रतीत होती है और यदि वह दुःखी है तो प्रकृति में उसे वैसा ही आचरण दिखाई देता है।

"मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥"

—रघुवंश २।१०

यहां लताओं का सादृश्य पौरकन्याओं से दिखाया गया है और वे पुष्पवर्षा करती हुई दिखाई गई हैं।

"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥"

—रघुवंश ३।२३

यहां निश्चल नूपुर का दुःखी प्राणी से सादृश्य व्यंग्य है तथा दुःख के कारण उसे मौन दिखाया गया है।

मूर्त वस्तुओं का अमूर्त से तथा चेतन का अचेतन से सादृश्य भी काव्यों में अनेक स्थलों पर मिलता है:—

"तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥"

—रघुवंश २ । १६

यहां धेनु का सादृश्य श्रद्धा से दिखाया गया है ।

"स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥"

—रघुवंश २ । १९

यहां पाटला गौ का सादृश्य धातुमयी अधित्यका से तथा केसरी का सादृश्य प्रफुल्ल लोध्रद्रुम से दिखाया गया है ।
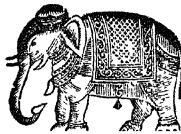
साहश्यमूलक अलंकारों के मूल में विद्यमान साहश्य का स्वरूप तथा उसके भेद

वस्तु की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए कवि जब सादृश्यविधान करता है तब उसका कल्पनाजन्य सादृश्यज्ञान भिन्न भिन्न रूप धारण करता है और उसी के अनुसार भिन्न भिन्न अलंकारों की अभिव्यक्ति होती है। 'अमुक वस्तु अमुक वस्तु के सदृश है' यह सादृश्यज्ञान यद्यपि उन सब ज्ञानों मे अनुस्यूत रहता है, परन्तु उसके रूप भिन्न भिन्न होते हैं। कभी यह ज्ञान अनुभव का रूप धारण करता है तथा कभी स्मृति का। ज्ञान के ये दो प्रकार ही माने गए है:—

"सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विविधा-स्मृतिरनुभवश्चेति । संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः।"

तर्कसंग्रह पृ० २१

स्मृति की दशा में जिस अलंकार की अभिव्यक्ति होती है वह स्मरणालंकार होता है।

अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ तथा अयथार्थ:—

"स द्विविधः—यथार्थायथार्थश्च।" तर्कसंग्रह पृ० २३

अयथार्थ अनुभव तीन प्रकार का होता है:—संशय, विपर्यय तथा तर्क—
"अयथार्थानुभवस्त्रिविधः—संशयविपर्ययतर्कभेदात्।"

तर्कसंग्रह पृ० ५६

जहां तक कवि के अनुभव का सम्बन्ध है उसे हम लौकिक दृष्टि से न तो यथार्थ कह सकते हैं और न अयथार्थ ही। कवि का यह अनुभव सत्य को आधार मानकर चलता है परन्तु इसकी सीमाएं उससे परे हैं। इस प्रकार कवि की दृष्टि से तो यह अनुभव सत्य है ही लौकिक दृष्टि से भी इसे असत्य नहीं कहा जा सकता।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाएगा। यदि मुख का सौन्दर्य कवि का वर्ण्य विषय है तो कवि इन अलंकारों में क्रमशः 'मुखं कमलमिव' 'मुखं कमलम्' 'मुखं कमलं मन्ये' 'इदं मुखम्' आदि प्रयोग करेगा। इन सब

प्रयोगों की दशा में कवि को यह ज्ञान बना रहेगा कि यह मुख ही है जिसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए इस प्रकार के प्रयोग किए जा रहे हैं। यह कभी नहीं होता कि कवि मुख को मुख से भिन्न वस्तु समझकर उसके आधार पर आचरण करने लगे।

यही नहीं ससन्देह तथा भ्रान्तिमान् अलंकारों में भी जिनके नाम क्रमशः संशय तथा विपर्यय के द्योतक हैं कवि का अनुभव अयथार्थ ज्ञान की कोटि में नही आता। ससन्देह अलंकार में कवि को जो संशय होता है वह लौकिक संशय से भिन्न होता है। यह कल्पनाजन्य होता है। अतः कवि को इस अवस्था में प्रस्तुत वस्तु का ज्ञान बना रहता है। जहां यह संशय कवि को न होकर कविनिबद्ध पात्र को होता है वहां यह वास्तविक होता है और फलतः अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत आता है।

भ्रान्तिमान् अलंकार में भ्रान्ति कवि को न होकर कविनिबद्ध पात्र को होती है। कवि को यह भ्रान्ति कभी नहीं हो सकती। कारण यह है कि कवि का उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करना होता है। अत यह आवश्यक है कि उसे उस वस्तु का ज्ञान बना रहे। भ्रान्ति में यह सम्भव नहीं। भ्रान्ति में एक वस्तु को अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। अत. यदि कवि को भ्रान्ति हो तो वह प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तु समझकर उस अन्य वस्तु का ही वर्णन करेगा और फलतः वह पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत वस्तु का चित्र ही अंकित नहीं कर सकेगा।

सादृश्य-प्रतीति की अवस्था में जिस अलंकार की अभिव्यक्ति होती है वह उपमा है। मुखं कमलमिव इसका उदाहरण है। इस अवस्था में उपमेय तथा उपमान के कतिपय अवयवों में ऐक्य तथा कतिपय में अनैक्य प्रतीत होता है। इस प्रकार यह भेद तथा अभेद प्रतीति की अवस्था है।

इस अवस्था में भेद-प्रतीति तथा अभेद-प्रतीति पर समान बल रहता है। कभी कभी यह बल भेदप्रतीति पर अधिक हो जाता है। यह भेद उपमेय के आधिक्य के रूप में प्रतीत होता है। इस अवस्था में व्यतिरेक अलंकार की अभिव्यक्ति होती है। 'मुखं कमलादतिरिच्यते' इसका उदाहरण है।

उपमालंकार की सादृश्यप्रतीति उत्तरोत्तर बढ़ते बढ़ते ताद्रूप्यप्रतीति तक पहुँचती है। इसे अरोप की अवस्था कहते हैं। सादृश्यप्रतीति की अवस्था

में तो कुछ अवयवों में विभिन्नता बनी रहती है परन्तु इसमें वह सर्वथा लुप्त हो जाती है। उपमेय तथा उपमान के अवयव सर्वथा समान हो जाते हैं। इस अवस्था में रूपक की अभिव्यक्ति होती है। 'मुखं कमल-मस्ति' इसका उदाहरण है। यहां मुख कमल के समान ही नहीं अपितु तदाकार बन गया है।

इस अवस्था में अवयवों अथवा धर्मों की भेदप्रतीति यद्यपि लुप्त हो जाती है, परन्तु अवयवियों अथवा धर्मियों की भेदप्रतीति बनी रहती है। यद्यपि मुख का कमल से तादूप्य स्थापित हो जाता है परन्तु दोनों की सत्ता पृथक् पृथक् बनी रहती है। मुख की सत्ता कमल की सत्ता मे विलीन नहीं होती। अतः सादृश्य की यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है तथा उपमेय (धर्मी) का निगरण प्रारम्भ होता है।

उपमेय की इस निगरण-प्रक्रिया में उत्प्रेक्षालंकार की अभिव्यक्ति होती है। इस अवस्था को आलंकारिकों ने अध्यवसाय[1] की साध्यावस्था कहा है। इस अवस्था में विषय का निगरण होकर विषय तथा विषयी की सर्वथा अभेदप्रतिपत्ति नहीं होती परन्तु इस अभेदप्रतिपत्ति की ओर हमारी मानसिक प्रक्रिया उन्मुख हो जाती है। 'मुखं कमलं मन्ये' के द्वारा इस अवस्था की अभिव्यक्ति होती है। इसमें मुख तथा कमल की पृथक् सत्ता बनी हुई है। जहां तक स्वरूप का प्रश्न है दोनों के स्वरूप भिन्न बने हुए हैं, परन्तु प्रतीति कमल की ही होती है। अतः रुय्यक ने इसे प्रतीति-निगरण कहा है।[2]

निगरण की यह प्रक्रिया उपमेय के निगीर्ण होने पर तथा उपमान का अध्यवसाय होने पर समाप्त होती है। उत्प्रेक्षा में जो अध्यवसाय साध्य था वह अब सिद्ध हो जाता है। इस अवस्था में व्यापार की प्रधानता न होकर अध्यवसित उपमान की प्रधानता होती है।[3] व्यापार तो सर्वथा समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में अभिव्यक्त अलंकार अतिशयोक्ति कहलाता है। 'इदं कमलम्' इसका उदाहरण है। यहां मुख की सत्ता कमल में विलीन हो

---

१. "विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः"—सर्वस्व पृ० ५३

२. "विषयस्य निगरणं स्वरूपतः प्रतीतितो वा। तत्र स्वरूपनिगरणमतिशयोक्तौ। उत्प्रेक्षायां प्रतीतिनिगरणम्।" समुद्रबन्ध पृ० ५३

३. "अतश्चाध्यवसितप्राधान्यम्—" सर्वस्व पृ० ५४

गई है और एक कमल ही अवशिष्ट रह गया है। इस प्रकार यहां मुख की प्रतीति का ही नहीं उसके स्वरूप का भी निगरण हो गया है। अतः रुय्यक ने अतिशयोक्ति मे स्वरूपनिगरण स्वीकार किया है।

जो सादृश्यविधान मुख तथा कमल के सादृश्य से आरम्भ हुआ था वह उनके ताद्रूप्य तथा मुख की निगरणप्रक्रिया में से होता हुआ उनके सर्वथा ऐक्य में समाप्त होता है और केवल कमल बच रहता है। अतः कवि की कल्पनाबुद्धि सादृश्य, ताद्रूप्य, निगरण—प्रक्रिया आदि विभिन्न अवस्थाओं में से होती हुई ऐक्य तक पहुँच जाती है। इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न अलङ्कारों की अभिव्यक्ति होती है। सादृश्यस्थिति में उपमा, उपमेयोपमा तथा अनन्वय की, ताद्रूप्यावस्था मे रूपक, परिणाम, उल्लेख तथा अपह्नुति की, निगरणप्रक्रिया की अवस्था में उत्प्रेक्षा की तथा ऐक्यावस्था में अतिशयोक्ति की अभिव्यक्ति होती है।

कभी कभी कवि की दृष्टि वस्तुओं के सादृश्य की ओर न होकर प्रधानतः उनके साधारणधर्म पर केन्द्रित रहती है। उसकी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु वस्तुओं का सादृश्य न होकर उनके साधारणधर्मों का सादृश्य होता है। साधारणधर्मों की इस सादृश्य-प्रतीति मे प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त की अभिव्यक्ति होती है।

प्रतिवस्तूपमा में जिन साधारणधर्मों में सादृश्यप्रतीति होती है वे वैसे तो एक होते हैं परन्तु आश्रयभेद के कारण उनमें भेद लक्षित होता है। इस प्रकार भेद तथा अभेद के फलस्वरूप इनमें सादृश्य प्रतीत होता है। दृष्टान्त में जिन साधारणधर्मों मे सादृश्यप्रतीति होती है वे भिन्न होते हैं, परन्तु उनमें एक सामान्य तत्त्व होता है। इसके फलस्वरूप वे सदृश प्रतीत होते हैं।

प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्मों के इस सादृश्य की संज्ञा वस्तुप्रतिवस्तुभाव रखी गई है। इनकी परिभाषाएं इस प्रकार हैं.—

"सम्बन्धिभेदेनैकस्यैव धर्मस्य द्विरुपादानम्" —चित्रमीमांसा पृष्ठ २१

"आश्रयभेदाद्भिन्नयोरपि वस्तुत एकरूपतैवेति वस्तुप्रतिवस्तुभावः"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ २०९

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्मों में आश्रयभेद के कारण भेद लक्षित होता है। ये साधारणधर्म वस्तुत: एक भले ही हों, आश्रय का भेद इनके स्वरूपों में कुछ अन्तर अवश्य लाता है तथा हमें इसी रूप में इनकी प्रतीति होती है। पदार्थों के सादृश्य के समय हमारा प्रयोजन उनके इसी प्रतीत स्वरूप से होता है, अन्य किसी प्रकार के स्वरूप से नही होता। प्रतिवस्तूपमा के निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

'धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यते नैषधोऽपि।
इत: स्तुति: का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५४

यहां वैदर्भी के समाकर्षण धर्म तथा चन्द्रिका के उत्तरलीकरण धर्म में सादृश्यप्रतीति होती है। समाकर्षणधर्म तथा उत्तरलीकरणधर्म वस्तुत: एक भले ही हों हमें उनकी प्रतीति विभिन्न रूपों में होती है। इसका कारण उनका आश्रयभेद है। समाकर्षण का यहाँ सम्बन्ध वैदर्भी तथा नैषध से है तथा उत्तरलीकरण का सम्बन्ध चन्द्रिका तथा समुद्र से है।

इन विभिन्न सम्बन्धों के फलस्वरूप समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण के स्वरूप में अन्तर आ जाता है। दो चेतन वस्तुओं से सम्बद्ध होने के कारण समाकर्षण का स्वरूप अचेतन वस्तुओं से सम्बद्ध उत्तरलीकरण से भिन्न प्रतीत होता है। अत: इन दोनों धर्मों में अभेद न मानकर सादृश्य मानना उचित होगा।

यदि समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण में सादृश्यप्रतीति न मानकर अभेदप्रतीति मानी जाती है तो साधारणधर्म की अनुगामिता तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव में कोई अन्तर नहीं होगा। प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव सर्वसम्मत है तथा वह साधारणधर्म की अनुगामिता से भिन्न माना गया है।

दूसरे यदि प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्मों में अभेद माना जाता है तो हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु साधारणधर्म न होकर एकधर्माभिसम्बन्ध हो जायगा। यह मानना उचित नहीं।

दृष्टान्त में साधारणधर्मों के सादृश्य की संज्ञा बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। इसकी परिभाषा निम्नलिखित है:—

"वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभाव."
—चित्रमीमांसा पृष्ठ २१

इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

"अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमला हि हरति दृशं मालतीमाला ॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५५

यहां 'कर्णे मधुधारावमनम्' तथा 'नेत्रहरणम्' साधारणधर्म हैं। इन दोनों में प्रीतिजनकत्वधर्म विद्यमान है। अतः इनमे साम्य है। यह कहना कि दोनों का पर्यवसान प्रीति में होता है अत दोनों में ऐक्य है उचित नहीं। दोनों के प्रीतिजनकत्व-प्रकार में भेद है तथा दोनों से उत्पन्न प्रीति में भी विलक्षणता है। साहित्यदर्पण के टीकाकार श्रीरामचरणभट्टाचार्य ने इसका समर्थन किया है।[1]

कभी कभी कवि की दृष्टि वस्तुओं के एकधर्माभिसम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। इस अवस्था में दीपक, तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति की अभिव्यक्ति होती है। तुल्ययोगिता की निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।"—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५१

इस परिभाषा के अनुसार एकधर्माभिसम्बन्ध इस अलङ्कार का आधार है। इस अलङ्कार के निम्नलिखित उदाहरण पर यह बात चरितार्थ होती है—

"तदंगमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५२

यहां मालती आदि का एक कठोरताधर्म से सम्बन्ध दिखाया गया है। दीपक तथा सहोक्ति में भी यही बात होती है।

कभी कभी कवि प्रस्तुत वस्तु को अप्रस्तुत के सदृश व्यवहार करते देखता है। अप्रस्तुत वस्तु के साथ प्रस्तुत के सादृश्य पर उसका ध्यान

---

१. "प्रीतिजनन एव पर्यवसानादैकरूप्येऽपि प्रीतेर्वैलक्षण्याद्वैलक्षण्यमिति भावः"
—साहित्यदर्पण टीका पृष्ठ ५५५

केन्द्रित न होकर केवल उनके व्यवहारसादृश्य पर वह केन्द्रित रहता है और इसी व्यवहारसादृश्य के कारण उसे अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। इस अवस्था में समासोक्ति अलङ्कार की अभिव्यक्ति होती है:—

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनायाः
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्याः
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाहः ॥'
—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५६३

यहां वायु हठकामुक का आचरण करती हुई प्रतीत होती है। वायु के इस प्रकार के आचरण से हठकामुक की प्रतीति होती है।

कभी कभी प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के अत्यधिक व्यवहारसादृश्य के कारण कवि को प्रस्तुत में अप्रस्तुत के ही दर्शन होते हैं और वह उसी का वर्णन करता है। इस दशा में अप्रस्तुतप्रशंसालंकार की अभिव्यक्ति होती है।

सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का यह वर्गीकरण कवि की चित्तवृत्तियों के आधार पर किया गया है। जो अलङ्कार जिस चित्तवृत्ति में अभिव्यक्त होता है वह उससे सम्बद्ध है। भारतीय आलङ्कारिकों ने इनके वर्गीकरण में विशेषतः भाषा तथा उससे प्रभावित होने वाले सहृदय को आधार माना है। यद्यपि भाषा एक माध्यम है जिसके द्वारा कवि सहृदय को अपनी ही अनुभूति तक पहुँचाता है तथापि कवि की चित्तवृत्ति को आधार मानकर जो वर्गीकरण किया जायगा उसमें भाषा तथा सहृदय को आधार मानकर किए हुए वर्गीकरण से साधारण विलक्षणता आ जाना स्वाभाविक है। भाषा के प्रत्येक प्रयोग के लिए तत्सम्बद्ध कवि की चित्तवृत्ति ढूंढना सम्भव नहीं। अतः भाषा के आधार पर किए गए कतिपय भेदों की व्याख्या कवि की चित्तवृत्तियों के आधार पर सम्भव नहीं। दोनों की व्याख्याप्रणाली में भी साधारण अन्तर स्वाभाविक है। कवि की चित्तवृत्ति अथवा अनुभूति से उत्पन्न अभिव्यक्ति की प्रक्रिया तथा उस अभिव्यक्ति से उत्पन्न सहृदय की अनुभूति की प्रक्रिया में अन्तर है।

भाषा तथा सहृदय को आधार मानकर किए हुए वर्गीकरण में चमत्कार का हेतु अलंकारभेद का निर्णायक होता है। भाषा अपने से सम्बद्ध अर्थ के द्वारा सहृदय के हृदय मे चमत्कार उत्पन्न करती है। यह चमत्कार ही अलंकार होता है। अत. इनका वर्गीकरण इनके चमत्कारहेतु के आधार पर ही सम्भव है। आलंकारिकों ने वर्गीकरण के इस आधार को स्वीकार किया है। अलंकारों की परिभाषा में उन्होंने चमत्कारी अथवा उसके पर्यायवाची सुन्दर, हृद्य आदि शब्दों का प्रायः प्रयोग किया है। एक उपमा की ही परिभाषा लें। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा।

"सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः—"

रसगंगाधर पृ० २०४

"हृद्यं साधर्म्यमुपमा" हेमचन्द्र—काव्यानुशासन १। ६

"चमत्कारि साम्यमुपमा" वाग्भट—काव्यानुशासन पृ० ३३

"उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः।" चित्रमीमांसा पृ० ७

अपनी परिभाषा की व्याख्या करते हुए जगन्नाथ लिखते हैं:—

"सौन्दर्यं च चमत्कृत्याधायकत्वम्। चमत्कृतिरानन्दविशेषः सहृदयहृदय-प्रमाणकः"—रसगंगाधर पृ० २०४

इस प्रकार जगन्नाथ ने सादृश्य को उपमा का चमत्कृत्याधायक अथवा उसके चमत्कार का हेतु कहकर चमत्कारहेतु को स्पष्टतः अलंकार का आधार स्वीकार किया है। अन्य आलंकारिकों के साथ भी यह बात है। जिन आलंकारिकों ने अलंकार की परिभाषाओं में इन शब्दों का सन्निवेश नहीं किया है, वे भी अलंकार के सामान्यलक्षण के नाते चमत्कार को वहां आवश्यक समझते हैं। आलंकारिकों के द्वारा किए हुए अलंकारों के वर्गीकरण की आलोचना इसी दृष्टिकोण से उचित है।

आलंकारिकों द्वारा किया हुआ सादृश्यमूलक अलंकारों का वर्गीकरण तथा उसकी आलोचना

रुय्यककृत निरूपण का विवेचन:—

रुय्यक ने सादृश्यमूलक अलंकारों का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार उपमा इन अलंकारों के मूल में है।[1] उपमा को सादृश्य अथवा साधर्म्य कहा जा सकता है। रुय्यक के अनुसार साधर्म्य तीन प्रकार का होता है—भेदप्राधान्य, अभेदप्राधान्य तथा भेदाभेदतुल्यत्व।[2]

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरण को रुय्यक ने भेदाभेद-तुल्यत्व के आश्रित माना है।[3] रुय्यक ने यहां स्मृति में आधार का विवेचन चेतनांश के रूप को पृथक् रखकर किया है। यहां चेतनांश का रूप स्मृति होता है। स्मृति ज्ञान का एक पृथक् भेद मानी गई है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में रूपसहित चेतनांश को लक्ष्य करके यदि स्मृति को स्मरणालंकार का आधार माना जाए तो अनुचित न होगा।

अभेदप्राधान्य के रुय्यक ने दो भेद किए हैं—आरोप तथा अध्यवसाय।[4] रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को उन्होंने आरोप पर आश्रित माना है।[5] इस प्रकार भ्रान्तिमान् तथा सन्देह अलंकार जिनमें चमत्कार क्रमशः सादृश्यमूलक भ्रान्ति तथा सन्देह पर आश्रित रहता है इसी भेद के अन्तर्गत कर दिए गए हैं।

---

१. "उपमैव प्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता—" सर्वस्व पृ० २४

२. "साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः—भेदप्राधान्यं व्यतिरेकवत्, अभेदप्राधान्यं रूपकवत् द्वयोस्तुल्यत्वं यथा उपमायाम्—" सर्वस्व पृ० २४

३. "तदेते सादृश्याश्रयणेन भेदाभेदतुल्यत्वेऽलङ्कारा निरूपिताः—"
सर्वस्व पृ० ३१

४. "एवमभेदप्राधान्ये आरोपगर्भानलंकारान् लक्षयित्वाध्यवसानगर्भाल्लिलक्षयति—" सर्वस्व पृ० ५३

५. देखिए सर्वस्व पृ० ३२—५३

उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति को उन्होंने अध्यवसाय पर आश्रित माना है। उनके अनुसार अध्यवसाय दो प्रकार का होता है—साध्य तथा सिद्ध।[1] उत्प्रेक्षा में यह साध्य होता है तथा अतिशयोक्ति में यह सिद्ध होता है।[2] यह मत उचित ही है।

व्यतिरेक तथा सहोक्ति को उन्होंने भेदप्राधान्य पर आश्रित माना है।[3] व्यतिरेक को तो भेदप्राधान्य पर आश्रित कहना ठीक ही है, परन्तु सहोक्ति को भी उसी पर आश्रित कहना उचित नहीं। सहोक्ति में चमत्कार का कारण भेदप्राधान्य न होकर एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। सहोक्ति में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का सह अथवा उसके पर्यायवाची शब्द के द्वारा एक धर्म से सम्बन्ध दिखाया जाता है। निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

"सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्।"—

काव्यप्रकाश सू० १७०

इसकी व्याख्या करते हुए वामनाचार्य लिखते हैं:—

"एवं च यत्र गुणप्रधानभावावच्छिन्नयोः शब्दार्थमर्यादया एकधर्मसम्बन्धस्तत्रायमलंकारः।" बालबोधिनी पृ० ६७१

इस प्रकार सहोक्ति में दो वस्तुओं का एकधर्म से सम्बन्ध तो निश्चित है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक और वस्तु वहां मानी गई है और वह यह है कि उस धर्म से एक वस्तु का सम्बन्ध तो प्रधानतः होता है तथा दूसरी का गौणतः। जिस शब्द के साथ सह जुड़ा हुआ होता है उसका सम्बन्ध गौणरूप से होता है तथा अन्य का प्रधान रूप से होता है। इसका कारण पाणिनि मुनि का 'सहयुक्तेऽप्रधाने'[4] सूत्र है। वामनाचार्य का भी यही मत है:—

---

१. "स च द्विविधः—साध्यः सिद्धश्च।" सर्वस्व पृ० ५३

१. "एवमध्यवसायस्य साध्यतायामुत्प्रेक्षां निर्णीय सिद्धत्वेऽतिशयोक्तिं लक्षयति।" सर्वस्व पृ० ६६

३. "भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः—"

सर्वस्व सू० २८

'भेदप्राधान्य इत्येव।' सर्वस्व पृ० ८५

४. पाणिनि २।३।१९

"यत्र 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति पाणिनिसूत्रेण विहिता सहार्थयोगेऽप्रधाने तृतीया तत्रैवायमलंकार:, गुणप्रधानभावावच्छिन्नयो: शाब्दार्थमर्यादया एकधर्मसम्बन्धस्य तत्रैवावस्थितिरिति।"—बालबोधिनी पृ० ६७२

अब प्रश्न यह उठता है कि यहां चमत्कार का कारण दो वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध है अथवा उनमें से एक का प्रधानत: तथा अन्य का गौणत: उस धर्म से सम्बद्ध होना चमत्कार का हेतु है। इसका यही उत्तर हो सकता है कि चमत्कार का प्रमुख कारण वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध ही है। उनमें से एक का प्रधानत: तथा अन्य का गौणत: उस धर्म से सम्बद्ध होना केवल गौण है तथा प्रधान चमत्कार का उपकारक है। निम्नलिखित उक्ति इसी ओर संकेत करती है।

"यदि तु दीपके तुल्ययोगितायां चोपमानोपमेययो: प्राधान्येन क्रियादिरूपधर्मान्वय:, इह तु गुणप्रधानभावेनैवेति विशेष: सन्नपि विच्छित्तिविशेषानाधायकतया नालंकारताप्रयोजक:, अपितु तदवान्तरभेदताया इति विभाव्यते, निरस्यते च प्राचीनमुखदाक्षिण्यम् तदा निविशतामियमप्यलंकारान्तरेष्वेव, किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालंकारभेदे वचनभंगीनामानन्त्यादलंकारानन्त्यप्रसंगादिति।"—रसगंगाधर पृ० ४८७, ४८८

इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि सहोक्ति में उपमान तथा उपमेय का धर्म के साथ सम्बन्ध गुणप्रधानभाव से युक्त भले ही हो गुणप्रधानभाव अलंकारता का प्रयोजक नहीं। प्रधानता एकधर्माभिसम्बन्ध की ही है। वही चमत्कार का कारण है। अत: अलंकार का मूल है। उपमानोपमेय का धर्म से गुणप्रधानभाव से सम्बन्ध अवान्तर भेद का प्रयोजक कहा जा सकता है। एकधर्माभिसम्बन्ध तुल्ययोगिता तथा दीपक में भी होता है।[1] अत: सहोक्ति को उन्हीं का एक भेद कहना उचित होगा।

---

१. "पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥" साहित्यदर्पण १०। ४७

"अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते—"—साहित्यदर्पण १०। ४८

ये परिभाषाएं यह सिद्ध करती हैं कि तुल्ययोगिता तथा दीपक में एकधर्माभिसम्बन्ध होता है।

उद्भट ने एक अन्य आधार पर सहोक्ति को दीपक से पृथक् सिद्ध करने का यत्न किया है। इनके अनुसार दीपक में दो वस्तुओं से सम्बद्ध एक शब्द से द्योतित जो दो क्रियाएं होती हैं वे समकालीन नहीं होतीं। सहोक्ति में इसके विपरीत वे समकालीन होती हैं —

"ननु······संजहार शरत्कालः—इत्यादावपि पदेनैकेन वस्तुद्वयसमवेते द्वे क्रिये कथ्येते अतश्च तत्रापि सहोक्तित्वं प्राप्नोतीत्याशंक्योक्तम्—तुल्यकाले इति।" काव्यालंकारसारसंग्रह पृ० ७२

उद्भट का यह मत पूर्णत. सत्य नहीं। यह ठीक है कि सहोक्ति में एक शब्द से द्योतित विभिन्न वस्तुओं की क्रियाएं समकालीन होती हैं, परन्तु दीपक में वे सदैव असमकालीन हों ऐसी बात नहीं। 'प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते'[1] दीपक की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार दीपक के लिए केवल इतना आवश्यक है कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध होना चाहिए। यह धर्म यदि क्रिया है तो केवल इतना आवश्यक है कि इन वस्तुओं का इस क्रिया से सम्बन्ध हो। इन वस्तुओं के इस क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण इन वस्तुओं की जो विभिन्न क्रियाएं होंगी उनके लिए असमकालीन होना आवश्यक नहीं। वे समकालीन तथा असमकालीन में से कोई भी हो सकती हैं।

दूसरे यदि दीपक में क्रियाओं के लिए असमकालीन होना आवश्यक मान लिया जाए तो भी सहोक्ति से उसका यह भेद दोनों के पृथक् अलंकार होने का आधार नहीं हो सकता।

दीपक में चमत्कार का कारण वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। विभिन्न वस्तुओं से सम्बद्ध इन धर्मों का समकालीन अथवा असमकालीन होना चमत्कार का कारण नहीं होता। सहोक्ति में भी चमत्कार का कारण वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध ही होता है। इस प्रकार चमत्कारहेतुओं के समान होने के कारण दीपक तथा सहोक्ति को एक अलंकार के अन्तर्गत मानना उचित होगा। दूसरे वस्तुओं से सम्बद्ध एक धर्म सदा क्रिया ही हो ऐसी बात नहीं। यह क्रिया के अतिरिक्त गुण आदि भी हो सकता है। जहां धर्म क्रिया होगा वहां तो क्रियाओं के

---

१. साहित्यदर्पण १०।४८

समकालीनत्व तथा असमकालीनत्व के आधार पर दीपक तथा सहोक्ति में आंशिक भेद किया जा सकता है, परन्तु जहां यह धर्म गुण आदि होगा वहां दीपक तथा सहोक्ति के भेद का क्या आधार होगा ? अतः इन अलंकारो को पृथक् पृथक् न मानकर एक अलंकार के भेद मानना उचित होगा।

तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना तथा दृष्टान्त को रुय्यक ने गम्यमानौपम्य पर आश्रित माना है[1] और उनको एक श्रेणी में रखा है। गम्यमान औपम्य के आधार पर इनका विभाजन उचित नहीं। यदि गम्यमानौपम्य अथवा व्यंग्य सादृश्य विभाजन का आधार माना जाता है तो उपमा को छोड़कर अन्य सब सादृश्यमूलक अलंकार एक ही श्रेणी में आ जाएंगे। उस दशा में गम्यमानौपम्य के अन्तर्गत उपर्युक्त ये पांच अलंकार ही नहीं रहेंगे अपितु उपमा के अतिरिक्त अन्य सब सादृश्यमूलक अलंकार आ जाएंगे।

दीपक तथा तुल्ययोगिता में चमत्कार का कारण एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। सहोक्ति में भी यही बात होती है। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है। अतः इन तीनों को एक ही अलंकार के भेद मानना उचित है।

रुय्यक तुल्ययोगिता तथा दीपक को भिन्न भिन्न अलंकार मानते हैं। इनके अनुसार दीपक में उपमानोपमेयभाव वास्तव होता है परन्तु तुल्ययोगिता में वह वैवक्षिक होता है। रुय्यक के अनुसार उपमेय के लिए प्रस्तुत होना तथा उपमान के लिए अप्रस्तुत होना आवश्यक है। दीपक में एक धर्म से सम्बद्ध वस्तुएं प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत होती हैं। अतः वहां उनमें उपमानोपमेयभाव सम्भव है। तुल्ययोगिता में वस्तुएं केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत होती हैं। अतः वहां उपमानोपमेयभाव वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है।[2]

---

१. "एवमध्यवसायाश्रयेणालंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते।" सर्वस्व पृ० ७१

२. "स च वास्तव एव। पूर्वत्र तु शुद्धप्राकरणिकत्वे शुद्धाप्राकरणिकत्वे वा वैवक्षिकः, प्राकरणिकत्वाप्राकरणिकत्वप्रभावितत्वादुपमानोपमेयभावस्य।"

—सर्वस्व पृ० ७२

रुय्यक का यह मत समीचीन नहीं । औपम्य के लिए केवल इतना आवश्यक है कि वस्तुओं में कोई साधारणधर्म हो। जब दो या अधिक वस्तुओं में कोई साधारणधर्म होगा तब वे वस्तुएं स्वतः ही उस साधारणधर्म के आधार पर सदृश हो जाएंगी। उनके सदृश होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उनमे से कुछ प्रस्तुत तथा कुछ अप्रस्तुत हों। सादृश्य की सामान्य परिभाषा 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' मे इस प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का सन्निवेश नहीं। जगन्नाथ भी सादृश्य के लिए प्रस्तुताप्रस्तुत-भाव को आवश्यक नहीं मानते ।[1]

जगन्नाथ दीपक तथा सहोक्ति को तुल्ययोगिता के अवान्तर भेद मानते हैं। तुल्ययोगिता में एक धर्म से सम्बन्धित पदार्थ प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत होते हैं और दीपक में वे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत होते हैं। इस प्रकार तुल्ययोगिता तथा दीपक में केवल आंशिक भेद है। प्रथम में जहां धर्म से सम्बद्ध पदार्थ या तो प्रस्तुत होने चाहिएं या अप्रस्तुत वहां दीपक में वे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों प्रकार के होने चाहिएं। जगन्नाथ इस आंशिक भेद को भिन्न अलंकार होने के लिए पर्याप्त नहीं समझते। अतः वे दीपक को तुल्ययोगिता के ही अन्तर्गत कर देते हैं।[2] सहोक्ति को इन्होंने तुल्ययोगिता तथा दीपक के अन्तर्गत माना है इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

विश्वेश्वर को दीपक तथा तुल्ययोगिता को एक अलंकार के भेद

---

२. "न च दीपके वास्तवमौपम्यं गम्यम्, उपमानोपमेययोः प्रकृताप्रकृतरूपयोस्तत्र सत्त्वात्। तुल्ययोगितायां च वैकल्पिकम्, उपमानोपमेयस्वरूपाभावात्। अतो वैलक्षण्यमिति वाच्यम्। उपमेयोपमानत्वयोः प्रकृताप्रकृतरूपत्वे मानाभावात्। 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्याद्युपमेयोपमायां प्रतीपे चौपम्यानापत्तेश्च।"

—रसगंगाधर पृ० ४३६, ४३७

३. "तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति, धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्।......न च धर्मस्य सकृद्वृत्तेरविशेषेऽपि धर्मिणां प्रकृतत्वाप्रकृतत्वाभ्यां प्रकृताप्रकृतत्वेन च तुल्ययोगिताया दीपकस्य विशेष इति वाच्यम्। तथापि तुल्ययोगितायां धर्मिणां केवलप्रकृतत्वस्य केवलाप्रकृतत्वस्य च विशेषस्य सत्त्वादलंकारद्वैतापत्तेः।......सर्वेषामप्यलंकाराणां प्रभेदवैलक्षण्याद्वैलक्षण्यापत्तेश्च।"

रसगंगाधर पृ० ४३६

मानने में तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु वे तुल्ययोगिता में दीपक का अन्तर्भाव न करके दीपक मे तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव करते हैं। दीपक अत्यन्त प्राचीन अलंकार है। इसका उल्लेख भरत मुनि ने भी किया है। नाट्यशास्त्र में दीपक की परिभाषा तथा उसका उदाहरण दोनों मिलते हैं। अतः उसी में तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव उचित है।[1]

हम दीपक को तुल्ययोगिता का भेद मानें अथवा तुल्ययोगिता को दीपक का भेद मानें इससे विशेष अन्तर नहीं आता। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि ये दोनों पृथक् अलंकार न होकर एक ही अलंकार के दो भेद हैं।

विश्वेश्वर को सहोक्ति का भी दीपक अथवा तुल्ययोगिता में अन्तर्भाव करने में कोई आपत्ति नहीं।[2] अतः दीपक, तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति को एक ही अलंकार के भेद मानना उचित होगा, उसका नाम कुछ ही हो।

प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त में चमत्कार का कारण क्रमशः साधरण-धर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। इस बात को रुय्यक ने भी स्वीकार किया है।[1] रसगंगाधरकार को भी यही मत मान्य

---

१. "दीपकमपि तुल्ययोगितायामेवान्तर्भवति ।.........तस्मात्प्रकृतानामेव प्रकृताप्रकृतानां चैकधर्मान्वय इति तुल्ययोगिताया एव त्रयो भेदा वक्तुमुचिताः। तस्माद्दीपकस्य तुल्ययोगिताया भेदं वदता दुराग्रह इति, तच्चिन्त्यम्।

'नानाधिकरणस्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकः।
एकवाक्येन संयोगो यस्तु दीपकमुच्यते ॥'

इति भगवता भरतमुनिना दीपकस्यांगीकारात् तत्रैव तुल्ययोगितान्तर्भावस्यौचित्यादिति दिक्।"—अलंकारकौस्तुभ पृ० २६६, २६७

२. "वस्तुतः—दीपके तुल्ययोगितायां वै तदन्तर्भावः। तत्रैकरूपेण सर्वत्र धर्मान्वयोऽत्र तु गुणप्रधानभावेनेति विशेषस्तु तदवान्तरभेदत्वमेव साधयति न त्वतिरिक्तत्वम्, विच्छित्तिविशेषानाधायकत्वात्। तस्मात्प्राचीनानुभवमात्रप्रमाणक-मेवास्याः पार्थक्यम्।" अलंकारकौस्तुभ पृ० ३३१

१. "असकृन्निर्देशे तु शुद्धसामान्यरूपत्वं बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा। आद्यः प्रकारः प्रतिवस्तूपमा।.................द्वितीयप्रकाराश्रयेण दृष्टान्तो वक्ष्यते।"

सर्वस्व पृ० ७७

है। उनके अनुसार साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर ही दोनों की पृथक्ता सम्भव है। परन्तु यदि इन दोनों को एक ही अलंकार के दो भेद माना जाता है तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव एवं बिम्बप्रतिबिम्बभाव को केवल अवान्तर भेद का कारण माना जाता है तो उन्हें इसमे कोई आपत्ति नही:—

"तस्मादस्मदुक्तेनैव पथा प्राचीनैर्विहितोऽलंकारयोरनयोर्विभागः संगमनीयः। यदि तु न तेषां दाक्षिण्यं तदैकस्यैवालंकारस्य द्वौ भेदौ प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्तश्च। यच्चानयोः किंचिद्वैलक्षण्यं तत्प्रभेदताया एव साधकम्, नालंकारताया इति सुवचम्।"—रसगंगाधर पृ० ४५५

इससे स्पष्ट है कि रसगंगाधरकार को इन अलंकारों के पृथक् मानने में कोई आग्रह नहीं। उन्हें आग्रह है तो केवल इतना ही कि यदि इन अलंकारों को पृथक् माना जाता है तो उनकी पृथक्ता का आधार साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही हो सकता है और कोई नहीं। विमर्शिनीकार का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार प्रतिवस्तूपमा में अप्रस्तुत अर्थ का उपादान प्रस्तुत अर्थ के साथ सादृश्य दिखाने के लिए होता है, परन्तु दृष्टान्त मे यह सादृश्यप्रतिपत्ति के लिए न होकर प्रस्तुतार्थ के स्पष्टीकरण के लिए होता है:—

"विमर्शिनीकारस्तु प्रतिवस्तूपमायामप्रकृतार्थोपादानं तेन सह प्रकृतार्थस्य सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थम्। दृष्टान्ते तु तदुपादानमेतादृशोऽर्थोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतार्थप्रतीतेर्विशदीकरणमात्रार्थम्, न तु सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थम्। अतः सादृश्यप्रतीत्यप्रतीतिभ्यामनयोरलंकारयोर्भेदः।"—रसगंगाधर पृ० ४५३

रसगंगाधरकार इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि प्रकृत तथा अप्रकृत का उपादान दोनों में समान रूप से होता है। अतः यह कहना उचित नहीं कि एक में सादृश्य-प्रतीति होती है तथा अन्य में नहीं होती। दूसरे प्रतीति की स्पष्टता सादृश्य का ही दूसरा नाम है:—

"प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरुपादानस्यालंकारद्वयेऽप्यविशिष्टत्वादेकत्र सादृश्यप्रत्ययः, अन्यत्र नेत्यस्याज्ञामात्रत्वात्। वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च। एतादृशोऽर्थोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतार्थप्रतीतिविशदीकरणस्य त्वदभिहितस्य सादृश्यापरपर्यायत्वाच्च।" रसगंगाधर पृ० ४५३

रसगंगाधरकार द्वारा विमर्शिनीकार के उपर्युक्त मत का इस प्रकार खण्डन उचित ही है। दोनों अलंकारों में सादृश्यप्रतीति समान रूप से होती है। अतः साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव ही इन अलंकारों का विभेदक है। परन्तु रसगंगाधरकार द्वारा दोनों अलंकारों को एक अलंकार के भेद मानने के लिए तत्पर हो जाना उचित नहीं। इन दोनों अलंकारों में वस्तुप्रतिस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप में चमत्कारभेद स्पष्ट है। चमत्कारभेद ही अलंकारभेद का हेतु माना गया है। यह बात रसगंगाधरकार ने भी स्वीकार की है। वैसे तो सादृश्य अनेक अलंकारों के मूल में रहता है, परन्तु रसगंगाधरकार ने उपमा को उनसे पृथक् इसीलिए माना है क्योंकि उपमा में वह सादृश्य चमत्कार का कारण है परन्तु दूसरों में नहीं। इसीलिए उन्होंने उपमा की परिभाषा में 'सुन्दर' शब्द को साम्य का विशेषण बनाया है।[1]

अतः प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त को भिन्न भिन्न अलंकार मानना ही उचित होगा।

रुय्यक ने समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा को विशेषणविच्छित्ति[2] पर आश्रित माना है। ये दोनों सादृश्यमूलक अलंकार हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों का चमत्कार किसी प्रकार के सादृश्यविधान पर आश्रित रहता है। अतः इन अलंकारों को विशेषणविच्छित्ति पर आश्रित न कहकर व्यवहारसादृश्य के कारण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में से किसी एक के द्वारा अन्य के आक्षेप पर आश्रित कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनकी निम्नलिखित परिभाषाओं से यह स्पष्ट है:—

"परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः" —काव्यप्रकाश सूत्र १४८

"अप्रस्तुतप्रशंसा या स्यात्सैव प्रस्तुताश्रया" —काव्यप्रकाश सूत्र १५१

यहां समासोक्ति की परिभाषा में 'श्लिष्टैः' शब्द से यह तात्पर्य है कि वह अर्थ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों ओर लागू हो। 'भेदकैः' से तात्पर्य केवल विशेषण ही नहीं अपितु विशेषण के अतिरिक्त वे अन्य सब तत्त्व हैं जो

---

१. "साहश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः—"

रसगंगाधर पृ० २०४

२. विशेषणों के चमत्कार को विशेषणविच्छित्ति कहते हैं।

सादृश्य के प्रतिपादक हैं। प्रदीपकार की निम्नलिखित उक्ति इसी ओर संकेत करती है:—

"अत्र विशेषणस्य श्लिष्टत्वं चोपलक्षणम् प्रकृताप्रकृतसाधारणत्वस्य औपम्यगर्भत्वस्य सारूप्यस्य च संभवात्।" —बालबोधिनी पृष्ठ ६१२

अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रसङ्ग में मम्मट कहते हैं:—

"अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६१८

वामनाचार्य का इस विषय में मत है:—

"तथा चाप्राकरणिकेन प्राकरणिकाक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा प्राकरणिकेनाप्राकरणिकाक्षेपः समासोक्तिरिति विवेकः। एवं चान्यवृत्तान्तस्यान्यवृत्तान्ताक्षेपकत्वमलङ्कारत्वबीजमिति फलितम्।" —बालबोधिनी पृष्ठ ६१८

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि व्यवहारसादृश्य के कारण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में से किसी एक के द्वारा अन्य का आक्षेप ही इन दोनों अलङ्कारों के चमत्कार का कारण है।

इन अलङ्कारों में व्यंग्य का भी चमत्कार होता है। समासोक्ति में यह अप्रस्तुत के रूप में तथा अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत के रूप में होता है। अतः ये व्यंग्यमूलक अलङ्कार हैं। परन्तु हैं ये अलङ्कार ही। इन्हें ध्वनि के अन्तर्गत रखना उचित नहीं। ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है, परन्तु इनमें वह अप्रधान है तथा वाच्यार्थ का उपस्कारक है। अतः ये ध्वनि के अन्तर्गत न होकर गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत हैं। ध्वनिकार का यही मत है:—

"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्॥" —ध्वन्यालोक ३।३४

इस प्रकार भाषा अथवा तज्जन्य चमत्कार के आधार पर सादृश्यमूलक अलङ्कारों का वर्गीकरण उपर्युक्त प्रकार से होता है। इसे संक्षेप में हम निम्न प्रकार से लिख सकते हैं:—

सादृश्य के लिए साधारणधर्म की आवश्यकता है। सादृश्य की परिभाषा 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' से स्पष्ट है कि सादृश्य के

लिए एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो दो या अधिक वस्तुओं में विद्यमान रहे। यह धर्म उन वस्तुओं में रहकर उनमें सम्बन्ध स्थापित करता है। अतः सादृश्य एक सम्बन्ध-विशेष है तथा साधारणधर्म उस सम्बन्ध का हेतु है। यह साधारणधर्म दो प्रकार से सम्भव है—उपमेय तथा उपमान में इसका एक रूप से निर्देश हो अथवा पृथक् रूप से। पृथक् रूप से निर्देश पुनः दो प्रकार का होता है—वस्तुप्रतिवस्तुभाव से अथवा बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव से। इस प्रकार साधारणधर्म तीन प्रकार का होता है:—साधारणधर्म का ऐक्य, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव। रुय्यक ने साधारण धर्म के यही तीन भेद माने हैं।[1]

इनके उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं:—

"मुखं कमलमिव सुन्दरमस्ति।"

"धन्यासि वैदर्भि! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५४

"अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५५

प्रथम उदाहरण में एक ही सौन्दर्य धर्म मुख तथा कमल में उसी रूप में विद्यमान है। अतः यहां साधारणधर्म में ऐक्य है। द्वितीय उदाहरण में समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण में वस्तुप्रतिवस्तुभाव है तथा तृतीय उदाहरण में मधुधारावमन तथा नेत्रहरण में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

जब साधारणधर्म का निर्देश एक रूप से होता है तब सादृश्य दो प्रकार से सम्भव है—वाच्यरूप से अथवा व्यंग्यरूप से। जब सादृश्य वाच्य होता है तब हमारा ध्यान साधारणधर्म पर केन्द्रित न रहकर उन वस्तुओं के सम्बन्ध पर केन्द्रित रहता है जिनको वह साधारणधर्म सम्बद्ध किए हुए है। इस प्रकार इस दशा में हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु साधारणधर्म न होकर

---

१. तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितयैकरूपेण निर्देशः। क्वचिद् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्देशः। पृथङ्निर्देशे च सम्बन्धिभेदमात्रम् प्रतिवस्तूपमावत्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा दृष्टान्तवत्।"—सर्वस्व पृष्ठ २६

वस्तुओं का सादृश्य होता है और वही चमत्कार का कारण होता है। प्रस्तुत उदाहरण "मुखं कमलमिव सुन्दरम्" में हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु सौन्दर्य न होकर मुख तथा कमल का इस रूप में सादृश्य है। इस दशा मे उपमा अलङ्कार होता है।

साधारणधर्म के ऐक्य के निर्देश-भेद के अनुसार सादृश्य भिन्न भिन्न रूप धारण करता है। ये ताद्रूप्य, सम्भावना तथा ऐक्य हैं। ये क्रमशः रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति अलङ्कार में होते हैं।

कभी कभी यह सादृश्य स्मरण, सन्देह तथा भ्रान्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है। ऐसा क्रमशः स्मरण, सन्देह तथा भ्रान्तिमान् अलङ्कार में होता है।

साधारणधर्म की अनुगामिता की दशा में जब सादृश्य व्यंग्य होता है तब हमारा ध्यान वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर केन्द्रित न होकर उन वस्तुओं के साधारणधर्म से सम्बन्ध पर ही केन्द्रित रहता है। इस प्रकार हमें वस्तुओं के सादृश्य की प्रतीति न होकर एकधर्माभिसम्बन्ध की प्रतीति होती है और यही चमत्कार का हेतु होती है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट है:—

'मुखं कमलमिव सुन्दरमस्ति।'
'मुखकमले सुन्दरे स्तः।'

प्रथम उदाहरण में सादृश्य वाच्य है। अतः यहां मुख तथा कमल का सादृश्य अभिप्रेत है। दूसरे उदाहरण में सादृश्य व्यंग्य है। अतः वहां मुख तथा कमल का सौन्दर्य से सम्बन्ध अभिप्रेत है। प्रथम उदाहरण का अर्थ है कि मुख कमल के समान सुन्दर है, अर्थात् मुख जैसा सुन्दर है वैसा ही सुन्दर कमल है, अथवा मुख में जैसा सौन्दर्य है वैसा ही सौन्दर्य कमल में है। अतः एक ही सौन्दर्य मुख तथा कमल में समान रूप से विद्यमान है। फलतः दोनों में सादृश्य है।

द्वितीय उदाहरण में यह बात नहीं। इसका अर्थ है कि मुख तथा कमल सुन्दर हैं—अर्थात मुख सुन्दर है तथा कमल सुन्दर है अथवा मुख में सौन्दर्य है तथा कमल में सौन्दर्य है। इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि जैसा सौन्दर्य मुख में है वैसा ही सौन्दर्य कमल में है। अतः इसमे चमत्कार का कारण मुख तथा कमल का सादृश्य न होकर इन दोनों का एक धर्म से

सम्बन्ध चमत्कार का कारण है। यह एकधर्माभिसम्बन्ध दीपक, तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति में होता है। रसगङ्गाधरकार की निम्नलिखित उक्ति दीपक तथा तुल्ययोगिता में विद्यमान इसी एकधर्माभिसम्बन्ध के चमत्कार की ओर संकेत करती है:—

"यत्र यथोक्तानाँ धर्मिणां यथोक्तधर्मान्वय एव चमत्कारी तत्र तुल्ययोगिता दीपकं वा। यत्र तादृशधर्मान्वयप्रयुक्तं सादृश्यमभेदो वा तत्रोपमारूपकादिकमेवालङ्कारताप्रयोजकम्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४२८

जब साधारणधर्म का निर्देश एक रूप से न होकर वस्तुप्रतिवस्तुभाव से अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से होता है तब हमारा ध्यान वस्तुओं के सम्बन्ध पर केन्द्रित न होकर उन धर्मों के ही सम्बन्ध पर केन्द्रित रहता है और वही चमत्कार का कारण होता है। अतः इस दशा में साधारणधर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव चमत्कार का कारण होता है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव का चमत्कार प्रतिवस्तूमा में तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव का चमत्कार दृष्टान्त में होता है।

कभी कभी साधारणधर्म का तो निर्देश अवश्य होता है परन्तु प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में से केवल एक का अभिधान होता है। अन्य व्यंग्य होता है। इस दशा में साधारणधर्म के द्वारा अन्य का आक्षेप चमत्कार का कारण होता है। यह समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा में होता है।

विद्यानाथ द्वारा किये हुए वर्गीकरण की सदोषता

विद्यानाथ का वर्गीकरण चमत्कार-हेतु के पूर्वोक्त आधार की दृष्टि से सदोष सिद्ध होता है। इन्होंने साधर्म्य के तीन भेद किए हैं—भेदप्रधान, अभेदप्रधान तथा भेदाभेदप्रधान।[1]

रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को इन्होंने अभेदप्रधानसाधर्म्य पर अश्रित माना है।[2] इस प्रकार सन्देह तथा भ्रान्तिमान् जिनमें चमत्कार का हेतु क्रमशः सन्देह तथा भ्रान्ति है इसी श्रेणी में रख

---

१. "साधर्म्यं त्रिविधम्—भेदप्रधानम्, अभेदप्रधानम्, भेदाभेदप्रधानं चेति।"
—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २४६

२ 'रूपकपरिणामसन्देहभ्रान्तिमदुल्लेखापह्नवानामभेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धनत्वम्।'

दिए गए हैं। दीपक, तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप तथा व्यतिरेक को इन्होंने भेदप्रधानसाधर्म्य पर आश्रित माना है।[1] इनमें केवल व्यतिरेक में ही चमत्कार अभेदप्रधानसाधर्म्य पर आश्रित है। अतः अन्य अलङ्कारों को इस श्रेणी मे रखना उचित नहीं। उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरण को इन्होंने भेदाभेदसाधारणसाधर्म्य पर आश्रित माना है।[2] यहां स्मरण को इस श्रेणी में रखना उचित नहीं। उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति को इन्होंने अध्यवसाय पर आश्रित माना है।[3] यह उचित ही है। समासोक्ति को इन्होंने विशेषणवैचित्र्य पर आश्रित माना है।[4] इसे इसकी अपेक्षा व्यवहारसादृश्य के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत के आक्षेप पर आश्रित मानना अधिक उपयुक्त है।

१. "दीपकतुल्ययोगितानिदर्शनादृष्टान्तप्रतिवस्तूपमासहोक्तिप्रतीपव्यतिरेका भेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धनाः।"

२. "उपमानन्वयोपमेयोपमास्मरणानां भेदाभेदसाधारणसाधर्म्यमूलता।"

३. "उत्प्रेक्षातिशयोक्ती अध्यवसायमूले।"

४, "समासोक्तिपरिकरौ विशेषणवैचित्र्यमूलौ।"—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २४६

उपमा

उपमा की परिभाषा प्रायः सभी आलंकारिकों ने की है, परन्तु उनकी परिभाषाओं में थोड़ा या अधिक अन्तर है। एक बात पर ये आलङ्कारिक अवश्य सहमत हैं और वह यह है कि इन्होंने अपनी उपमा की परिभाषा में सादृश्य, साम्य, साधर्म्य आदि मे से किसी एक शब्द का सन्निवेश किया है। भरत, दण्डी, जयदेव, जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर ने सादृश्य शब्द का, वामन, भामह, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा वाग्भट ने साम्य शब्द का तथा उद्भट, मम्मट, रुय्यक एवं हेमचन्द्र ने साधर्म्य शब्द का सन्निवेश किया है।

कतिपय आलंकारिकों ने सादृश्य, साम्य अथवा साधर्म्य के अतिरिक्त अन्य शब्दों का भी अपनी उपमा की परिभाषा में सन्निवेश किया है। ये शब्द प्रधानतः तीन प्रकार के हैं:—गुणलेश अथवा उसका पर्यायवाची शब्द जो सादृश्य आदि का कारण है, उपमानोपमेय जिनमे सादृश्य स्थापित किया जाता है तथा उपमा के अन्य अलंकारों से विभेद के सूचक शब्द।

भामह तथा वामन ने गुणलेश तथा उपमानोपमेय दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है:—

"विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।

उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥"—भामहालंकार २। ३०

"उपमानोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा।"—काव्यालंकारसूत्र ४।२।१

दण्डी ने केवल गुणलेश के पर्यायवाची शब्द का प्रयोग किया है:—

"यथाकथञ्चित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।

उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते॥"—काव्यादर्श २। १४

उद्भट तथा रुय्यक ने उपमानोपमेय शब्द का सन्निवेश किया है:—

"यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।

मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत्॥"

—काव्यालंकारसारसंग्रह १। १५

"उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा।"—सर्वस्व सू० १५

मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा विश्वेश्वर ने अन्य अलंकारों से भेद-सूचक शब्दों का सन्निवेश किया है:—

"साधर्म्यमुपमा भेदे" काव्यप्रकाश सू० १२५

"स्वतःसिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥"

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २५४

"साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।"

—साहित्यदर्पण २०। १४

"तत्रैकवाक्यवाच्यं सादृश्यं भिन्नयोरुपमा।"—अलंकारकौस्तुभ पृ० ४

प्रथम परिभाषा में 'भेदे' के द्वारा अनन्वय का, द्वितीय मे 'स्वतः-सिद्धत्व' आदि के द्वारा उत्प्रेक्षा आदि का, तृतीय मे 'वाच्य' आदि के द्वारा रूपकादि का तथा चतुर्थ में 'एक' आदि के द्वारा उपमेयोपमा आदि का व्यवच्छेद किया गया है।

उपमा की परिभाषा में 'गुणलेशतः' अथवा इसके पर्यायवाची शब्द का सन्निवेश अनावश्यक है। यह गुणलेश सादृश्य शब्द में अन्तर्भूत है। अतः इसके पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं। सादृश्य की परिभाषा 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' की गई है। इस प्रकार 'तद्गतभू-योधर्मवत्त्वम्' अथवा अवयवसामान्ययोग इसका एक अंग है। यह अवयवसामान्ययोग गुणसामान्ययोग अथवा क्रिया-सामान्ययोग के रूप में होता है। अतः 'गुणलेशतः' के पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं।

उपमानोपमेय के भी पृथक् निर्देश की परिभाषा में आवश्यकता नहीं। सादृश्य शब्द से इन दोनों का काम चल सकता है। सादृश्य ऐसी दो वस्तुओं को मानकर चलता है जिनमें एक दूसरी के समान हो। ये दो वस्तुएं ही क्रमशः उपमेय तथा उपमान होती हैं। जिस वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य दिखाया जाता है वह उपमेय होती है तथा उसका जिससे सादृश्य दिखाया जाता है वह उपमान होती है। इस प्रकार उपमा-

नोपमेयभाव भी सादृश्य में अन्तर्हित है। उपमानोपमेयभाव के सादृश्य में इसी अन्तर्भाव को लक्ष्य करके मम्मटादि ने उपमा की परिभाषा में इन शब्दों का सन्निवेश नहीं किया है। वामनाचार्य ने इसका समर्थन किया है।[1]

उपमा में अन्य अलंकारों से विभेदक तत्त्वों का सन्निवेश भी उचित नहीं। अलंकार-स्वरूप का निर्णायक चमत्कारहेतु होता है। अतः उसकी परिभाषा में इस चमत्कारहेतु का ही सन्निवेश होना चाहिए, चमत्कारहेतु से असम्बद्ध अन्य अलंकारों से विभेदक तत्त्वों का नहीं। विभेदक तत्त्वों का ज्ञान तो एक बाद की क्रिया है जिसका अलंकारस्वरूप से उतना सम्बन्ध नहीं जितना अलंकारों की पारस्परिक तुलना की तर्कप्रणाली से सम्बन्ध है।

अलंकार का स्वरूप चमत्कार है। इस चमत्कार के स्वरूपभेद के अनुसार ही भिन्न भिन्न अलंकार बनते हैं। अतः अलंकार की परिभाषा में चमत्कार अथवा उसके पर्यायवाची शब्दों का सन्निवेश उचित है। जहां इन शब्दों का सन्निवेश नहीं भी होता वहां अलंकार के सामान्य लक्षण के द्वारा आक्षेप से इनकी उपस्थिति माननी चाहिए। उद्भट, वाग्भट, हेमचन्द्र, जगन्नाथ आदि ने उपमा की परिभाषा मे चमत्कारसूचक इन शब्दों का प्रयोग किया है:—

"यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत्॥"

—काव्यालंकारसारसंग्रह १।१५

"चमत्कारि साम्यमुपमा।"—काव्यानुशासन पृ० ३३

"हृद्यं साधर्म्यमुपमा।"—काव्यानुशासन ६।१

"सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः।"

—रसगंगाधर पृ० २०४

---

१. 'एवं चोपमानोपमेयरूपावनुयोगिनौ विना साधर्म्याख्यः सम्बन्धविशेषो नोपपद्यते इति अनुपपत्त्या आक्षेपेणैवोपमानोपमेयरूपयोरनुयोगिनोर्लाभ इति न न्यूनत्वं लक्षणवाक्यस्येति भावः।'—बालबोधिनी पृ० १४४

जगन्नाथ ने अपनी उपर्युक्त परिभाषा में सादृश्य तथा सुन्दर शब्द के अतिरिक्त 'वाक्यार्थोपस्कारक' का भी सन्निवेश किया है। अन्य ध्वनि-वादियों के समान जगन्नाथ अलंकार को गौण अथवा अप्रधान स्थान देते हैं तथा इसे प्रधान अर्थ का उपस्कारक मानते हैं। जगन्नाथ के अनुसार प्रधानता तथा अलंकारता परस्पर-विरोधी हैं।[1] परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जहां चमत्कार अलंकार के कारण होता है वहां प्रधानता अलंकार की ही होती है और वही वाक्यार्थ के रूप में अभिव्यक्त होता है। वाक्यार्थ उससे कोई भिन्न वस्तु नहीं जिसका अलंकार उपकार करे। ऐसा तो तभी सम्भव है जब अलंकार शब्द तथा अर्थ से भिन्न कोई वस्तु हो। परन्तु ऐसी बात नहीं। अलंकार शब्द तथा अर्थ के रूप में अभिव्यक्त होता है और उसी का रूप है।

व्यंग्यार्थ की प्रधानना की दशा में तो अलंकार का व्यंग्यार्थ से भिन्न रहकर उसका उपस्कारक होना सम्भव है, परन्तु वाच्यार्थ की प्रधानता की दशा में ऐसी बात नहीं। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। अतः उसकी प्रधानता की दशा में वाच्यार्थ के स्वरूप उपमा, रूपक आदि उसके अंग होकर उसके उपस्कारक होते हैं।[2] परन्तु जब प्रधानता वाच्यार्थ की होती है तब अलंकार उससे भिन्न होकर उसके उपस्कारक नहीं होते, परन्तु उसी के स्वरूप होते हैं।

विश्वेश्वर ने परिभाषा में 'वाक्यार्थोपस्कारक' शब्द के इस सन्निवेश के लिए जगन्नाथ की आलोचना की है:—

"अलंकार्यवाक्यार्थस्याभावादनलंकारत्वमित्युक्तम्। न हि 'वाक्यार्थ एव अलंकार्यः' इति नियमे प्रमाणमस्ति। सादृश्येन मुखस्यैवोत्कर्षात्तस्य विभावतया तदुत्कर्षेणैव रसोत्कर्षात्।"—अलंकारकौस्तुभ पृ० २५, २६

---

१. "न हि व्यंग्यत्वालंकारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोधः। प्राधान्येन व्यंग्यतायां तु प्रधानत्वालंकारत्वयोर्विरोधादुपस्कारकशब्दसन्निवेशः।

—रसगंगाधर पृ० २३७

२. "ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥"
"विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथञ्चन।
रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्।" —ध्वन्यालोक २। १७-१६

इसके अनुसार व्यंग्यार्थ की दशा में भी यह आवश्यक नहीं कि अलंकार वाक्यार्थ का उपस्कारक हो। जब व्यंग्यार्थ रस होगा तब यह भी सम्भव है कि अलंकार उपमेय विभाव का उत्कर्ष बढ़ाकर रस का उपकार करे न कि वाक्यार्थ का। रस की अभिव्यक्ति समस्त प्रकरण से होती है उस एक वाक्य से नहीं। अतः अलंकार के लिए वाक्यार्थ का उपस्कारक होना कोई नियम नहीं।

इस प्रकार सुन्दर हृद्य अथवा चमत्कारी सादृश्य उपमा की परिभाषा के लिए पर्याप्त है और यदि सौन्दर्य अथवा चमत्कार आदि को अलङ्कार-सामान्य के स्वरूप के नाते वहां आक्षेप से उपस्थित समझें तो केवल सादृश्य से ही काम चल जाएगा। कतिपय आलङ्कारिक सादृश्य अथवा साम्य का प्रयोग न करके साधर्म्य का प्रयोग करते हैं। यह पूर्व परिभाषाओं से स्पष्ट है। सादृश्य तथा साधर्म्य में भेद है। सादृश्य में अवयवसामान्य के अतिरिक्त अवयवविशेष का भी ध्यान रहता है परन्तु साधर्म्य में केवल अवयवसामान्य का ध्यान रहता है। इसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

सादृश्य तथा साधर्म्य के भेद को दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट है कि उपमा में साधर्म्य की प्रतीति न होकर सादृश्य की प्रतीति होती है। 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' इस उपमा के उदाहरण में साधारणधर्म सौन्दर्य के आधार पर मुख का कमल से सादृश्य अभिप्रेत है, मुख तथा कमल दोनों का साधारणधर्म सौन्दर्य से सम्बन्ध अभिप्रेत नहीं। यहां सम्बन्ध मुख का कमल से है मुख तथा कमल का सौन्दर्य से नहीं। अतः उपमा की परिभाषा 'सुन्दरं साधर्म्यम्' न करके 'सुन्दरम् सादृश्यम्' करना उपयुक्त है।

उपमा के तत्त्व

उपमेय तथा उपमान—सादृश्य के लिए ऐसी दो वस्तुओं की आवश्यकता है जिनमें से एक को दूसरी के सदृश बताया जाए। जिस वस्तु को दूसरी के सदृश बताया जाता है उसे उपमेय कहते हैं तथा उसे जिसके सदश बताया जाता है उसे उपमान कहते हैं। सादृश्य के द्वारा उपमेय को उपमान के पास लाया जाता है। उपमा का यही अर्थ है।[1] 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' इस उदाहरण में उपमान कमल के द्वारा उपमेय मुख को समीप लाया जाता है। यह समीप लाना धर्मसामान्ययोग के द्वारा सम्भव है। सौन्दर्य धर्म मुख में है, अतः वह उस कमल के समान है जो सौन्दर्य का प्रतीक है। उपमान में साधारणधर्म का सद्भाव सुप्रसिद्ध होता है। अतः उसके साथ उपमेय का सादृश्य दिखाने से उपमेय में उस साधारणधर्म की प्रतीति सहज ही होती है जिसकी उपमेय में प्रतीति कराना कवि को अभीष्ट है। इसीलिए उपमान तथा उपमेय की परिभाषाएं निम्न प्रकार से की गई हैं:—

"साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्धः पदार्थः उपमानम्, तद्धर्मवत्तया वर्णनीयः पदार्थः उपमेयम्।"—बालबोधिनी पृ० ५४५

कतिपय विद्वानों ने उपमान तथा उपमेय की परिभाषाएं अन्य प्रकार से की हैं। वे उपमान को उत्कृष्टगुणवान् तथा उपमेय को निकृष्टगुणवान् कहते हैं। वामन का यही मत है।[2]

उपमान को उत्कृष्टगुणवान् तथा उपमेय को निकृष्टगुणवान् कहकर उनमें गुण के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के द्वारा इस प्रकार भेद करना उचित नहीं। उपमेय को उपमान के सदृश बताने से कवि का प्रयोजन एक का अपकर्ष तथा द्वितीय का उत्कर्ष दिखाना नहीं होता और न ही इस सादृश्य का कारण यह होता है कि एक में गुणों का अपकर्ष है तथा द्वितीय में उत्कर्ष है, अपितु इस सादृश्य का प्रयोजन यही होता है कि उपमेय का

---

१. "उप-समीपे मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्रा उपमेयं कर्म) अनयेत्युपमा।"—बालबोधिनी पृ० ५४४

२. "उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम् यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्।"—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति पृ० ५४

उत्कर्ष स्पष्टतः अभिव्यक्त हो जाए तथा इसका कारण भी यही होता है कि उपमेय में कवि को गुण का उत्कर्ष प्रतीत होता है। इस गुणोत्कर्ष को दिखाने के लिए कवि उपमेय का उपमान से जो सादृश्य दिखाता है वह इसीलिए क्योंकि उस गुणोत्कर्ष का प्रदर्शन और किसी प्रकार सम्भव नहीं।

यदि गुणोत्कर्ष तथा गुणापकर्ष के द्वारा उपमान तथा उपमेय में भेद माना जाए तो उपमेय का साम्य उपमान से सम्भव नहीं। यह साम्य तो तभी सम्भव है जब इन दोनों में धर्म की साधारणता मानी जाती है और वह भी बिना किसी उत्कर्ष अथवा अपकर्ष जनित भेदभाव के

उपमान के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह स्वतःसिद्ध हो। उपमान-विधान का प्रयोजन उपमेय में अभीष्ट साधारणधर्म की प्रतीति कराना होता है। इसके लिए कवि कल्पना का आश्रय लेता है और ऐसे उपमान की कल्पना करता है जिससे उसका उद्देश्य सिद्ध हो सके। उपमान की सत्यता अथवा असत्यता उसकी परिभाषा का अंग नहीं। अतः कवि ऐसे उपमान का विधान करने में स्वतन्त्र है जिसकी सत्ता लोक में न दिखाई दे। जगन्नाथ की निम्नलिखित उक्ति से यह स्पष्ट है:—

"उपमानोपमेययोः सत्यत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावान्नात्र दोषलेशोऽस्ति।"

—रसगंगाधर पृ० २०५

जगन्नाथ का कल्पितोपमा का निम्नलिखित उदाहरण इस कथन का समर्थक है:—

'स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः।

शशांकबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः।"—रसगंगाधर पृ० २०६

यहां शशांकबिम्ब से लम्बमान उरग उपमान है। यह उपमान लोक में अप्रसिद्ध है, फिर भी इसके उपमान बनने में कोई वस्तु बाधक नहीं। कतिपय आलंकारिकों का यह कथन उचित नहीं कि कल्पितोपमा का उद्देश्य उपमानान्तर का अभाव बताना होता है, अतः यह उपमा न होकर अन्य अलंकार है। उपर्युक्त उदाहरण में उपमानान्तर के अभाव की प्रतीति न होकर सादृश्य की प्रतीति होती है। अतः जगन्नाथ लिखते हैं:—

"परे तु अस्याः कल्पितोपमाया उपमानान्तराभावफलकत्वेनालंकारान्तरमाहुः । तन्न। सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात् । सन्निरूपितत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात् ।"—रसगंगाधर पृ० २०६

उपर्युक्त श्लोक को उपमा का उदाहरण मानने के लिए विश्वेश्वर ने जगन्नाथ की आलोचना की है। विश्वेश्वर के अनुसार यह उदाहरण उपमा का न होकर उत्प्रेक्षा का है । इनके अनुसार उपमा में उपमान अप्रसिद्ध न होना चाहिए,[1] उत्प्रेक्षा में यह अप्रसिद्ध हो सकता है।

विश्वेश्वर का यह मत उचित नहीं। उपमा तथा उत्प्रेक्षा का विभेदक उपमान की प्रसिद्धि तथा अप्रसिद्धि न होकर सादृश्य तथा सम्भावना है। यह कोई नियम नहीं कि उत्प्रेक्षा में उपमान कवि-कल्पित हो तथा उपमा में वह स्वतःसिद्ध हो। विद्यानाथ के मत का परिहार करते समय अप्पयदीक्षित ने यही बात कही है ।[2]

भरतादि प्राचीन आलंकारिकों के मत से भी यह स्पष्ट है कि उपमान के लिए स्वतःसिद्ध होना आवश्यक नहीं। भरतमुनि का कल्पितोपमा का निम्नलिखित उदाहरण इसका द्योतक है:—

"क्षरन्तो दानसलिलं लीलामन्थरगामिनः ।

मतङ्गजा विराजन्ते जंगमा इव पर्वताः ॥"—नाट्यशास्त्र १६ । ५३

यहां 'जंगमाः पर्वताः' उपमान स्वतःसिद्ध नहीं अपितु कविकल्पित है। वामन के अनुसार भी कल्पितोपमा में उपमान के लिए लोक-प्रसिद्ध होना आवश्यक नहीं ।[3]

---

१. "तत्रेदं चिन्त्यं–'स्तनाभोगः....'इत्युत्प्रेक्षैव उक्तविधोरगस्याप्रसिद्धेः ।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० २५

२. "तत्रोत्प्रेक्षाव्यावृत्तये स्वतःसिद्धेनेत्युक्तमयुक्तम् । उत्प्रेक्षायामिवकारस्य विषयविषयिणोस्तादात्म्यादिसम्भावनावाचकत्वेन तत्र साम्यस्यावाच्यतया तत एव तद्व्यावृत्तेः ।"—चित्रमीमांसा पृ० ६

३. ननु कल्पिताया लोकप्रसिद्ध्यभावात् कथमुपमानोपमेयनियमः । गुणबाहुल्यस्योत्कर्षापकर्षकल्पनाभ्याम् ।"

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति पृ० ५५

कवि को उपमान-चयन के लिए कल्पना करने की स्वतन्त्रता अवश्य है, परन्तु वह लौकिक अनुभव की सर्वथा अवहेलना नहीं कर सकता। लोक में जिन वस्तुओं का सम्बन्ध बाधित है उनमें वह सम्बन्ध स्थापित नही कर सकता। अग्नि तथा जल का विरोध लोकानुभव द्वारा सिद्ध है। अपनी कल्पना के द्वारा कवि इसका परिहार नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो असम्भव दोष माना जाता है:—

"निष्पेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः, शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात्।"

—भामहालङ्कार २। ४७

यहां सूर्य से वारिधाराओं का गिरना असम्भव है। अतः यह उदाहरण सदोष है।

सादृश्यविधान के लिए यह आवश्यक है कि उपमेय तथा उपमान भिन्न हों। उसी वस्तु का उससे सादृश्य सम्भव नहीं। सादृश्य के लिए भेद तथा अभेद दोनों तत्त्वों की आवश्यकता है। उसी वस्तु का उससे सादृश्य दिखाने में यह सम्भव नहीं क्योंकि इस दशा में अभेद तत्त्व का लोप हो जाएगा और फलतः पूर्ण एकता हो जाएगी। हेमचन्द्र की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

"साधर्म्यं च देशादिभिर्भिन्नानां गुणक्रियादिसाधारणधर्मत्वम्। अभेदे ह्येकत्वमेव स्यात्। तेन 'पुरुष इव पुरुष' इति सत्यपि पुरुषद्वयस्य पुरुषत्वानुगमलक्षणे साम्ये नोपमा।"—काव्यानुशासन पृ० ३२९

यही मत उद्भट का है।[1]

जहां उसी वस्तु का उसी वस्तु से सादृश्य वर्णित होता है, वहां पर्यवसान सादृश्य मे न होकर अन्यसादृश्यव्यवच्छेद में होता है। अनन्वय में यही बात होती है। वहां उसी वस्तु का उसी वस्तु से सादृश्य अभिप्रेत

---

१. "उपमानोपमेयभावश्च नात्यन्तं साधर्म्येणोपादाने सति भवति, यथा गौरिवायं गौरिति। अतः उक्तं मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरिति। कालादयोऽत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूताः ....गौरिवायं गौरित्यभिधाने तु न प्रवृत्तिनिमित्तभेदः, गोत्वस्यैवैकस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्।"

—लघुवृत्ति पृ० १८

न होकर अन्यसादृश्यव्यवच्छेद अथवा उसका अनुपमत्व अभिप्रेत होता है।[1]

सादृश्य से प्रयोजन 'इव' शब्द के सन्निवेश से नहीं अपितु सादृश्य-प्रतीति से है। सादृश्य के लिए यह पर्याप्त नहीं कि शब्दों द्वारा सादृश्य का वर्णन कर दिया है परन्तु आवश्यक यह है कि हमें वस्तुत: सादृश्य की प्रतीति हो। सादृश्य का क्षेत्र शब्दों तथा कोष के द्वारा उनसे जुड़े हुए अर्थों तक ही सीमित नहीं है परन्तु पदार्थों पर सादृश्य की दृष्टि से विचार करना भी उसी के अन्तर्गत है। अत: 'मुखं मुखमिव' इस प्रकार शब्दों द्वारा सादृश्य के वर्णनमात्र से सादृश्य की प्रतीति सम्भव नहीं।

कतिपय आलङ्कारिक उपमान तथा उपमेय के भिन्नत्व के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि उनमे सामान्यविशेषभाव न हो। विशेष की सत्ता सामान्य से पृथक् नहीं होती। अत: जहां उपमानोपमेय में सामान्य-विशेषभाव होगा वहां भेदाभाव के कारण सादृश्य सम्भव नहीं होगा। जगन्नाथ का यही मत है।[2] इनके अनुसार 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांक:' नामक उदाहरण मे सामान्य दोष तथा गुण से क्रमश: उनके विशेष इन्दुकिरण तथा अंक पृथक् नहीं। अत: उनमे उपमानोपमेयभाव सम्भव नहीं। अत: यह उपमा का उदाहरण न होकर उदाहरणालङ्कार का उदाहरण है।[3]

जगन्नाथ का यह मत समीचीन नहीं। अन्वय करके हम उपर्युक्त श्लोक को इस प्रकार लिख सकते हैं:—

'गुणसन्निपाते एको दोष इन्दुकिरणेष्वंक इव निमज्जति।'

इससे यह स्पष्ट है कि यहां सादृश्य गुणसन्निपात का इन्दुकिरण से

१. "यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्।"—भामहालङ्कार ३। ४५

२. "सामान्याद्विशेषस्य भेदाभावेनोपमितिक्रियाया अनिष्पत्त्या उपमालंकृते-रत्रानवतारादुदाहरणालङ्कारोऽयमतिरिक्तः।"—रसगंगाधर पृ० २३६

३. "अनन्तरत्नप्रभवस्य इत्यत्र..........इन्दुकिरणसमानाधिकरणोऽङ्कः उदाहृतः, न तूपमानतया निर्दिष्टः।"—रसगंगाधर पृ० २३६

तथा दोष का अंक से पृथक् पृथक् वर्णित न होकर गुणसन्निपात एवं दोष के सम्बन्ध का इन्दुकिरण एवं अंक के सम्बन्ध से वर्णित है । यह सम्बन्ध निमज्ज्यनिमज्जकभाव के रूप मे है । दोष तथा गुणसन्निपात का निमज्ज्यनिमज्जकभाव अंक तथा इन्दुकिरणों के निमज्ज्यनिमज्जकभाव के समान है। यह कहना उचित नहीं कि दो सामान्य वस्तुओं का सम्बन्ध दो विशेष वस्तुओं के सम्बन्ध के सदृश नही हो सकता। द्वितीय सम्बन्ध के साथ जुड़ी हुई वस्तुओं की प्रतीति से प्रथम सम्बन्ध के साथ जुड़ी हुई वस्तुओं की प्रतीति का भेद स्पष्ट है। यह भेदप्रतीति अन्य प्रकार से नहीं तो कम से कम सामान्यविशेपभाव के रूप से तो स्पष्ट है। जिस सामान्यविशेपभाव को जगन्नाथ सादृश्यप्रतीति के अभाव का कारण बताते है वही वस्तुतः भेदप्रतीति का द्योतक बनकर सादृश्यप्रतीति का कारण बनता है ।

यह कहना उचित न होगा कि रशनोपमा तथा परस्परोपमा में उपमान तथा उपमेय मे भेद नही होता। पूर्व उपमेय के बाद मे उपमान बन जाने पर रशनोपमा होती है ।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

'भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ।'

—काव्यप्रकाश पृ० ५८०

यहां पूर्व उपमा का उपमेय मति द्वितीय उपमा में उपमान बन गया है। यहां उपमेय उपमान में परिणत अवश्य हुआ है, परन्तु उसी उपमा मे नहीं अपितु द्वितीय उपमा में। इस प्रकार यहां उसी वस्तु का उसी वस्तु से सादृश्य न होकर इतना है कि पूर्व उपमा में जो उपमेय था वह द्वितीय उपमा में उपमान बन गया है। प्रथम उपमा में उस उपमेय का उपमान उससे भिन्न है तथा द्वितीय में भी उस उपमान का उपमेय उससे भिन्न है। अतः यहां उपमेय तथा उपमान में भेद न हो ऐसी बात नहीं।

परस्परोपमा में भी उपमेय तथा उपमान में भेद होता है:—

'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ।।'—चित्रमीमांसा पृ० १०

१. "कथिता रशनोपमा,
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ।"—साहित्यदर्पण १०।२५

परस्परोपमा के इस उदाहरण में व्योम को भूतल के समान तथा भूतल को व्योम के समान कहा गया है । यहां केवल इतना हुआ है कि पूर्व उपमा के उपमेय तथा उपमान द्वितीय उपमा में क्रमशः उपमान तथा उपमेय बन गए है । यह बात नहीं कि उसी वस्तु का उसी वस्तु से सादृश्य दिखाया गया हो ।

अप्पयदीक्षित का यह कथन[1] उचित नही कि उपमेय तथा उपमान में भिन्नता अनिवार्य कर देने पर निम्नलिखित उदाहरण में अव्याप्ति होगी:—

"द्वारं द्वारमटन् भिक्षुः शिक्षत्येवं न याचते ।
अदत्त्वा मादृशो मा भूर्दत्त्वा त्वं त्वादृशो भव ।"—चित्रमीमांसा

यहां 'त्वं त्वादृशो भव' अर्थात् 'तुम तुम्हारे जैसे बनो' में वाच्यार्थ के द्वारा उपमेय तथा उपमान एक प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः उनमें भेद है । यहां 'त्वम्' का अर्थ केवल तुम है, परन्तु 'त्वादृशः' का अर्थ केवल 'तुम्हारे जैसा' नहीं । 'त्वादृशः' में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि है । अतः इसका अर्थ केवल तुम्हारे जैसा न होकर गुणसम्पन्न तुम्हारे जैसा है । इस प्रकार दोनों अर्थो में भेद होने के कारण उपमेय तथा उपमान मे भिन्नता है ।

साधारणधर्म

साधारणधर्म के प्रकार-भेद के अनुसार उपमेय तथा उपमान में सादृश्य अनेक प्रकार से सम्भव है । कभी कभी यह साधारणधर्म उपमेय तथा उपमान में एक रूप से रहता है । 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में साधारणधर्म सौन्दर्य मुख तथा कमल में एक रूप से विद्यमान है । इस प्रकार के साधारणधर्म को अनुगामी कहते हैं ।

कभी कभी यह साधारणधर्म उपमेय तथा उपमान में एक रूप से न रहकर भिन्न रूप से रहता है, परन्तु उसके उन भेदों में सादृश्य होता है । इसे बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहते हैं ।—इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

---

१. "द्वारम्·····················इत्याद्यभिन्नधर्मिकोपमास्वव्याप्तेश्च । तत्र परमेश्वरत्वादेः स्वोपमेयत्वावच्छेदकस्यैवोपमानतावच्छेदकत्वात् ।।"

—चित्रमीमांसा पृ० ११

"पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्तांगरागो नवचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥"

—चित्रमीमांसा पृ० ११

यहां पाण्ड्य को अद्रिराज के सदृश कहा गया है। पाण्ड्य में हार तथा नवचन्दन धर्म हैं तथा अद्रिराज मे निर्झर तथा बालातप धर्म हैं। हार निर्झर से भिन्न है तथा नवचन्दन बालातप से भिन्न है। परन्तु इनमें सादृश्य अवश्य है। हार तथा निर्झर में दीर्घता आदि को लेकर सादृश्य है तथा नवचन्दन एवं बालातप मे वर्णसम्बन्धी सादृश्य है। अतः हार एवं नवचन्दन के धर्मो से युक्त पाण्ड्य तथा निर्झर एवं बालातप के धर्मों से युक्त अद्रिराज मे सादृश्य है। अप्पयदीक्षित का यही मत है।[1] जगन्नाथ भी इसी मत के समर्थक है।[2]

उपर्युक्त उदाहरण मे पाण्ड्य तथा अद्रिराज का सादृश्य बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप से निर्दिष्ट साधारणधर्म के द्वारा ही सम्भव है, अन्य किसी प्रतीयमान साधारणधर्म के द्वारा नही। जहां सादृश्य प्रतीयमान साधारणधर्म के द्वारा सम्भव हो वहां बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप से निर्दिष्ट साधारणधर्म को भी उस सादृश्य का एक हेतु मानना चाहिए, केवलमात्र प्रतीयमान साधारणधर्म को नहीं। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"पश्य निश्चलनिष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका ।
मरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ३५

यहां बलाका तथा शंखशुक्ति का सादृश्य प्रतीयमान साधारणधर्म श्वैत्य के द्वारा भी सम्भव है, परन्तु यहां श्वैत्य को सादृश्य का एकमात्र हेतु न मानकर विसिनीपत्र तथा मरकतभाजन के बिम्बप्रतिबिम्बभाव को भी उसका एक हेतु मानना उचित है। यदि श्वैत्य को ही सादृश्य का हेतु

---

१. "अत्र हरिचन्दनबालातपहारनिर्झरादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टानामपि साधारणधर्मत्वांगीकारात् ।"—चित्रमीमांसा पृ० ११

२. "उपमेयगतानामुपमानगतानां चासाधारणानामपि धर्माणां सादृश्यमूलेनाभेदाध्यवसायेन साधारणत्वकल्पनादुपमासिद्धिः ।"

—रसगंगाधर पृ० २०७

माना जाता है तो साधारणधर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव से उपर्युक्त निर्देश व्यर्थ हो जाएगा।[1]

इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्दिष्ट साधारणधर्म दो प्रकार का होता है—सादृश्यनिर्वाहक तथा तदुत्कर्षक।[2] प्रथम उदाहरण में यह सादृश्यनिर्वाहक है, क्योंकि पाण्ड्य तथा अद्रिराज का सादृश्य अन्य किसी प्रकार सम्भव नही। द्वितीय उदाहरण मे यह सादृश्य का उत्कर्षक है, क्योंकि बलाका तथा शंखशुक्ति मे सादृश्य श्वैत्य के द्वारा भी सम्भव है। बिसीनीपत्र तथा मरकतभाजन का बिम्बप्रतिबिम्बभाव उसका उत्कर्षक है।

अप्पयदीक्षित अनुगामी साधारणधर्म के अतिरिक्त बिम्बप्रतिबिम्बभावादि से निर्दिष्ट अन्य साधारणधर्मों को केवल वाच्य मानते हैं। अतः उनके अनुसार बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य नहीं हो सकता। यही कारण है कि वे लुप्तोपमा मे इसे नही मानते।[3]

अप्पयदीक्षित का यह मत उचित नही। बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिए यह आवश्यक नही कि उसका शब्द द्वारा उपादान हो। वह अर्थगम्य भी हो सकता है। इस प्रकार श्रौत तथा आर्थ ये बिम्बप्रतिबिम्बभाव के दो भेद हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

'मलय इव जगति पण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट्रः।'

—रसगंगाधर पृ० ३९

यहां पण्डु का मलय से तथा धृतराष्ट्र का वल्मीक से सादृश्य दिखाया गया है। पण्डु लोकानन्दन पाण्डवों का जनक है तथा मलय चन्दन का। धृतराष्ट्र भयदायक दुर्योधनादि का जनक है तथा वल्मीक सर्पो का।

---

१. "न च-श्वैत्येनैव तत्सादृश्यनिर्वाहः—इति वाच्यम्, तदा शंखशुक्तौ मरकतभाजनवृत्तित्वविशेषणवैयर्थ्यापत्तेः, तादृशघटकातिरिक्तोपमानविशेषणोपादानस्य वैयर्थ्यात्।"—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ४६

२. "तस्मात्कश्चिद्धर्मः सादृश्यनिर्वाहकः, कश्चित्तु तदुत्कर्षकः इति सिद्धम्।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ४७

३. "लुप्तायां तु नैवं भेदाः। तस्यां साधारणधर्मस्यानुगामित्वनियमात्।"

—चित्रमीमांसा पृ० २१

पाण्डवों तथा चन्दन एवं दुर्योधनादि तथा सर्पों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य है तथा इसी के द्वारा पाण्डु का मलय से तथा धृतराष्ट्र का वल्मीक से सादृश्य सम्भव है । जगन्नाथ का यही मत है ।[1]

जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के इस मत का खण्डन किया है कि बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव केवल वाच्य होता है:—

"न च शब्देनोपात्तत्वं बिम्बप्रतिबिम्बभावे तन्त्रमित्याग्रहो विदुषामुचितः। श्रौतत्वार्थत्वाभ्यां बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य द्वैविध्यौचित्यात् । अत एवाप्रस्तुतप्रशंसादौ प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरौपम्यमवयवबिम्बप्रतिबिम्बभावमूलं संगच्छते ।"—रसगंगाधर पृ० २४०

अप्रस्तुतप्रशंसादि में व्यवहारसादृश्य के कारण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में से किसी एक के द्वारा अन्य का आक्षेप होता है। यह व्यवहार-सादृश्य प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के अवयवों के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप में रहता है। यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव श्रौत न होकर अर्थगम्य होता है।

इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य भी हो सकता है। परन्तु बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिए इतना आवश्यक है कि बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब में से या तो दोनों वाच्य हों या दोनों अर्थगम्य हों। ऐसा नहीं कि उनमें से एक वाच्य हो तथा अन्य अर्थगम्य हो। यदि दोनों में से प्रतिबिम्ब का ही उपादान होता है तो उपमान मे धर्महानि दोष होता है और यदि उनमें से केवल बिम्ब का उपादान होता है तो उपमान में धर्माधिक्य दोष होता है।[2]

---

१. "अत्रानुगामिधर्मस्याप्रत्ययाच्चन्दनानां पाण्डवानां, सर्पाणां दुर्योधनादीनां च बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैव प्रतिपत्तेः ।"

—रसगंगाधर पृ० २३९-२४०

२. "अयं चात्र विशेषः—उभयमध्ये प्रतिबिम्बस्यैवोपादाने उपमाने धर्महानिदोषः, तत्र तत्स्थानीयधर्मानुक्तेः। बिम्बमात्रो(या)दाने तूपमाने धर्माधिक्यं दोषः, उपमेये तत्स्थानीयधर्मानुक्तेरित्यग्रे स्फुटीभविष्यति । तस्माद्बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोर्द्वयोरेव शाब्दत्वम् द्वयोरेव वार्थत्वं विवक्षितम्, न त्वेकस्य शाब्दत्वमन्यस्यार्थत्वमिति ।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ३५

कभी कभी यह साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव के रूप में होता है। अप्पयदीक्षित के मतानुसार वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्ध रूप से न रहकर केवल बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषण अथवा विशेष्य के रूप में रहता है।[1]

जगन्नाथ के अनुसार वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्धरूप से भी सम्भव है' निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

'विमलं वदनं निष्कलंकमृगांकति।'—रसगंगाधर पृ० २३०

यहां वदन का सादृश्य मृगांक से दिखाया गया है। वदन मे वैमल्य है तथा मृगांक में निष्कलंकत्व। वैमल्य तथा निष्कलंकत्व में अन्तर केवल शब्दों का है। अर्थ दोनों का एक ही है। अतः इनमे बिम्बप्रतिविम्बभाव न होकर वस्तुप्रतिवस्तुभाव है और इसी के द्वारा वदन का मृगांक से सादृश्य दिखाया गया है। वदन तथा मृगांक का सादृश्य प्रतीयमान सौन्दर्य धर्म के द्वारा भी सम्भव है, परन्तु यहां वह निर्दिष्ट वस्तुप्रतिवस्तु-भाव के द्वारा ही बताया गया है। अतः यह कहना कि सादृश्य के लिए साधारणधर्म के इस वस्तुप्रतिवस्तुभाव की अपेक्षा नही उचित नहीं। यदि यहां वस्तुप्रतिवस्तुभाव को सादृश्य के लिए आवश्यक नहीं माना जाता है तो अनेक स्थलों पर जहां सादृश्य प्रतीयमान साधारणधर्म के द्वारा सम्भव है बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्दिष्ट साधारणधर्म भी अनावश्यक हो जाएगा। अतः शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभाव के रूप में भी साधारणधर्म को मानना समीचीन है।[2]

---

१. "स तु शुद्धो न संभवति। किं तु विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावकरम्बितः।"—चित्रमीमांसा पृ० २१

२. "विमलं वदनं तस्या निष्कलङ्कमृगांकति इत्यत्र वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयो-र्वस्तुत एकरूपयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावनिर्मुक्तं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नयोरुपमानिष्पा-दकत्वं यद्यस्ति तदा शुद्धं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नोऽप्येष षष्ठो धर्मः। न च········ वदनमृगांकयोः सौन्दर्यरूपसाधारणधर्मस्य प्रतीयमानत्वेन धर्मान्तरानपेक्षणादिति वाच्यम्। एवं तर्हि 'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या' इति भवभूतिपद्येऽपि प्रतीयमानेन सौन्दर्येणैव सामान्येन निर्वाहे कन्धरावृन्तयो-र्बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य वलितत्वाऽऽवृत्तत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावस्य च सकलैरालङ्कारिकैः स्वीकारो विरुद्धः स्यात्। अतो यथास्थितमेव साधु।"–रसगंगाधर पृ० २३०, २३१

बिम्वप्रतिबिम्बभाव के विशेषण रूप में प्रयुक्त वस्तुप्रतिवस्तुभाव का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"यान्त्या मुहुर्वलितकंधरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥"—चित्रमीमांसा पृ० २१, २२

यहां आनन का शतपत्र से सादृश्य दिखाया गया है। कन्धरा तथा वृन्त मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा वलितत्व तथा आवृत्तत्व मे वस्तुप्रति-वस्तुभाव है। यह वस्तुप्रतिवस्तुभाव बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है।[1]

बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेष्यरूप में प्रयुक्त वस्तुप्रतिवस्तुभाव का उदाहरण इस प्रकार है:—

"सा तेन जगृहे साध्वी हठात्साध्वसकम्पिता।

वानरेणातिलोलेन वाताधूतेव वल्लरी॥"—चित्रमीमांसा पृ० २१

यहां साध्वी का सादृश्य वल्लरी से दिखाया गया है। साध्वस तथा वात में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा कम्पितत्व एवं धूतत्व में वस्तुप्रतिवस्तु-भाव है। यह वस्तुप्रतिवस्तुभाव बिम्बप्रतिबिम्बभाव का विशेष्य है।

कभी कभी बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषणरूप में प्रयुक्त वस्तुप्रतिवस्तु-भाव का एक धर्म वाच्य तथा अन्य अर्थगम्य होता है:—

'शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा।
माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता॥"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० ३७

यहां मालविका का सादृश्य लता से दिखाया गया है। गण्ड तथा पत्र में एवं अलङ्कारों तथा कुसुमों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। गण्ड का विशेषण पाण्डुत्व शब्दोपात्त है तथा पत्र का विशेषण पाण्डुत्व शब्दोपात्त न होकर अर्थगम्य है।

---

१. "अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टयोः कन्धरावृन्तयोर्वलितावृत्तशब्दाभ्यामेक एव धर्मो विशेषणतया निर्दिष्टः।'—चित्रमीमांसा पृ० २२

वस्तुप्रतिवस्तुभाव भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव के समान सादृश्यनिर्वाहक तथा सादृश्योत्कर्षक के भेद से दो प्रकार का सम्भव है।

आलङ्कारिकों ने अनुगामित्व, बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव के अतिरिक्त साधारणधर्म के अन्य भेद भी माने हैं। ये श्लेष, उपचार तथा समासभेद हैं।[1]

श्लेष को प्रत्येक दशा में सादृश्य का आधार मानना उचित नहीं। श्लेष सादृश्य का आधार तभी हो सकता है जब वह स्वयं सादृश्य को लिए हो अन्यथा नहीं। श्लेष में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यदि इन विभिन्न अर्थों मे अर्थगत सादृश्य नहीं है तो श्लिष्ट साधारणधर्म सादृश्य का आधार नहीं हो सकता। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव"

—काव्यप्रकाश पृ० ५२१

यहां सकलकल मे श्लेष है। इसके दो अर्थ हैं—कलकलयुक्त तथा सकलकलाओं वाला। पुर के साथ कलकलयुक्त अर्थ लगता है तथा सुधांशुबिम्ब के साथ सकलकलाओं वाला अर्थ। कलकलयुक्तत्व तथा सकलकलासाहित्य में अर्थगत कोई सादृश्य नहीं। अतः इनके आधार पर पुर तथा सुधांशुबिम्ब में सादृश्य मानना उचित नहीं।

ऐसा होने पर भी अनेक विद्वानों ने उपर्युक्त श्लेष के आधार पर पुर तथा सुधांशुबिम्ब में सादृश्य माना है। इनके अनुसार सादृश्य के लिए गुणसाम्य अथवा क्रियासाम्य आवश्यक नहीं। शब्दसाम्य से भी वह सम्भव है। पुर तथा सुधांशुबिम्ब में एक साधारणधर्म है और वह है सकलकलत्व। सकलकलत्व से निकलने वाले अर्थों में सादृश्य हो अथवा न हो, जहां तक शब्दसाम्य का प्रश्न है यहां एक ही शब्द समान रूप से पुर तथा सुधांशुबिम्ब के साथ जुड़ा हुआ है। अतः पुर तथा सुधांशुबिम्ब में सादृश्य है।

---

१. "पूर्णायां क्वचित् साधारणधर्मस्यानुगामितया निर्देशः। क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेन। क्वचिद्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन। क्वचिच्छ्लेषेण। क्वचिदुपचारेण। क्वचित्समासान्तराश्रयेण॥"—चित्रमीमांसा पृ० २१

मम्मटादि का यही मत है ।[1]

मम्मटादि का यह मत समीचीन नही। केवल शब्दसाम्य के आधार पर सादृश्य मानना उचित नहीं। सादृश्य एक प्रकार का ज्ञान है। ज्ञान पदार्थों को अपना विषय बनाता है। अतः सादृश्यज्ञान तभी सम्भव है जब उसके विषय बने हुए पदार्थों में सादृश्य की प्रतीति हो। यह तभी सम्भव है जब उनमें गुणसाम्य अथवा क्रियासाम्य हो। द्रव्य गुणों का आधार होता है। अतः ये गुण आदि द्रव्य अथवा पदार्थ मे रहते है। यदि विभिन्न पदार्थों में एक ही गुण अथवा सदृश गुण रहेंगे तो उनमे सादृश्य की प्रतीति होगी। शब्द पदार्थो में रहते नहीं। वे तो केवल उसके वाचक होते हैं। पदार्थों तथा शब्दों में आश्रयाश्रयिभाव का सम्बन्ध न होकर वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है। शब्दों का प्रयोजन केवल अर्थ का ज्ञान कराना होता है। अतः यह कथन कि दोनों पदार्थो में शब्दसाम्य के कारण सादृश्य सम्भव है कोई अर्थ नहीं रखता।

उद्योतकार का इससे मतभेद है। इनके अनुसार शब्द भी अर्थ का धर्म कहा जा सकता है।[2] उद्योतकार का यह मत युक्तिसङ्गत नहीं। शब्द अर्थ का धर्म नही कहा जा सकता। यदि शब्द को अर्थ का धर्म मानकर उसे सादृश्य का आधार सिद्ध किया जाता है तो अनेक विपरीत धर्म वाले पदार्थ एक शब्द के वाच्य होने के कारण सदृश कहलाएंगे। कोष में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनके एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। क्या एक शब्द के वाच्य होने के कारण हम उन्हें सदृश कह सकते हैं ? और क्या विसदृश

---

१. "यथा कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्" इत्यादौ गुणसाम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा। तथा 'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव। तथा ह्युक्तं रुद्रटेन—स्फुटमर्थालंकारावेता— वुपमासमुच्चयौ किन्तु। आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः॥"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५२१

"साधर्म्यमात्रस्योपमाप्रयोजकत्वात्, तस्य च अर्थरूपस्येव शब्दरूपस्याप्यविशेषेण सम्भवात्॥"

—प्रदीप बालबोधिनी पृष्ठ ५२१

२. 'वाचकतासम्बन्धेन तस्याप्यर्थधर्मत्वादिति भावः।'—उद्योत

—बालबोधिनी पृष्ठ ५२१–५२२

पदार्थों के वैसादृश्य का केवल इसी कारण परिहार हो सकता है क्योंकि वे एक शब्द के वाच्य हैं ?

शब्द अर्थ में सहायक अवश्य है, परन्तु यह इसका वाचकत्व ही है जो अर्थ में सहायक है। उसका स्वरूप अर्थ मे सहायक नही। शब्द का स्वरूप ध्वनिविशेष है। यह उच्चारण के रूप मे होता है। यह उच्चारण अर्थ का अङ्ग नहीं कहा जा सकता।

यदि गुण तथा क्रिया के समान शब्द को पदार्थ का धर्म मानकर शब्दसाम्य के आधार पर सादृश्य माना जाता है तो प्रतीयमान गुणसाम्य अथवा क्रियासाम्य के समान प्रतीयमान शब्दसाम्य भी होना चाहिए। परन्तु ऐसी बात नहीं। 'मुखं कमलमिव' में मुख तथा कमल में गुणसाम्य शब्दोपात्त न होकर प्रतीयमान है और यह सौन्दर्य के रूप में है। इसके द्वारा मुख तथा कमल में सादृश्य की प्रतीति होती है। परन्तु 'पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' में पुर तथा सुधांशुबिम्ब मे सादृश्य की प्रतीति नहीं होती। यदि शब्द अर्थ का धर्म हो तो सकलकलत्व के रूप में प्रतीयमान शब्दसाम्य के आधार पर पुर तथा सुधांशुबिम्ब में सादृश्य की प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः शब्द अर्थ का धर्म नहीं कहा जा सकता।

शब्दसाम्य को सादृश्य का कारण मानने से अन्वयव्यतिरेकभाव के आधार पर किए हुए मम्मटादि के अलंकारों के वर्गीकरण में कतिपय असंगतियां आ जाएंगी। मम्मट उपमा को अर्थालंकार मानते है। यदि शब्दसाम्य को सादृश्य का कारण माना जाता है तो उन्हीं के अन्वयव्यतिरेकभाव के अनुसार 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' का उदाहरण अर्थालंकार के अन्तर्गत न होकर शब्दालंकार के अन्तर्गत हो जाएगा।

शब्दसाम्य सादृश्य का कारण नहीं यही विचारकर विद्यानाथ ने अपनी उपमा की परिभाषा में 'धर्मतः' शब्द का सन्निवेश किया है।[1] 'धर्मतः' की व्याख्या करते हुए विद्यानाथ लिखते हैं:—

"धर्मत इत्यनेन श्लेषालंकारवैलक्षण्यम्। श्लेषे शब्दसाम्यमात्रमभ्युपगतम्, न गुणक्रियासाम्यम्।" —प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २५५

१. "स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥" —प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २५४

विद्यानाथ के इस उचित मत का खण्डन करते हुए अप्पयदीक्षित लिखते हैं:—

"श्लेषव्यावृत्त्यर्थं धर्मत इति विशेषणमप्ययुक्तम्। तत्र न शब्दसाम्यमात्रमिवेनोच्यते, किन्तु गुणसाम्यमपीति तदव्यावृत्तेः। ननु पुरे सकलकलत्वं कलकलशब्दसाहित्यं सुधांशुबिम्बे कलासाकल्यमिति, नैकोऽनुगतो गुणो लभ्यते, मैवम्, श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलया भेदेऽभेद इत्येवंरूपया ऽतिशयोक्त्या धर्मसाधारण्यलाभात्।" —चित्रमीमांसा पृष्ठ ११

इस प्रकार अप्पयदीक्षित श्लेष के आधार पर अभेदाध्यवसाय मानते हैं और उसके द्वारा धर्म की साधारणता सम्भव समझते हैं। इनके अनुसार 'सकलकलम्' में कलकलशब्दसाहित्य तथा कलासाकल्य ये दो अर्थ अवश्य हैं, परन्तु श्लेष के कारण उन दोनों की पृथक्ता नष्ट होकर 'सकलकलम्' का एक रूप रह गया है और इसी एक रूप के आधार पर पुर तथा सुधांशुबिम्ब में धर्मसाधारणता की प्रतीति होती है।

अप्पयदीक्षित का यह मत युक्तियुक्त नहीं। श्लेष के आधार पर जब सादृश्य सम्भव नहीं तब उसके आधार पर अभेदाध्यवसाय कैसे सम्भव हो सकता है। 'सकलकलम्' में शब्द की प्रतीति दोनों दशाओं में अभिन्न रूप से भले ही हो, अर्थ की प्रतीति पृथक् ही बनी रहेगी और सादृश्य की प्रतीति में यह अर्थप्रतीति ही विचारणीय वस्तु है।

भामह, वामन आदि द्वारा अपनी उपमा की परिभाषा में गुणलेश शब्द का सन्निवेश इस बात का द्योतक है कि केवल शब्दसाम्य के आधार पर सादृश्य सम्भव नहीं।

यदि श्लिष्ट शब्द से निकलने वाले अर्थों में अर्थगत कोई सादृश्य होता है तब श्लेष सादृश्य का आधार अवश्य हो सकता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥" —काव्यप्रकाश ९।३७८

यहां खल तथा तुलाकोटि में सादृश्य दिखाया गया है। इनमें उन्नति तथा अधोगति साधारणधर्म हैं। तुलाकोटि के साथ उन्नति का अर्थ ऊर्ध्वगमन

तथा अधोगति का अर्थ अधोगमन है। खल के साथ उन्नति का अर्थ अहंकार तथा अधोगति का अर्थ दर्पभ्रंश है। ऊर्ध्वगमन तथा अहङ्कार में अवस्था के उत्कर्ष के कारण एवं अधोगमन तथा दर्पभ्रंश में अपकर्ष के कारण सादृश्य सम्भव है। फलतः खल तथा तुलाकोटि में सादृश्य है।

उपचार के द्वारा उपमेय तथा उपमान में सादृश्य सम्भव है:—

"उद्भवन्तमुदितार्चिषं ततो भानुमन्तमिव हेमभूभृतः।
पङ्कजैरिव कुमारमीक्षणैर्विस्मयेन विकचैः पपुर्जनाः॥"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ २२

यहां नेत्रों का सादृश्य पङ्कजों से दिखाया गया है तथा विकास को साधारणधर्म कहा गया है। विकास पुष्प का धर्म है। अतः वह केवल उपमान पङ्कज में हो सकता है उपमेय नेत्र में नहीं। उपमेय में यह उपचरित माना जाता है। ऐसा लक्षणा के द्वारा होता है। नेत्र में बाधित होने के कारण इसका लक्ष्यार्थ विस्फारित्व निकलता है। यह नेत्र में रहता है। मुख्यार्थ विकास तथा लक्ष्यार्थ विस्फारिता मे सादृश्य सम्बन्ध है। यह प्रसृतत्व के रूप में है। विकसित पङ्कजों का प्रसार होता है तथा विस्फारी नेत्रों का भी प्रसार होता है। इस प्रकार विकास तथा विस्फारिता में प्रसार के सामान्य रूप से होने के कारण नेत्र तथा पङ्कज में सादृश्य सम्भव है।

उपचार में गौणी लक्षणा होती है। लक्षणा में मुख्यार्थ के बाध होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ लक्षित होता है।[1] इस प्रकार लक्षणा में मुख्यार्थ के बाध होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ ही लक्षित होता है। गौणी लक्षणा अथवा उपचार में यह अर्थ सादृश्य के द्वारा सम्बद्ध होता है। अतः उपचार के सादृश्यमूलक होने के कारण उसके आधार पर उपमेय तथा उपमान में सादृश्य सम्भव है।

समासभेद को प्रत्येक दशा में सादृश्य का आधार मानना उचित नहीं। समासविग्रह करने पर निकलने वाले विभिन्न अर्थों में यदि अर्थ-

१. "मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥"

—काव्यप्रकाश सू० १२

सम्बन्धी सादृश्य है तब तो समासभेद सादृश्य का आधार हो सकता है अन्यथा नहीं।

"तया विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुःकुमुदः कुमार्या।
प्रसन्नचेतःसलिलः शिवोऽभूत् संसृज्यमानः शरदेव लोकः॥"

—चित्रमीमांसा पृ० २२

यहां 'विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या' विशेषण देवी तथा शरद्व के साथ समास-भेद से जुड़ता है। देवी के साथ इसमें उपमित समास[1] होता है तथा शरद्व के साथ मयूरव्यंसकादि[2] समास। उपमित समास में पूर्व पद प्रधान होता है, अतः देवी के साथ 'आननं चन्द्र इव' विग्रह होकर आनन की प्रधानता है। आनन का सम्बन्ध देवी से है तथा चन्द्र का शरद्व से। आनन तथा चन्द्र में प्रतीयमान साधारणधर्म सौन्दर्य के द्वारा सादृश्य है। अतः देवी तथा शरद्व में सादृश्य सम्भव है।

समासविग्रह करने पर निकलने वाले विभिन्न अर्थों में यदि अर्थ-सम्बन्धी सादृश्य नहीं है तो समासभेद सादृश्य का आधार नहीं हो सकता:—

"पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥"

—काव्यप्रकाश ९। ३७०

यहां 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्' आदि समासों का विग्रह दो प्रकार से होता है। रंक के सदन के साथ प्रथम समास का विग्रह 'पृथुकानाम् आर्तस्वरस्य पात्रम्' है तथा नृपसदन के साथ 'पृथूनि कार्तस्वरस्य पात्राणि यत्र तत्' है। इन दोनों अर्थों में अर्थगत कोई सादृश्य नहीं। अतः रंकसदन तथा नृपसदन में सादृश्य सम्भव नहीं।

अनुगामी बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि साधारणधर्मों में से दो या अधिक के सम्मिश्रण के द्वारा सादृश्य अनेक प्रकार से सम्भव है।[3]

कभी कभी साधारणधर्म वाच्य न होकर लक्ष्य अथवा व्यंग्य होता है। लक्ष्य साधारणधर्म का उदाहरण इस प्रकार है:—

१. 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे।'—२। १। ५६
२. 'मयूरव्यंसकादयश्च।'—२। १। ७१
३. "क्वचिदेषां यथासम्भवं मिश्रणेन"—चित्रमीमांसा पृ० २१

"सर्प इव शान्तमूर्तिःश्वेवायं मानपरिपूर्णः ।
क्षीव इव सावधानो मर्कट इव निष्क्रियो नितराम् ।।

—रसगंगाधर पृ० २३५

यहां सर्प, श्वा, क्षीव तथा मर्कट के उपमान होने के कारण शान्तमूर्तित्व आदि साधारणधर्मों का बाध हो जाता है तथा इनके विपरीत साधारणधर्म लक्षित होते हैं।[1]

धर्म के लोप होने पर साधारणधर्म व्यंग्य होता है:—

"मुखं कमलमिवास्ति ।"

यहां साधारणधर्म सौन्दर्य व्यंग्य है।

वाचक

उपमेय तथा उपमान में जिस शब्द के द्वारा सादृश्य का निर्देश किया जाता है उसे वाचक कहते हैं। 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में सादृश्य का निर्देश इव शब्द के द्वारा किया गया है। अतः यह सादृश्य का वाचक है। इव के अतिरिक्त यथा, तुल्य आदि अन्य अनेक शब्द सादृश्य के वाचक हैं। दण्डी ने इनका सविस्तर उल्लेख किया है।[2]

इव, यथा आदि तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों में अनेक आलङ्कारिकों ने आंशिक भेद किया है। उनके अनुसार इव आदि के प्रयोग करने पर साधर्म्य वाच्य होता है तथा सादृश्य अर्थगम्य होता है। तुल्य आदि का प्रयोग करने पर इसके विपरीत सादृश्य वाच्य होता है तथा साधर्म्य अर्थगम्य होता है। इसी भेद के आधार पर उन्होंने उपमा के श्रौती तथा

---

१. "अत्रोपमानमहिम्ना शान्तमूर्त्यादिशब्दैर्विरुद्धा धर्मा लक्ष्यन्ते ।"

—रसगंगाधर पृ० २३५

२. "इववद्वा यथाशब्दाः समाननिभसंनिभाः ।
तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ।।
प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनीकविरोधिनः ।
सदृक्सदृशसंवादिसजातीयानुवादिनः ।।
प्रतिबिम्बप्रतिच्छन्दसरूपसमप्रभाः ।
सलक्षणसदृक्षाभसपक्षोपमितोपमाः ।।
कल्पदेशीयदेश्यादिप्रख्यातप्रतिनिधी अपि ।
सवर्णतुलितौ शब्दौ ये वान्यूनार्थवादिनः ।।

आर्थी ये दो भेद किए हैं।[1]

आलङ्कारिकों का यह मत समीचीन नहीं। अलङ्कार की दृष्टि से इव तथा सदृश में भेद करना उचित नहीं। इव का अर्थ कोष के अनुसार यदि साधर्म्य लें तो भी यह मानना पड़ेगा कि उसका पर्यवसान सादृश्य में ही होता है। उपमा में इव का प्रयोग पृथक् न होकर वाक्य के अन्तर्गत होता है। 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में इव के अतिरिक्त मुख तथा कमल आदि अन्य शब्द भी हैं। वाक्य का अर्थ करते समय इनका भी ध्यान रखना पड़ता है। अतः यदि इव के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होती है तो मुख तथा कमल की भिन्नता के द्वारा वैधर्म्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार वाक्य से साधर्म्य की प्रतीति न होकर सादृश्य की प्रतीति होती है। यदि यह कहा जाता है कि इव के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति पूर्व होती है तथा सादृश्य की बाद में तथा सादृश्य के द्वारा सादृश्य की प्रतीति पूर्व होती है तथा साधर्म्य की बाद में तो भी समय के इस आंशिक

समासश्च बहुव्रीहिः शशांकवदनादिषु।
स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति॥
आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति।
विडम्बयति संरुन्धे हसतीर्ष्यत्यसूयति॥
तस्य पुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्तिं विलुम्पति।
तेन सार्धं विगृह्णाति तुलां तेनाधिरोहति॥
तत्पदव्यां पदं धत्ते तस्य कक्षां विगाहते।
तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति॥
तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचकाः।
उपमायामिमे प्रोक्ताः कवीनां बुद्धिसौख्यदाः॥

—काव्यादर्श २। ५७-६५

१. "यथेवादिशब्दानां सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धरूपे साधर्म्ये एव शक्ततया यथेवादिशब्दप्रयोगस्थले साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्यं वाच्यं सादृश्यप्रतीतिस्त्वार्थी, तुल्यसदृशादिशब्दानां सादृश्यवति शक्तेः तुल्यसदृशादि-शब्दप्रयोगस्थले सादृश्यं वाच्यं साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्यं त्वार्थमिति सम्बन्धबोधविशेषादुपपद्यते एव श्रौत्यार्थी चेति विभागः॥"

—बालबोधिनी पृ० ५४६

भेद के आधार पर इव तथा सदृश का अलङ्कार-दृष्टि से भेद करना उचित नहीं। उपमा सादृश्य का ही दूसरा नाम है तथा इव एवं सदृश इन दोनों के प्रयोग की दशा में इस सादृश्य का बोध होता है। सदृश के प्रयोग की दशा मे इसकी प्रतीति उसी क्षण होती है तथा इव के प्रयोग की दशा में द्वितीय क्षण में यह मानना भी उचित नहीं। 'मुखं कमलमिव' तथा 'मुखं कमलेन तुल्यम्' इन दोनों दशाओं में हमे सादृश्य की प्रतीति समान रूप से होती है।

इव के प्रयोग की दशा में सादृश्य को जो अर्थगम्य मानते हैं उन्हें भी इसे लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ से भिन्न मानना पड़ेगा और इनसे भिन्न होने के कारण यह वाच्यार्थ का ही प्रकार हो सकता है। इस प्रकार सादृश्य का अर्थगम्यत्व वाच्यत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इव तथा सदृश को भिन्न मानने से वाच्यार्थ के श्रौत तथा आर्थ दो भेद मानने पड़ेंगे। यह उचित नहीं। अर्थों का विभाजन स्वरूप-भेद के अनुसार होता है और इसी आधार पर वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थ बने हैं। इसके अतिरिक्त केवल कालक्रम को अर्थविभाजन का आधार मानना उचित नही और यदि इस कालक्रम को आधार माना भी जाय तो भी 'मुखं कमलमिव' तथा 'मुखं कमलेन तुल्यम्' से प्रतीत होने वाले सादृश्य में यह कालक्रम प्रतीत नहीं होता।

इव का प्रयोग जिस शब्द के बाद होता है वह उपमान होता है। 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में इव का प्रयोग कमल के बाद हुआ है। अतः कमल उपमान है। कमल के बाद इव का प्रयोग होने के कारण इसका सीधा सम्बन्ध उपमान कमल से है और यह उसी का विशेषण है। परन्तु उपमान कमल से सम्बद्ध होकर यह उपमेय मुख का भी सम्बन्ध कमल से स्थापित करता है। इस प्रकार 'इव' केवल उपमान में ही साधारणधर्म की प्रतीति नहीं कराता अपितु उपमेय तथा उपमान का साधारणधर्म के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करके उनमें सादृश्य की प्रतीति कराता है। षष्ठी विभक्ति के प्रयोग के उदाहरण से यह स्पष्ट है। 'राज्ञो राज्यम्' में षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध यद्यपि राजन् से है और वह उसमें स्वामित्व का बोध कराती है तथापि वह राजा तथा राज्य में स्वस्वामिभाव के सम्बन्ध का भी बोध कराती है। यही

बात इव के प्रयोग के साथ है।[1]

तुल्य का प्रयोग उपमेय, उपमान अथवा इन दोनों के साथ हो सकता है। 'तेन तुल्यं मुखम्' में इसका प्रयोग उपमेय के साथ है, 'तत्तुल्यमस्य' में उपमान के साथ तथा 'इदं च तच्च तुल्यम्' में दोनों के साथ है। जहां तुल्य का प्रयोग केवल उपमेय अथवा केवल उपमान के साथ होता है वहां भी उपमेय तथा उपमान मे ही सादृश्यप्रतीति होती है। सादृश्य एक वस्तु में सम्भव नहीं। उसके लिए एक से अधिक वस्तुओं की आवश्यकता है। अतः सदृश शब्द के वाचक होने पर प्रत्येक दशा मे सादृश्य की प्रतीति उपमेय तथा उपमान दोनों में होती है।[1]

१. " 'राज्ञो राज्यम्' इत्यादौ स्वप्रकृत्यनन्तरमुपात्ता षष्ठी विभक्तिः स्वप्रकृत्यर्थे राजनि स्वामित्वं प्रत्याययन्ती तद्विशेषणं भवन्त्यपि यथा राजराज्ययोः स्वस्वामिभावं सम्बन्धं प्रत्याययति तथा उपमाने उपमानतां प्रत्याययन्तोऽपि यथेवादिशब्दाः उपमानोपमेययोः साधर्म्याख्यसंबन्धं श्रवणमात्रेण उपस्थापयन्त्येव शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् ॥"—बालबोधिनी पृष्ठ ५५०

१. " 'तेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेये एव, 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने एव, 'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिः।"—काव्यप्रकाश ५५२

उपमा के भेदोपभेद तथा उनका वर्गीकरण

आलङ्कारिकों ने उपमा के अनेक भेदोपभेद किए हैं। सादृश्य को ध्यान में रखकर इनका निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है:—

प्रशंसोपमा, निन्दोपमा तथा तत्त्वाख्यानोपमा आदि भेद साधारणधर्म के उत्कर्ष, अपकर्ष तथा इन दोनों के अभाव के आधार पर किए गए हैं। प्रशंसोपमा में साधारणधर्म उत्कृष्ट होता है तथा निन्दोपमा में यह निकृष्ट होता है। तत्त्वाख्यानोपमा में यह न उत्कृष्ट होता है और न निकृष्ट। निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट है:—

'स्निग्धं भवत्यमृतकल्पमहो कलत्रम्।'

'हालाहलं विषमिवापगुणं तदेव।'

'तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले।'

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति पृ० ५६

इन उपमाओं में उपमानों का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष न होकर साधारण-धर्म का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष कहना उचित होगा। उत्कर्ष तथा अपकर्ष का प्रधानतः सम्बन्ध गुण से होता है, गुणी से उसका सम्बन्ध केवल गुण के द्वारा होता है। वस्तु स्वतः उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट न होकर गुणविशेष को लक्ष्य करके ऐसी होती है। यह अवश्य है कि कतिपय वस्तुएं अपने धर्म की प्रसिद्धि के कारण उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट प्रतीत होती हैं, परन्तु इसका कारण उन प्रसिद्ध धर्मों का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष ही होता है। इन वस्तुओं के श्रवणमात्र से इनका गुण हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है और हम इन वस्तुओं को उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट कह देते हैं। परन्तु प्रत्येक दशा में ऐसी बात नहीं होती। कतिपय वस्तुएं जो एक धर्म के कारण उत्कृष्ट कही जाती हैं वे ही अन्य धर्म के कारण निकृष्ट सिद्ध होती हैं। वस्तुओं में अनेक धर्म होते हैं। ये धर्म सबके सब उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट हों ऐसी बात नहीं। इनमें से कुछ का उत्कृष्ट होना तथा कुछ का निकृष्ट होना भी सम्भव है।

भरत मुनि की प्रशंसोपमा तथा निन्दोपमा[1] इसी श्रेणी के अन्तर्गत

---

१. देखिए नाट्यशास्त्र अ० १६ श्लो० ५१, ५२

आती हैं। भरत मुनि ने तत्त्वाख्यानोपमा का वर्णन नहीं किया है। वामन ने प्रशंसोपमा तथा निन्दोपमा के अतिरिक्त तत्त्वाख्यानोपमा का भी निरूपण किया है।[1] दण्डी ने निन्दोपमा तथा प्रशंसोपमा का उल्लेख किया है, परन्तु उनके द्वारा की हुई इन अलंकारों की परिभाषाएं कुछ भिन्न हैं।[2] परवर्ती आलङ्कारिकों ने प्रायः इस आधार पर उपमा के भेदों का विवेचन नहीं किया है। विश्वेश्वर ने अपने अलङ्कारशेखर में निन्दोपमा का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उनकी निन्दोपमा पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों की निन्दोपमा से भिन्न है:—

"यत्रोपमानस्य निन्दया प्रतिक्षेपः सा निन्दोपमा—"

यथा—"नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः।

लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूप जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥"

यहां नागेन्द्रहस्त आदि को उरुओं से निकृष्ट बताया गया है। यहां साधारणधर्म की निकृष्टता से अभिप्राय न होकर उपमान की उपमेय से निकृष्टता दिखाने से अभिप्राय है। अतः इसे उपमा के अन्तर्गत न रखकर व्यतिरेक के अन्तर्गत रखना उचित होगा।

उपमानों तथा साधारणधर्मों की अनेकता के आधार पर भेद:—

मालोपमा, परस्परोपमा, समुच्चयोपमा आदि भेद उपमानों तथा

---

१. "स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु"—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४। २। ७

२. "पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्याम् तवाननम्।
समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता॥" २। ३०
"ब्रह्मणोऽप्युद्भवः पद्मश्चन्द्रः शंभुशिरोधृतः।
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रशंसोपमोच्यते॥" २। ३१—काव्यादर्श

प्रथम उदाहरण में आनन को पद्म तथा चन्द्र से उत्कृष्ट बताया गया है। अतः इसे व्यतिरेक के अन्तर्गत रखना उचित है। द्वितीय उदाहरण को प्रशंसोपमा का उदाहरण अवश्य कहा जा सकता है परन्तु इसमें वामनादि के उदाहरणों से यह भेद है कि वामनादि के उदाहरणों में उत्कर्ष उपमान से स्वतः प्रकट होता है परन्तु यहां वह उपमान के विशेषण के रूप में प्रयुक्त शब्दों से प्रकट होता है।

साधारणधर्मों में से किसी एक अथवा दोनों की अनेकता के आधार पर किए गए हैं। उपमानों की अनेकता का प्रयोजन उपमेय का केवल अनेक उपमानों से सादृश्य बताना नहीं होता परन्तु इस सादृश्य के द्वारा साधारणधर्म का उत्कर्ष दिखाना होता है। मालोपमा में यही बात होती है।

यथा—"वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा॥

—साहित्यदर्पण पृ० ५१८

यहां साधारणधर्म मनोहरता के द्वारा श्री का सादृश्य सरसी, निशीथिनी तथा वनिता के साथ दिखाया गया है। उपमानों की इस अनेकता से साधारणधर्म मनोहरता में उत्कर्ष आ गया है।

उपर्युक्त उदाहरण में केवल उपमानों की अनेकता है। कभी कभी उपमानों की अनेकता के साथ साथ साधारणधर्म की अनेकता भी सम्भव है। इसीलिए मालोपमा के भेद करते समय आलंकारिकों ने साधारणधर्म को भिन्न तथा अभिन्न बताया है।[1] भिन्न साधारणधर्म वाली मालोपमा का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुधेव मदकारणम्।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी॥"—काव्यानुशासन ६। ५१८

यहां नयनानन्दत्व, मदकारणत्व आदि साधारणधर्म हैं।

मालोपमा का अनेक आलंकारिकों ने निरूपण किया है। इनमें दण्डी, रुद्रट, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि प्रमुख हैं।

परस्परोपमा में दो वस्तुओं का परस्पर सादृश्य दिखाया जाता है, परन्तु दोनों सादृश्यों में साधारणधर्म भिन्न होता है:—

"रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्॥"

—चित्रमीमांसा पृ० १०

यहां भूतल के साथ गगन के सादृश्य में रजस् साधारणधर्म है

---

१. "इयमभिन्ने साधारणे धर्मे............इति भिन्ने वा।"

—काव्यानुशासन पृ० ३४६

तथा गगन के साथ भूतल के सादृश्य मे गजों तथा मेघों का बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव साधारणधर्म है । इस प्रकार दोनों साधारणधर्मों में भिन्नता है। पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने परस्परोपमा का वर्णन नही किया है। परवर्ती आलङ्कारिकों में अप्पयदीक्षित आदि ने इसका वर्णन किया है।

समुच्चयोपमा का वर्णन केवल दण्डी ने किया है। इसमें एक से अधिक साधारणधर्म होते हैं:—

"समुच्चयोपमाप्यस्ति न कान्त्यैव मुखं तव ।
ह्लादनाख्येन चान्वेति कर्मणेन्दुमितीदृशी ।।"

—काव्यादर्श २ । २१

यहां कान्ति तथा ह्लाद ये दो साधारणधर्म हैं।

दण्डी ने बहूपमा तथा हेतूपमा नामक दो उपमाभेद और गिनाए हैं, परन्तु ये वस्तुतः मालोपमा से भिन्न नहीं। बहूपमा का उदाहरण इस प्रकार है:—

"चन्दनोदकचन्द्रांशुचन्द्रकान्तादिशीतलः ।
स्पर्शस्तव..................।।"—काव्यादर्श २ । ४०

यहां चन्दनादि अनेक उपमान हैं। अतः यह मालोपमा से भिन्न नहीं। इसमें यद्यपि 'वारिजेनेव सरसी.........'इस उदाहरण के समान प्रत्येक उपमान के बाद इव नहीं जोड़ा गया है, परन्तु फिर भी दोनों दशाओं में उपमानों की अनेकता की प्रतीति समान है।

हेतूपमा का उदाहरण दण्डी ने निम्नलिखित दिया है:—

"कान्त्या चन्द्रमसं धाम्ना सूर्यं धैर्येण चार्णवम्,
राजन्ननुकरोषि ।"—काव्यादर्श २ । ५०

यहां भी चन्द्रमा आदि अनेक उपमान विद्यमान हैं । अतः यह भी मालोपमा से भिन्न नहीं । यह कहना उचित नहीं कि कान्ति आदि साधारणधर्म, उपमेय राजा के उपमान चन्द्रमा आदि से सादृश्य के हेतु हैं, अतः यह हेतूपमा है। इस प्रकार तो समस्त उपमाएं हेतूपमाएं ही हो जाएंगी क्योंकि उनमें विद्यमान साधारणधर्म सादृश्य का हेतु होता है। साधारणधर्म के साथ तृतीया के प्रयोगमात्र से इसे भिन्न भेद

बताना उचित नहीं क्योंकि साधारणधर्म के साथ तृतीया के प्रयोग अथवा अप्रयोग से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता।

सादृश्य के संश्लिष्ट-चित्रण आदि के आधार पर भेद:—

सावयवा, निरवयवा आदि उपमाभेद सादृश्य के संश्लिष्ट चित्रण तथा ऐसे चित्रण के अभाव के आधार पर किए गए हैं। सावयवोपमा में अवयवियों के सादृश्य के अतिरिक्त उनके अवयवों का सादृश्य भी रहता है। इस प्रकार इन सब के सादृश्य के द्वारा एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जाता है:—

"ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव॥"—चित्रमीमांसा पृ० ६०

यहां 'रघु' तथा 'भास्वान्' के सादृश्य के अतिरिक्त शरों तथा किरणों एवं उदीच्यों तथा रसों का सादृश्य भी दिखाया गया है। इस प्रकार के सादृश्य से एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है। इससे बाणों के द्वारा उदीच्यों को नष्ट करने के लिए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किए हुए रघु, किरणों के द्वारा रसों को सुखाने के लिए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किए हुए रवि के समान प्रतीत होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में अवयवियों के साथ साथ समस्त अवयवों का सादृश्य भी वाच्य है। अतः यह समस्त-वस्तुविषयसावयवोपमा[1] का उदाहरण है।

कभी कभी अवयवियों तथा अवयवों के सादृश्यों में से किसी एक का सादृश्य व्यंग्य होता है। इस दशा में एकदेशविवर्तिनी सावयवोपमा[2] होती है:—

"नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव॥"—

साहित्यदर्पण पृ० ५१७

यहां उत्पल, पद्म आदि अवयवों का क्रमशः नेत्र, मुख आदि से सादृश्य

---

१. देखिए चित्रमीमांसा पृ० ६०

२. "एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते, भवेतां यत्र साम्यस्य।"
—साहित्यदर्पण १० । २४

वाच्य है, परन्तु सरःश्रियों का ललनाओं से सादृश्य व्यंग्य है। अतः यह एकदेशविवर्तिनी सावयवोपमा का उदाहरण है।

निरवयवोपमा में उपर्युक्त संश्लिष्ट चित्रण का अभाव रहता है। इसमें केवल अवयवियों का सादृश्य दिखाया जाता है अवयवों का नहीं:—

"मुखं कमलमिव सुन्दरम्"

यहां केवल मुख का कमल से सादृश्य दिखाया गया है, मुख के अवयवों का कमल के अवयवों से नहीं।

इस निरवयवोपमा में उपमानों की अनेकता भी हो सकती है। इस निरवयवोपमा के दो भेद हो जाते हैं। प्रथम में उपमान एक होता है तथा द्वितीय में अनेक उपमान होते हैं। प्रथम उपमा को शुद्धा निरवयवोपमा तथा द्वितीय को मालानिरवयवोपमा कहते हैं। मालानिरवयवोपमा का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुधेव मदकारणम्।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी॥"

—साहित्यदर्पण टीका पृ० ५१८

आलङ्कारिकों ने सावयवोपमा तथा निरवयवोपमा के अतिरिक्त परिम्परितोपमा नामक उपमा का एक और भेद किया है। परम्परितोपमा में उनके अनुसार एक सादृश्य अन्य सादृश्य का कारण होता है।

आलङ्कारिकों का यह मत युक्तिसंगत नहीं। दो वस्तुओं के सादृश्य का कारण उनमें विद्यमान साधारणधर्म ही हो सकता है। अन्य दो वस्तुओं का सादृश्य इन वस्तुओं के सादृश्य का कारण नहीं हो सकता। अन्य वस्तुओं का सादृश्य उन वस्तुओं के साधारणधर्म के आधार पर होता है। यह साधारण-धर्म इन अन्य वस्तुओं में रहने के कारण इन्हीं से सम्बद्ध हो सकता है। इनसे अतिरिक्त वस्तुओं से असम्बद्ध होने के कारण वह अतिरिक्त वस्तुओं के सादृश्य का कारण नहीं हो सकता। आलङ्कारिकों के परम्परितोपमा के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है:—

"राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः।
द्रुमाणामिव लोकानां मधुमास इवाभवत्॥"—रसगंगाधर पृ० २४३

जगन्नाथ के अनुसार यहां युधिष्ठिर का सादृश्य मधुमास से तथा लोकों का सादृश्य द्रुमों से दिखाया गया है। इनमे द्वितीय सादृश्य प्रथम सादृश्य का कारण है। जगन्नाथ का यह मत उचित प्रतीत नही होता। यहां द्रुमों तथा लोकों में कोई साधारणधर्म नही। अतः इनमे सादृश्य सम्भव नहीं। यदि इनमें किसी साधारणधर्म के आधार पर सादृश्य सम्भव मान लिया जाए तो भी वह युधिष्ठिर तथा मधुमास के सादृश्य का कारण नही हो सकता। युधिष्ठिर तथा मधुमास के सादृश्य के लिए आवश्यक है कि इन्हीं मे कोई साधारणधर्म हो। अन्य वस्तुओं का साधारणधर्म इनके सादृश्य का कारण नही हो सकता।

वस्तुतः उपर्युक्त श्लोक मे लोकों तथा द्रुमों एवं युधिष्ठिर तथा मधुमास में पृथक् पृथक् सादृश्य दिखाने से अभिप्राय न होकर लोकों तथा युधिष्ठिर के सम्बन्ध का सादृश्य द्रुमों तथा मधुमास के सम्बन्ध से दिखाने से है। उपर्युक्त श्लोक का यह अर्थ नही कि लोक द्रुमों के समान है तथा युधिष्ठिर मधुमास के समान है अपितु इसका अर्थ यह है कि युधिष्ठिर लोकों के लिए वैसा ही है जैसा मधुमास द्रुमों के लिए होता है। जिस प्रकार द्रुमों तथा मधुमास में पोष्यपोषक सम्बन्ध है उसी प्रकार युधिष्ठिर तथा लोकों में रक्ष्यरक्षक सम्बन्ध है। इस प्रकार दोनों सम्बन्धों में सादृश्य है।

अप्पयदीक्षित का परम्परितोपमा का उदाहरण भी यह सिद्ध नहीं करता कि एक उपमा अन्य उपमा का कारण होती है। उदाहरण इस प्रकार है:—

'दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥'

—चित्रमीमांसा पृ० ६०

यहां अम्बुराशि की उपमा अयश्चक्र से तथा वेला की उपमा अयश्चक्र की धारा से निबद्ध कलङ्करेखा से है। इस प्रकार यहां दो उपमाएं हैं, परन्तु प्रथम उपमा को द्वितीय उपमा का कारण कहना उचित नही। यहां वेला का धारा से निबद्ध कलङ्करेखा से सादृश्य स्वतन्त्र रूप से है, प्रथम उपमा के कारण नहीं। वेला तथा कलङ्करेखा दोनों मे नीलवर्ण साधारणधर्म है। अतः दोनों में सादृश्य है।

उपर्युक्त उदाहरण को समस्तवस्तुविषयसावयवोपमा का उदाहरण कहना उचित होगा। यहां अम्बुराशि की उपमा अयश्चक्र से है तथा अम्बुराशि के अवयत्र वेला की उपमा अयश्चक्र के अवयव कलङ्करेखा से है।

श्लिष्ट परम्परितोपमा का आलंकारिकों का उदाहरण भी यह सिद्ध नहीं करता कि एक उपमा अन्य उपमा का कारण हो सकती है। अप्पयदीक्षित का श्लिष्ट परम्परितोपमा का उदाहरण निम्नलिखित है:

'राजहंसायते राजा विदुपामेव मानसे'—चित्रमीमांसा पृष्ठ ६१

अप्पयदीक्षित के अनुसार यहां चित्त का मानसरोवर से सादृश्य मानस मे श्लेप के कारण है तथा यह सादृश्य राजा तथा राजहंस के सादृश्य का कारण है।

यह मत उचित नही। प्रस्तुत श्लोक में मानस का मानसरोवर से तथा राजा का राजहंस से सादृश्य दिखाने से तात्पर्य नही अपितु मानस तथा राजा के सम्बन्ध का सादृश्य मानसरोवर तथा राजहंस के सम्बन्ध से दिखाने से है। श्लोक का अर्थ यही है कि विद्वानों के मन मे राजा उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार मानसरोवर में राजहंस। मन तथा राजा का आश्रयाश्रयी सम्बन्ध है तथा मानसरोवर एवं राजहंस का भी आश्रयाश्रयी सम्बन्ध है। इस प्रकार दोनों सम्बन्धों मे सादृश्य है। यद्यपि आश्रयाश्रयिभाव को लेकर दोनों सम्बन्धों में अभेद है, परन्तु इन सम्बन्धों में सम्बद्ध वस्तुओं के भेद के कारण भेदप्रतीति भी बनी रहती है। इस प्रकार भेद तथा अभेद के कारण दोनों सम्बन्धों में अभेदप्रतीति न होकर सादृश्यप्रतीति ही होती है। स्वयं दोनों आश्रयाश्रयिभावों में भी कुछ अन्तर है। मानसरोवर तथा राजहंस का आश्रयाश्रयिभाव मूर्त है तथा मन एवं राजा का आश्रयाश्रयिभाव अमूर्त है।

अतः परम्परितोपमा को भिन्न भेद मानने की आवश्यकता नहीं। आलंकारिकों के द्वारा दिए हुए परम्परितोपमा के उदाहरण प्रायः सम्बन्धों के सादृश्य के अन्तर्गत आते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है।

इसी प्रकार विशिष्टोपमा को भी भिन्न भेद मानना आवश्यक नहीं। विशिष्टोपमा के निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति।

भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पङ्कजम् ॥"—चित्रमीमांसा पृ० १५

यहां आनन का सादृश्य पङ्कज से दिखाया गया है। अक्षि तथा भृङ्ग एवं दशनदीधिति तथा केशर मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अधीरत्व तथा भ्रमणशीलता एवं आविर्भाव तथा आलक्ष्यत्व मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। इस प्रकार यहां साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप में है और यह साधारणधर्म आनन के पङ्कज से सादृश्य का कारण है। अतः उपर्युक्त उदाहरण मे आनन का पङ्कज से सादृश्य मानकर अन्य अवयवों को साधारणधर्म का रूप मानना उचित होगा। यदि इन अवयवों मे विशिष्ट आनन तथा पङ्कज का सादृश्य माना जाता है तो भी अवयवों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त बिम्बप्रतिबिम्बभाव को साधारणधर्म का हेतु मानना पड़ेगा, अन्यथा इन अवयवों का उपादान व्यर्थ हो जाएगा। अतः विशिष्टोपमा साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव एवं बिम्बप्रतिबिम्बभाव के अतिरिक्त और कुछ नही।

इस प्रकार संश्लिष्ट चित्रण तथा इस चित्रण के अभाव के आधार पर किए हुए आलङ्कारिकों के दो उपमा-भेद रह जाते हैं। ये सावयवोपमा तथा निरवयवोपमा हैं। सावयवोपमा के अतिरिक्त सम्बन्धोपमा तथा वस्तुप्रति-वस्तुभावमूलक एवं बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक उपमाओं मे भी संश्लिष्ट चित्रण होता है। निरवयवोपमा में इस चित्रण का अभाव रहता है।

परवर्ती आलङ्कारिकों ने उपमा के इन भेदों का विशद विवेचन किया है। अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ इनमें प्रमुख हैं। हेमचन्द्र ने समस्तविषया तथा एकदेशविषया का उल्लेख किया है।[1] विद्यानाथ ने इनके समस्त-वस्तुविषया तथा एकदेशविवर्तिनी नाम रखे हैं।[2] विश्वनाथ ने एकदेशवि-वर्तिनी का उल्लेख किया है।[3] पूर्ववर्ती आलङ्कारिको में दण्डी तथा रुद्रट ने इनका उल्लेख किया है। दण्डी ने सावयवोपमा के लिए वाक्यार्थोपमा[4]

---

१. "अत्रोपमानोपमेययोरवयविनोः समस्तविषया। अवयवानां चैकदेशविषया।"
—काव्यानुशासन पृष्ठ ३४७

२. प्रतापरुद्रयशोभूषण

३. साहित्यदर्पण १०।२४

४. "वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते।
एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधा॥"—काव्यादर्श २।४३

शब्द का प्रयोग किया है। रुद्रट ने समस्तविषया तथा एकदेशिनी का उल्लेख किया है।[1]

सादृश्य के वाच्यत्व तथा व्यंग्यत्व के आधार पर किए गए उपमाप्रभेदों का खण्डन:—

जगन्नाथ ने सादृश्य के वाच्यत्व तथा व्यंग्यत्व के आधार पर उपमालंकार के दो भेद किए हैं। ये वाच्योपमा तथा व्यंग्योपमा है। जगन्नाथ के अनुसार अलंकारत्व तथा व्यंग्यत्व में कोई विरोध नहीं। अलंकार का विरोध है तो केवल प्रधानता से है व्यंग्यता से नहीं। अतः अप्रधान व्यंग्य अलंकार हो सकता है।[2]

जगन्नाथ का यह मत युक्तिसङ्गत नहीं। अलङ्कारों का क्षेत्र वाच्य की चारुता है। अलङ्कारों में जहाँ व्यंग्य होता है वह वाच्य का उपस्कारक होता है और व्यंग्योपस्कृत यह वाच्य ही वहां अलंकार का स्वरूप होता है। केवल व्यंग्य चाहे वह प्रधान हो अथवा अप्रधान अलंकार का स्वरूप नहीं हो सकता। मम्मटादि ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।[3]

यदि व्यंग्यार्थ को अलंकार का स्वरूप माना जाता है तो व्यंग्यार्थ के अनेकों भेदोपभेद अलंकार के अन्तर्गत आ जाएंगे और फलतः व्यंजना का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाएगा। व्यंग्यार्थ में चमत्कार का कारण प्रधानतः व्यञ्जना होती है, सादृश्य आरोप आदि अन्य वस्तुएं नहीं। यदि सादृश्य व्यंग्य है तो वहां चमत्कार प्रधानतः व्यञ्जना के कारण होगा सादृश्य के कारण

---

१. "क्रियतेऽर्थयोस्तथा या तदवयवानां तथैकदेशानाम्।
परमन्या ते भवतः समस्तविषयैकदेशिन्यौ॥"—काव्यालङ्कार ८।२६

२. "न हि व्यंग्यत्वालङ्कारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोधः। प्राधान्येन व्यंग्यतायां तु प्रधानत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधादलंकारलक्षणं तत्र मातिप्रसाङ्क्षीदित्युपस्कारकत्वेन पुनर्विशेषणीयम्, न त्वव्यंग्यत्वेन।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ २३७

३. "न खलु व्यंग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः, अपितु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव।"—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५६२

"उक्तव्यंग्यरूपं वैचित्र्यमनुसन्धानसाधितं भवदपि पश्चात्प्रतीतया अलंकारवैचित्र्यप्रतीतिव्यवहितप्रतीतिकत्वेनास्फुटतया च सदप्यकिञ्चित्करमेव।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ५६२

नही। सादृश्य का चमत्कार मुख्यतः वाच्यता की दशा मे होता है। व्यंग्यता की दशा मे चमत्कार का हेतु सादृश्य न होकर व्यञ्जना ही होती है। अतः व्यग्यार्थ की दशा मे सादृश्य के सद्भावमात्र से उपमा कहना उचित नही।

भामह, उद्भट प्रभृति प्राचीन आलङ्कारिकों के अनुसार वाच्यचारुत्व ही अलङ्कार का स्वरूप है। अलङ्कारों में जहां व्यंग्यार्थ का सद्भाव है वह स्वतन्त्ररूप से न होकर वाच्यार्थ के उपस्कारक के रूप में है।[1]

अलङ्कार की इसी वाच्यता को ध्यान मे रखकर विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने अपनी उपमालङ्कार की परिभाषा में वाच्य शब्द का सन्निवेश किया है।[2]

व्यंग्य सादृश्य रूपक आदि मे भी होता है, परन्तु वहां उपमालङ्कार नहीं कहा जा सकता।

अप्पयदीक्षित को भी यह मत मान्य है। वे अलङ्कार के लिए अव्यंग्यत्व आवश्यक समझते हैं। विशिष्टोपमा में जहां विशेषणों का सादृश्य गम्य होता है, वे विशेषणों के इस सादृश्य को अलङ्कार नही मानते। 'न पद्मं मुखमेवेदम्' में सादृश्य वाच्य नही, अतः अप्पयदीक्षित इसे उपमालङ्कार नहीं मानते:—

"......इति द्विविधमप्येतदुपमासामान्यलक्षणम्। अलङ्कारभूतोपमालक्षणं तु एतदेवादुष्टाव्यंग्यत्वविशेषितम्। विशिष्टोपमादिस्थले विशेषणाद्युपमानां वाच्यभूतविशिष्टोपमादिसिद्धयङ्गत्वात्। वाच्यसिद्ध्यंगरूपगुणीभूतव्यंग्यतयैव तासां नालङ्कारतेति न तदव्यापनं दोषः। 'पद्मं मुखमेवेदम्' इत्यादौ नोपमालङ्कारः।"—चित्रमीमांसा पृ० २०

अप्पयदीक्षित का अलङ्कार को अव्यंग्य कहना सर्वथा उचित है, परन्तु उपमा तथा उपमालङ्कार में उनके द्वारा भेदकथन उचित नहीं। वे उपमा को वाच्य तथा व्यंग्य दोनों मानते हैं परन्तु उपमालङ्कार को केवल वाच्य मानते हैं। यह युक्तियुक्त नहीं। उपमा से तात्पर्य उपमालङ्कार से ही है। उपमा उपमालङ्कार से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं। अतः जहां सादृश्य व्यंग्य हो वहां

---

१. "इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालङ्कारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।"—सर्वस्व पृ० ४

२. "स्वतःसिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥"—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० २५४
"साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमा द्वयोः।"—साहित्यदर्पण १०। १४

व्यंग्योपमा न कहकर व्यंग्य सादृश्य कहना उचित होगा। व्यंग्य सादृश्य तथा व्यंग्य आरोप आदि के लिए उपमाध्वनि तथा रूपकध्वनि आदि का जो प्रयोग किया जाता है वह केवल गौण रूप से होता है, और इसका प्रयोजन केवल यही बताना होता है कि यदि यही सादृश्य तथा आरोप आदि वाच्य हों तो ये उपमालंकार तथा रूपकालंकार आदि के उदाहरण होंगे। प्रधान व्यंग्य के लिए अलङ्कार का प्रयोग 'ब्राह्मणश्रमणन्याय'[1] के आधार पर जिस प्रकार गौणरूप से माना जाता है उसी प्रकार अप्रधान व्यंग्य के लिए भी अलङ्कार के प्रयोग को गौण रूप से मानना चाहिए। प्रधानता तथा अप्रधानता के आधार पर व्यंग्यार्थ के इस प्रकार भेद करना उचित नहीं। दोनों दशाओं मे अर्थ का स्वरूप समान होता है तथा चमत्कार व्यञ्जना के कारण होता है:--

अवयवों के उपादान तथा अनुपादान के आधार पर उपमाभेद:—

आलङ्कारिकों ने उपमा के संपूर्ण अवयवों के उपादान तथा उनमें से किसी एक अथवा अधिक के अनुपादान के आधार पर उपमा के पूर्णा तथा लुप्ता दो भेद किए है। पूर्णोपमा में उपमा के समस्त अवयव उपमेय, उपमान, साधारणधर्म तथा वाचक विद्यमान रहते हैं। इन समस्त अवयवों के विद्यमान रहने के कारण सादृश्य में स्पष्टता आ जाती है।

"मुखं कमलमिव सुन्दरम्।"

यहां उपमा के चारों तत्त्व उपमेय, उपमान, साधारणधर्म तथा वाचक क्रमशः मुख, कमल, सौन्दर्य तथा इव के रूप में विद्यमान हैं। इन समस्त तत्त्वों के उपादान के कारण मुख का कमल से सौन्दर्य-सम्बन्धी सादृश्य स्पष्ट हो जाता है।

लुप्तोपमा में इन तत्त्वों में से किसी एक अथवा अधिक का लोप होता है। 'मुखं कमलमिव' में साधारणधर्म सौन्दर्य के अनुपादान के कारण मुख का कमल से सौन्दर्य-सम्बन्धी सादृश्य पहले की भांति स्पष्ट नहीं।

---

१. "श्रमणो बौद्धसन्यासी। यथा तस्याशास्त्रीयविधिना त्यक्तशिखासूत्रादेस्त्यक्तनित्यादिकर्मणश्च तदानीं ब्राह्मणत्वाभावेऽपि पूर्वकालिकब्राह्मणत्वमादाय ब्राह्मणत्वव्यवहारस्तथालंकार्यस्यापि व्यंग्यतादशायामलङ्कारत्वाभावेऽपि वाच्यतादशायां विद्यमानमलङ्कारत्वमादायालङ्कारत्वव्यपदेशः इत्यर्थः।"—बालबोधिनी पृ० १३२

आलङ्कारिकों ने इव तथा सदृश के भेद एवं वाक्य, समास तथा प्रत्यय के आधार पर पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा के पुनः अनेकों उपभेद किए है। पूर्णोपमा के इव तथा सदृश के आधार पर श्रौती तथा आर्थी दो भेद करके पुनः वाक्य, समास एवं तद्धित के आधार पर प्रत्येक के तीन उपभेद कर दिए हैं।[1] इस प्रकार पूर्णोपमा के छ भेद हो जाते है।

आलङ्कारिकों द्वारा इव तथा सदृश के भेद एवं वाक्य, समास तथा प्रत्यय के आधार पर इस प्रकार उपमा का विभाजन उचित नहीं। इव तथा सदृश के आधार पर किए हुए विभाजन का निराकरण पहले किया जा चुका है। वाक्य, समास तथा प्रत्यय के आधार पर भी विभाजन उचित नही। जहां तक सादृश्य का सम्बन्ध है वह वाक्य, समास तथा प्रत्यय मे समान रूप से अभिव्यक्त होता है। ऐसा नही कि वाक्य, समास तथा प्रत्यय के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण सादृश्य के स्वरूप मे अन्तर आ जाए। उपमा के विभाजन के समय विचारणीय वस्तु सादृश्य के स्वरूपभेद होने चाहिएं वाक्य, समास तथा प्रत्यय आदि नही। वाक्य, समासादि केवल व्याकरण का विषय है। अतः अलङ्कारशास्त्र से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं। यही कारण है कि अप्पयदीक्षित ने इस प्रकार के विभाजन को असमीचीन बताया है।[2]

उपमा के चारों तत्त्वों में से एक अथवा अधिक का अनेक प्रकार से लोप सम्भव होने के कारण आलङ्कारिकों ने लुप्तोपमा के अनेकों भेद किए है।[3] जहां तक सादृश्य की अस्पष्टता का सम्बन्ध है यह अस्पष्टता किसी एक अथवा किन्हीं अनेक तत्त्वों के लोप होने पर समान रूप से रहती है। ऐसा नहीं कि लुप्त तत्त्वों की भिन्नता के कारण तज्जन्य सादृश्य की अस्पष्टता मे भी भेद हो और न ही यह बात है कि लुप्त तत्त्वों

---

१. "साग्रिमा श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा।"

—काव्यप्रकाश सू० १२७

२. "एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालंकारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति।"

—चित्रमीमांसा पृ० ३१

३. मम्मटादि ने ये भेद किए हैं।

की संख्या के अनुसार तज्जन्य अस्पष्टता में भी मात्राभेद हो। हमें न तो इस प्रकार के सादृश्यसंबंधी अस्पष्टता के भेदों की प्रतीति होती है और न ही इस अस्पष्टता के मात्राभेद की प्रतीति होती है। दूसरे इन तत्त्वों में से किसी एक अथवा किन्ही अनेक के लोप का ज्ञान प्राय: अलंकारशास्त्र का विषय न होकर पूर्णत: व्याकरण-शास्त्र का विषय बन जाता है। इन तत्त्वों में से किसी एक अथवा किन्हीं अनेक के लोप होने पर सादृश्य जिस भाषा के द्वारा अभिव्यक्त होता है उससे कभी कभी यह जानना कठिन हो जाता है कि किस तत्त्व का लोप हुआ है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"राजा पौरं सुतीयति"

यहां पौर का सादृश्य सुत से दिखाया गया है। पौर यहां उपमेय है तथा सुत उपमान है। उपमान सुत के बाद क्यच् प्रत्यय जोड़ा गया है। यह पाणिनि मुनि के 'उपमानादाचारे'[1] सूत्र के अनुसार हुआ है। इस क्यच् प्रत्यय मे साधारणधर्म तथा वाचक में से किस तत्त्व का लोप हुआ है, इस विषय को लेकर विद्वानों में मतभेद है। मम्मट के अनुसार यहां वाचक का लोप है।[2] साधारणधर्म आचार के रूप में यहां विद्यमान है। क्यच् प्रत्यय का अर्थ पाणिनि मुनि के अनुसार आचारसामान्य होता है। जिस शब्द के बाद यह प्रत्यय जुड़ता है उसके अनुसार आचारविशेष का ज्ञान हो जाता है। वामनाचार्य का यही मत है।[3]

---

१. ३।१।१० २. "वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि। कर्मकर्त्रोर्णमुलि।।"—काव्यप्रकाश सू० १३०

३. "अत्र 'उपमानादाचारे' इति पाणिनिसूत्रेण उपमानवाचकात् सुतमिति कर्मपदात् आचारेऽर्थे क्यच्प्रत्ययः........................। आचारोऽत्र स्नेहपालनादिरूपः। स एवात्र साधारणो धर्मः। क्यचः आचारसामान्योऽर्थः, विशेषाचारस्तु तत्तत्पदसान्निध्यात् प्रतीयते।..................एवं चोपमानभूत-सुतकर्मकाचाराभिन्नः पौरजनकर्मकाचार इति बोधः। तथा चात्रोपमाप्रतिपादक-स्येवादेस्तुल्यादेर्वा प्रयोगाभावेनोपमाप्रतिपादकस्य लोप इति कर्मक्यचि वादिलुप्तेयमुपमा। क्यच्प्रत्ययस्तु नोपमाप्रतिपादकः तस्य आचारेऽर्थे विहिततया आचारमात्रार्थकत्वात् आचारस्य च समानधर्मत्वादिति बोध्यम्।।" —बालबोधिनी पृ० ५७०

विश्वनाथ उपर्युक्त उदाहरण में वाचक का लोप न मानकर साधारण-धर्म का लोप मानते हैं।[1] विश्वनाथ के अनुसार कल्प, वत् आदि प्रत्ययों तथा क्यच् आदि प्रत्ययों मे कोई अन्तर नहीं। अतः यदि कल्प, वत् आदि को औपम्य का वाचक माना जाता है तो क्यच् आदि को ऐसा मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। विरोधियों का यह तर्क अर्थहीन है कि पाणिनि मुनि ने वत् आदि का इवादि के अर्थ मे विधान किया है परन्तु क्यच् आदि का केवल आचार के अर्थ मे विधान है। क्यच् आदि का केवल आचार के अर्थ मे विधान नहीं अपितु सदृश आचार के अर्थ में विधान है। 'उपमानादाचारे' मे आचार के उपमान के बाद जुड़ने के कारण सदृश का स्वतः आक्षेप हो जाता है।[2]

जगन्नाथ के अनुसार क्यच् प्रत्यय मे साधारणधर्म तथा वाचक दोनों का लोप है। क्यच् आचार के अर्थ में अवश्य प्रयुक्त होता है, परन्तु यह आचारसामान्य होता है। आचारसामान्य साधारणधर्म नहीं हो सकता। साधारणधर्म बनने के लिए आचार में विशिष्टता होनी चाहिए।[3]

---

१. "..........'सुतीयसि' इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोपः"

—साहित्यदर्पण पृ० ५१०

२. "..........'वत्यादिक्यङाद्योः साम्यमेवेति। यच्च केचिदाहुः—

'वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्याङादयस्त्वाचाराद्यर्थे' इति। तदपि न। न खलु क्यङादय आचारमात्रार्था अपितु सादृश्याचारार्था इति।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५१२

३. "अत्रेदमवधेयम् कर्माधारक्यचि क्यङि च वाचकलुप्तोदाहरणम् प्राचामसंगतमिव प्रतीयते, धर्मलोपस्यापि तत्र सम्भवात्। न च क्यजाद्यर्थ आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वक्तव्यम्, धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात्।"

—रसगंगाधर पृ० २२२

जहां तक सादृश्य का संबंध है हम उपर्युक्त उदाहरण के लिए केवल इतना कह सकते हैं कि यहां पौर तथा सुत मे सादृश्य की प्रतीति होती है, परन्तु वह पूर्णोपमा के समान स्पष्ट नहीं। इस सादृश्यविधान में वाचक का लोप हुआ है अथवा साधारणधर्म का अथवा इन दोनों का इस विषय तक सादृश्यजन्य चमत्कार की अनुभूति करने वाला व्यक्ति न तो जाता है और न ही वहां तक जाने की आवश्यकता समझता है। यह अवश्य है कि चमत्कार की अनुभूति करने वाला व्यक्ति भाषा की उपेक्षा नही कर सकता, क्योंकि यह भाषा ही है जो चमत्कारानुभूति का साधन है। परन्तु भाषा वही तक उसकी दृष्टि का विषय बनती है जहां तक वह चमत्कार का साधन है। भाषा अलंकार के विद्यार्थी को चमत्कारानुभूति की दिशा से इतर दिशा की ओर नही ले जा सकती और यदि ले जाती है तो उसका वह क्षेत्र चमत्कारानुभूति के क्षेत्र से बाह्य है।

अतः प्रत्ययों के विवेचन से सम्बन्ध रखने वाला व्याकरण-शास्त्र का यह विषय अलंकारशास्त्र से बाह्य है। इस विषय का विवेचन उद्भट से आरम्भ हुआ। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने उन्ही का अनुसरण करते हुए व्याकरणमूलक इन उपमाभेदों का सविस्तर वर्णन किया है। इन आलंकारिकों का व्याकरणशास्त्र का पाण्डित्य ही इस विवेचन का प्रमुख कारण है।

सादृश्य की अस्पष्टता की दृष्टि से यद्यपि उपमा के चारों तत्त्वों में से किसी एक अथवा किन्हीं अनेक तत्त्वों के लोप में भेद की प्रतीति नहीं होती तथापि चमत्कारानुभूति की प्रक्रिया में जहां इन तत्त्वों का स्वत: बोध हो जाता है वहां वे अलंकारशास्त्र के विवेचन का विषय बन सकते हैं।

निम्नलिखित उदाहरण में साधारणधर्म के लोप का स्वतः ज्ञान हो जाता है:—

'मुखं कमलमिव।'

यहां साधारणधर्म सौन्दर्य का लोप है।

उपमानलोप का उदाहरण इस प्रकार है:—

"यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरवर्णनपरिमलोद्गारैः।

कुसुमकुलतिलक चम्पक न वयं तं जातु जानीम: ॥"

—रसगंगाधर पृ० २१५

यहां उपमेय चम्पक के उपमान का अनुपादान है।

कतिपय आलंकारिकों के अनुसार उपमानलोप की दशा में सादृश्य सम्भव नही। सादृश्य का ज्ञान उपमान के द्वारा ही होता है। जहां उपमान का लोप होगा वहां पर्यवसान सादृश्य मे न होकर सादृश्याभाव में होगा। अत: वहां उपमालंकार न होकर अन्य अलंकार होगा। जगन्नाथ ने विरोधियों के इस मत का उल्लेख किया है।[1]

यह मत युक्तियुक्त नहीं। उपमानानुपादान का अर्थ सदा सादृश्याभाव नहीं होता। जब हमें सादृश्य का ज्ञान नही होता, तब भी उपमान-लोप सम्भव है। सादृश्यज्ञान के अभाव मे तथा सादृश्याभाव मे अन्तर है। सादृश्याभाव में उपमान की सत्ता का निराकरण होता है। सादृश्यज्ञान के अभाव में इसके विपरीत उपमान की सत्ता का निराकरण नहीं होता किन्तु केवल उसके ज्ञान का निराकरण होता है। जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर इसी मत के समर्थक हैं।[2]

वाचकलुप्ता का उदाहरण इस प्रकार है:—

"वदनं मृगशावाक्ष्या: सुधाकरमनोहरम्।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५१३

यहां इव का लोप है।

१. "उपमानाभावेन सादृश्याभावस्य पर्यवसानात्सादृश्यपर्यवसानस्य चोपमा-जीवितत्वादलङ्कारान्तरमेवात्र नोपमानलुप्ता।"

—रसगंगाधर पृ० २१५

२. "'यस्य तुलामधिरोहसि न तं वयं जानीम:' इत्युक्त्या अस्माकम-सर्वज्ञत्वादस्मदगोचर: कोऽपि तवोपमानं भविष्यतीति सादृश्यपर्यवसानम्।"

—रसगंगाधर पृ० २१५

"अतोऽत्रानुपादानमात्रमुपमानस्य विवक्षितं न तु वस्तुतोऽप्यसत्त्वम्।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० १११

"तस्या मुखेन सदृशं लोके नास्तेः—"

यहां धर्म तथा उपमान का लोप है।

"तस्या मुखाब्जम् अवलोक्य स हृष्यति"—इस उदाहरण में साधारण-धर्म सौन्दर्य तथा वाचक 'इव' का लोप है।

"राजते मृगलोचना—"

यहां मृगलोचना का अर्थ 'मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्याः सा' है। इस प्रकार यहां उपमान मृगलोचन, साधारणधर्म चञ्चलता तथा वाचक 'इव' का लोप है।

अन्य भेदः—

आलङ्कारिकों ने उपमा के अन्य भेद भी किए हैं। रुद्रट, विश्वनाथ आदि ने रशनोपमा का उल्लेख किया है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार हैः—

"नभ इव विमलं सलिलं सलिलमिवानन्दकारि शशिविम्बम्।
शशिबिम्बमिव लसद्द्युति तरुणीवदनं शरत्कुरुते।।"

—काव्यालंकार ८। २८

इस भेद को भिन्न मानने की आवश्यकता नहीं। यहां उपमाओं की एक शृङ्खला है, परन्तु इस शृङ्खला से सादृश्य के चमत्कार में कोई वृद्धि नहीं होती। शशिबिम्ब का सलिल से सादृश्य, सलिल के नभस् से सादृश्य में किसी प्रकार सहायक नहीं। रशनोपमा में उपमाओं की इस शृङ्खला का सादृश्य से असंबंध देखकर ही मम्मट ने इसे भिन्न भेद स्वीकार नहीं किया है।[2]

दण्डी ने अतिशयोपमा का उल्लेख किया है। इसका उदाहरण इस प्रकार हैः—

---

१. "अर्थानामौपम्ये यत्र बहूनां भवेद्यथापूर्वम्। उपमानमुत्तरेषां सेयं रशनोपमेत्यन्या।।" —काव्यालङ्कार ८। २७

"कथिता रसनोपमा, यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता।

—साहित्यदर्पण १०। २५

२. 'इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात् उक्तभेदानतिक्रमाच्च।' —काव्यप्रकाश पृष्ठ ५८०

"त्वय्येव त्वन्मुखं दृष्टं दृश्यते दिवि चन्द्रमाः, इयत्येव भिदा नान्या ॥"
—काव्यादर्श पृ० १२७

यहां एक भेद का तत्त्व है, अन्य तत्त्व अभिन्न है। इस प्रकार यहां भेद तथा अभेद है। उपमा की सामान्य परिभाषा मे भी भेद तथा अभेद होता है। अन्तर इतना ही है कि उपमा के प्रसिद्ध उदाहरण 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में जहां अभेद का तत्त्व एक है तथा अन्य तत्त्व भिन्न है, वहां प्रस्तुत उदाहरण मे भेद का तत्त्व एक है तथा अन्य तत्त्व अभिन्न है। परन्तु भेद तथा अभेद के तत्त्वों की संख्या के आधार पर उपमा के भेद करना उचित नहीं। अतः अतिशयोपमा को अतिरिक्त भेद मानने की आवश्यकता नहीं। सादृश्य की प्रतीति दोनो दशाओं में समान रूप से होती है।

भोज ने पद, वाक्य आदि के आधार पर उपमा के भेद करके उनके पुनः अनेक अवान्तर भेद किए हैं।[1]

रुद्रट ने भी पद, वाक्य आदि के आधार पर उपमा का विभाजन किया है।[2] उपमा का यह विभाजन सादृश्य-तत्त्व के आधार पर नहीं।
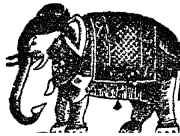
१. पदवाक्यप्रपञ्चाख्यैर्विशेषैरुपपद्यते।
पृथगष्टविधत्वेन ताश्चतुर्विंशतिः पुनः ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण ४.७

२. सा च त्रेधा—वाक्योपमा प्रत्ययोपमा च।

अनन्वय

अनन्वय की परिभाषा प्रायः सभी आलंकारिकों ने की है। वे इस बात पर सहमत हैं कि एक ही वस्तु का उपमेय तथा उपमान होना अनन्वय के लिए आवश्यक है। अतः इन शब्दों का सभी आलंकारिकों ने अनन्वय की परिभाषा में सन्निवेश किया है। परन्तु एक अन्य तत्त्व को लेकर इन आलंकारिकों में मतभेद है। यह तत्त्व 'असादृश्य-विवक्षा' अथवा उपमानान्तरव्यवच्छेद है। यह बात नहीं कि आलंकारिक अनन्वय मे इस तत्त्व की सत्ता स्वीकार न करें। भेद इतना ही है कि कतिपय आलंकारिक अपनी परिभाषा में जहां इस तत्त्व का स्पष्ट निर्देश करते है, वहां अन्य आलंकारिक परिभाषा में इस तत्त्व के निर्देश की आवश्यकता नहीं समझते, एक वस्तु के उपमानोपमेयत्व को ही वे पर्याप्त समझते हैं। निम्नलिखित परिभाषाओं से यह स्पष्ट है:—

"एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वय."[1] —वामन

रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि की परिभाषाएं इसी के समान है।

भामह, उद्भट, जगन्नाथ आदि ने परिभाषा मे इसके अतिरिक्त असादृश्यविवक्षा अथवा इसके पर्यायवाची शब्दों का भी सन्निवेश किया है:—

"यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।

असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्॥"[2] —भामह

"द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः।"[3] —जगन्नाथ

अनन्वय के प्रसिद्ध उदाहरण 'मुखमिव मुखम्' को ध्यान में रखने पर प्रतीत होगा कि अनन्वय की परिभाषा मे एक वस्तु के

---

१. काव्यालंकारसूत्र ४। ३। १४

२. भामहालंकार ३। ४५

३. रसगंगाधर पृष्ठ २७०

उपमानोपमेयत्व के अतिरिक्त असादृश्यविवक्षा का सन्निवेश भी आवश्यक है। इस उदाहरण मे चमत्कार का हेतु असादृश्यविवक्षा भी है। अतः परिभाषा में इसका निर्देश न करना उचित नहीं। जो वस्तु चमत्कार का हेतु है तथा जिसकी सत्ता भी आलंकारिकों को मान्य है, परिभाषा में उसका निर्देश आवश्यक है। दूसरे इस तत्त्व के निर्देश न करने मे परिभाषा मे अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। जब कालभेद के अनुसार उस वस्तु का उसी से सादृश्य दिखाया जाता है तब एक ही वस्तु का उपमानोपमेयभाव होता है परन्तु फिर भी हम इसे अनन्वयालंकार नही कह सकते।[1] कारण यही है कि इस दशा मे उपमानान्तरव्यवच्छेद नहीं होता। यदि 'एकस्योपमेयोपमानत्व' को ही अनन्वय की परिभाषा माना जाता है तो उपर्युक्त दशा में अनन्वयालंकार होना चाहिए, परन्तु ऐसी बात नही।

अनन्वय के उपर्युक्त लक्षण से समुच्चयोपमा के निम्नलिखित उदाहरण मे भी अतिव्याप्ति होगी —

"पितुर्नियोगाद्वनवासमेव निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।

धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तम् "

—चित्रमीमांसा पृ० ४८

यहां एक ही राम उपमेय तथा उपमान है, फिर भी यहां अनन्वयालंकार नहीं। यहां तात्पर्य राम का राम से सादृश्य बताकर उपमानान्तरव्यवच्छेद से नहीं अपितु धर्म, अर्थ एवं काम में तथा अनुजों मे समान वृत्ति के प्रतिपादन से है। यह कहना उचित नहीं कि उपमानोपमेयभाव एक राम मे नहीं अपितु धर्मादि के प्रति वृत्ति में तथा अनुजों के प्रति वृत्ति में है, क्योंकि ऐसा मानने से "पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः" में भी उपमानोपमेयभाव हारादि तथा निर्झरादि में हो जाएगा और इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव के उदाहरण

---

१. "एवं च 'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥' इत्यादि देशकालादिभेदेन भेदे उपमैव, तद्युगे तद्देशे वा यथा गगनं तथा एतद्युगे एतद्देशेऽपीति बोधात्।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ५८२

का लोप हो जाएगा ।[1]

इस अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिए अप्पयदीक्षित ने अपनी अनन्वय की परिभाषा मे 'अनुगाम्येकधर्मिका' शब्द का सन्निवेश किया है ।[2] इस शब्द के सन्निवेश से अप्पयदीक्षित का प्रयोजन असादृश्यविवक्षा अथवा उपमानान्तरव्यवच्छेद का बोध कराना ही है । अतः इस प्रयोजन का स्पष्ट निर्देश न करके प्रकारान्तर से इसके सूचक शब्दों को रखना उचित नहीं । अनन्वय में असादृश्यविवक्षा अथवा उपमानान्तरव्यवच्छेद चमत्कारप्रतीति का आवश्यक अंग है । अतः परिभाषा में इसका स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है ।

अप्पयदीक्षित ने इस शब्द के सन्निवेश के द्वारा अनन्वय शब्द की सार्थकता बताने का प्रयत्न किया है ।[3] इनका यह प्रयत्न अनावश्यक है । परिभाषा का उद्देश्य अलंकारजन्य चमत्कारप्रतीति के स्वरूप को बताना होता है, अलंकार के नाम की सार्थकता को सिद्ध करना नहीं ।

मम्मट ने अनन्वय की परिभाषा मे 'एकवाक्यगे' शब्द का भी सन्निवेश किया है ।[4] परिभाषा में इस शब्द का सन्निवेश उचित

---

१. "न चैतेषु क्वचिद्धर्मादिषु वृत्तेखरजेषु वृत्तेश्चोपमानोपमेयभावः.........

'न तु क्वचिदप्येकस्यैव धर्मिण उपमानोपमेयभावः । विशिष्टान्वयिनोऽपि विशेष्यबाधे विशेषणसंक्रमौचित्यादिति वाच्यम् । यथा धर्मार्थकामेषु समवृत्तिं प्रपेदे तथावरजेष्वित्यादिप्रकारेणैकस्यैवोपमानोपमेयभावे निबद्धेऽपि तस्य विशेषणसंक्रान्तिकल्पने 'पाण्डयोऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादीनामपि हारनिर्झरादीनामेवोपमानोपमेयभावः स्यादिति बिम्बप्रतिबिम्बोदाहरणमात्रविलोपप्रसंगात् ॥"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ४८

२. "स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका ।
अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरितः ॥"

चित्रमीमांसा पृष्ठ ४९

३. "धर्मैक्ये हि स्वस्य स्वेनोपमा नान्वेतीत्यनन्वय इत्यन्वर्थं नाम भवति ।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ४९

४. "उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।"—काव्यप्रकाश सू० १३५

नही। एकवाक्यत्व अनन्वयजन्य चमत्कारप्रतीति के स्वरूप का अंग नहीं। इसका पता तो हमे तब चलता है जब हम चमत्कार-प्रतीति की स्थिति मे हटकर तर्कदृष्टि से अलंकार का विश्लेषण करते हैं।

अतः भामह आदि की अनन्वय की परिभाषा ही निर्दोष सिद्ध होती है। इस परिभाषा के अनुसार असादृश्यविवक्षा अथवा उपमानान्तरव्यवच्छेद परिभाषा का आवश्यक अंग है।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि असादृश्यविवक्षा अथवा उपमानान्तरव्यवच्छेद अनन्वय का आवश्यक अंग है तो इसे सादृश्यमूलक अलंकारों की श्रेणी मे रखने का क्या आधार है। आलंकारिकों ने अनन्वय का फल सादृश्य अथवा औपम्य न बताकर सादृश्याभाव अथवा अनौपम्य बताया है।[1] अतः इसे सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत रखना उचित नहीं।

इसका उत्तर यह हो सकता है कि सादृश्यमूलकता तथा उपमानान्तरव्यवच्छेद मे निश्चित विरोध नही। सादृश्यमूलकता के लिए यह आवश्यक नहीं कि पर्यवसान सादृश्य में हो। यदि प्रक्रिया सादृश्य की है तो सादृश्याभाव में पर्यवसान उस प्रक्रिया के सादृश्यसम्बन्धी स्वरूप पर प्रभाव नही डाल सकता। अनन्वय में यही होता है। इस अलंकार में कवि की चित्तवृत्ति सादृश्य को लक्ष्य करके चलती है। यदि मुख कवि का वर्ण्य विषय है तो वह मुख के धर्म सौन्दर्य के आधार पर मुख से सदृश वस्तु का अन्वेषण करता है। इस प्रकार कवि के ज्ञान का विषय सादृश्यान्वेषण होता है। इस सादृश्यान्वेषण का पर्यवसान सादृश्यप्राप्ति मे नही होता केवल इतने से हम प्रक्रिया के सादृश्यमय स्वरूप को अन्यथा नही कह सकते।

---

१. "एवं चात्रोपमानान्तरव्यवच्छेदेन चमत्कारः, उपमायां तु साम्यप्रतीत्या चमत्कारः·········॥"—बालबोधिनी पृष्ठ ५८२

"ततश्च स्वस्य स्वेनापि सादृश्यासंभवादनुपमेयत्वे पर्यवसानम् ॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ १०

"अनन्वययर्थनिबन्धनवशाच्चानुपमत्वद्योतनफलपर्यन्तं धावेत् ॥"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ४९

कवि जब मुख के धर्म सौन्दर्य के आधार पर मुख से सदृश वस्तुओं को ढूंढने का प्रयत्न करता है तब उसकी दृष्टि अन्य वस्तुओं में उस साधारणधर्म को देखने के प्रयत्न तक ही सीमित रहती है। ऐसा नही होता कि अन्य वस्तु में उस साधारणधर्म के न मिलने पर कवि उस वस्तु के मुख से वैधर्म्य के आधार पर वैसादृश्य को अपना लक्ष्य बना ले। वैधर्म्य अथवा विरोध की प्रतीति अनन्वय मे नही होती।

अनन्वय के उदाहरण 'मुखमिव मुखम्' में मुख को मुख के समान कहा गया है, परन्तु सादृश्य की परिभाषा 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' के अनुसार वही वस्तु उसी वस्तु के समान नही हो सकती। समता अथवा सादृश्य के लिए आवश्यक है कि वस्तुओं की सत्ता भिन्न हो। अतः प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त उदाहरण में मुख का सादृश्य किस से है। अथवा प्रस्तुत उदाहरण में सादृश्य को असम्भव मानकर हम कह दें कि यहां वाच्यार्थ का सर्वथा बाध हो जाता है और इसके फलस्वरूप उपमानान्तरव्यवच्छेद की प्रतीति होती है। अप्पयदीक्षित ने ऐसा ही माना है।[1]

अनन्वय मे वाच्यार्थ के बाध की प्रतीति हो ऐसी बात नहीं। जब कहा जाता है कि मुख के समान मुख है तब हमें यह प्रतीति अवश्य होती है कि मुख के समान अन्य कोई वस्तु नहीं, परन्तु इस प्रतीति के पूर्व मुख के मुख से सादृश्य के बाध की प्रतीति भी हो ऐसी बात नहीं। वस्तुस्थिति तो यह है कि उपर्युक्त वाक्य से सीधे ही हमे यह प्रतीति हो जाती है कि मुख के समान अन्य कोई वस्तु नही, बीच में उसी वस्तु के उसी से सादृश्य के बाध की प्रतीति को व्यवधान के रूप में मानने की आवश्यकता नहीं। इसीलिए विश्वेश्वर ने अप्पयदीक्षित के मत का खण्डन किया है।[2]

---

१. "ततश्च स्वस्य स्वेनापि सादृश्यासंभवादनुपमेयत्वे पर्यवसानम्"

—कुवलयानन्द पृष्ठ १०

२. "यत्तु चित्रमीमांसायाम्—स्वस्मिन् स्वसादृश्यस्याप्यसंभवादुपमानान्तरव्यावृत्तिः—इति, तदसत्।" —अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ १७२

अतः अनन्वय में उसी वस्तु के उसी से सादृश्य के बाध की प्रतीति को मानना उचित नहीं। परन्तु समस्या का समाधान इतने मे नहीं होता। यदि इस अलंकार में सादृश्य के इस बाध की प्रतीति नही होती है तो सादृश्य किस का किस से होता है और उसका क्या स्वरूप होता है यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना हुआ है। आलंकारिकों ने इसके भिन्न भिन्न उत्तर दिए हैं।

सुधासागरकार के अनुसार अनन्वय में उपमेय तथा उपमान में वास्तविक भेद तो नहीं होता किन्तु आहार्य[1] भेद होता है। इस आहार्य भेद के कारण यहां सादृश्य सम्भव है।[2]

सुधासागरकार का यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं। अनन्वय मे हमे जो चमत्कार की प्रतीति होती है वह उसी वस्तु का उसी से सादृश्य समझने के कारण उत्पन्न होती है। यदि यह सादृश्य उस वस्तु का उसी से प्रतीत न होकर किसी भिन्न वस्तु मे प्रतीत होता है तो अनन्वयजन्य चमत्कार सम्भव नही।

रुय्यक तथा समुद्रबन्ध ने भी इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार शब्दभेद के कारण एक ही अर्थ भिन्न सा प्रतीत होता है। अतः इस भिन्न प्रतीति के कारण अनन्वय मे उसी वस्तु का उसी से सादृश्य सम्भव है।[3]

१. "बाधकालिकेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम्"—काव्यप्रकाश टिप्पणी पृष्ठ ५८५

इस प्रकार अनन्वय में 'मुख के समान मुख नहीं हो सकता' यह ज्ञान बाधक है। इस ज्ञान के समय मुख को मुख के समान बताने की इच्छा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आहार्य है।

२. "यद्यप्यसति सादृश्ये नोपमानोपमेयभावः सादृश्यं च भेदघटितमित्ये-कस्योपमानोपमेयत्वमनुपपन्नं तथाप्याहार्योऽत्र भेदो द्रष्टव्यः।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ५८२

३. "वाच्याभिप्रायेण पूर्वरूपानुगमः"—सर्वस्व सू० १२

इसकी व्याख्या करते हुए समुद्रबन्ध लिखते हैं:—

"एक एवार्थः शब्देन द्विरभिहितो भिन्नवदवभासते। तस्मादर्जुनोऽर्जुन इवेत्यादौ एकस्यैवार्जुनस्य शब्दवाच्याकारपर्यालोचनेन भेदावभासात् पूर्वनिर्दिष्टस्य साधर्म्यादिरूपस्यानुगमः।"

—समुद्रबन्ध टीका पृष्ठ २८

रुय्यक एवं समुद्रवन्ध का यह उत्तर भी सन्तोषजनक नहीं। अर्थ का एक होना तथा उसका भिन्नवत् प्रतीत होना ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं। यदि अर्थ एक है तो प्रतीति एकता की ही होगी भिन्नता की सी नहीं, और यदि अर्थ भिन्न से प्रतीत होते हैं तो उन्हें एक कहना उचित नही। कतिपय आलङ्कारिक शब्दभेद को भेद का कारण अवश्य मानते हैं परन्तु यहां तो वह भी नही है। दूसरे यदि अर्थो मे भिन्नता की प्रतीति मानी जाती है तो उपमानान्तरव्यवच्छेद मे पर्यवसान सम्भव नही।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—

सादृश्य मे दो तत्त्व होते हैं—साधर्म्य तथा वैधर्म्य। कवि जब किसी वस्तु के सदृश अन्य वस्तु को ढूंढता है तब वह उस वस्तु के धर्म को लक्ष्य करके उसे कहीं ढूंढने का प्रयत्न करता है। यदि वह धर्म उसे अन्यत्र कहीं मिल जाता है तो धर्म की एकता से उत्पन्न साधर्म्यप्रतीति के अतिरिक्त प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत वस्तुओं के भिन्न अवयवों को लेकर वैधर्म्य-प्रतीति भी उसे हो जाती है। परन्तु कभी कभी वह धर्म कवि को अन्यत्र नहीं मिलता अपितु उसी वस्तु मे उसकी पुनः प्रतीति होती है। उस वस्तु के धर्म की पुनः उसी वस्तु मे प्रतीति का बाधक कोई कारण नहीं होता। कवि का उद्देश्य उस धर्म को पुनः एक बार देखना होता है। यदि इस धर्म के दर्शन उसे अन्यत्र नहीं होते तो उसे वह पुनः वहीं देख सकता है। परन्तु उस धर्म को पुनः वहीं देखने का परिणाम यह होता है कि उसे उस वैधर्म्य अथवा भेद का ज्ञान नही हो सकता जो अवयवों की भिन्नता पर आश्रित है। इस प्रकार कवि उपर्युक्त दशा में केवल साधर्म्यप्रतीति तक ही सीमित रहता है। इस साधर्म्य-प्रतीति का यह अर्थ नहीं कि एक वस्तु के धर्मों की अन्यत्र प्रतीति होती है, परन्तु इसका अर्थ केवल इतना है कि प्रस्तुत धर्म की प्रतीति कवि को पुनः उसी रूप में होती है। इस प्रकार अनन्वय में सादृश्य प्रक्रिया का बाध नहीं होता। इतना अवश्य है कि वह उपमादि की सादृश्य-प्रक्रिया से भिन्न है।

उस वस्तु के धर्म की पुनः उसी वस्तु में प्रतीति उस धर्म के अन्य वस्तुओं में न मिलने के फलस्वरूप होती है, अतः इसका अर्थ यह होता है कि अन्य कोई वस्तु प्रस्तुत वस्तु के समान नहीं। यही कारण है कि अनन्वय में उपमानान्तरव्यवच्छेद माना गया है।

अनन्वय के लिए आवश्यक है कि उपमेय तथा उपमान का उपादान एक ही शब्द के द्वारा हो। यदि दोनों मे शब्दैक्य न होकर शब्दभेद है तो अभीष्ट चमत्कार की उत्पत्ति नही हो सकती। 'अस्या वदनमिवास्या वक्त्रम्' मे शब्दभेद है। अतः अभीष्ट चमत्कार उत्पन्न नही होता।[१] चक्रवर्तिभट्टाचार्य ने अनन्वय मे इस शब्दैक्य का समर्थन किया है।[२]

अनन्वय मे शब्दैक्य अवश्य होना है, परन्तु यह अलंकारजन्य चमत्कार का प्राण नही। चमत्कार की प्रतीति हमें उसी वस्तु के उसी से सादृश्य के रूप में होती है, शब्दैक्य इस चमत्कार-प्रतीति का अंग नहीं बन पाता। यही कारण है कि विश्वनाथ ने अनन्वय मे शब्दैक्य को प्रधान न कहकर केवल आनुषङ्गिक कहा है।[३]

दण्डी ने अनन्वय को उपमा का एक भेद मानकर इसका नाम असाधारणोपमा[४] रखा है। अनन्वय को उपमा का भेद मानना उचित नहीं। दोनों अलंकारों से उत्पन्न चमत्कार में अन्तर है, अतः दोनों को पृथक् मानना उचित होगा।

हेमचन्द्र अनन्वय को उपमा से भिन्न नही मानते:—

"एवं यत्रासाधारणताप्रतिपादनार्थमेकस्यापि भेदः कल्प्यते तत्राप्युपमा भवति, यथा'..............ते तद्विलासा.......'।"

—काव्यानुशासन पृ० ३४०

हेमचन्द्र का यह मत समीचीन नही। अनन्वय में उपमेय तथा उपमान में भेदकल्पना नही होती। यदि किसी रूप से भेद-कल्पना मानी जाती है तो यह तो हेमचन्द्र भी मानते है कि उपमा तथा अनन्वय में क्रमशः साम्यप्रतिपादन तथा असाधारणताप्रतिपादन होता है। अतः इस भेद के आधार पर दोनों को भिन्न मानना उचित होगा।

---

१. "एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेदः, अतः 'अस्या वदनमिवास्या वक्त्रम्' इत्यत्र नानन्वयप्रसंगः।"—बालबोधिनी पृ० ५८२

२. "एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेदः शब्दतोऽर्थतश्चैकत्वस्य विवक्षितत्वात्।"—बालबोधिनी पृ० ५८२

३. "अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम्।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५२०

४. काव्यादर्श २। ३७

असमालंकार

जगन्नाथ आदि परवर्ती आलंकारिकों ने इस अलंकार का निरूपण किया है। प्राचीन अलंकारग्रन्थों मे इसका उल्लेख नही मिलता। जगन्नाथ ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है:—

"सर्वथैवोपमानिषेधोऽसमाख्योऽलंकार:" —रसगंगाधर पृ० २७८

इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

"भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णे विबुधैश्च दानवैः।
न भविष्यति नास्ति नाभवन्नृप यस्ते भजते तुलापदम्॥"

—रसगंगाधर पृ० २७९

अनन्वय की तथा इसकी सादृश्य-प्रक्रिया मे साधारण सा अन्तर है। अनन्वय मे प्रस्तुत वस्तु के धर्म के अन्यत्र न मिलने के कारण कवि उसे पुनः उसी वस्तु मे देखता है। असम मे भी कवि को प्रस्तुत वस्तु के धर्म की अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती। परन्तु इसके फलस्वरूप वह उसे देखने के लिए उस वस्तु की ओर न मुड़कर स्पष्ट कह देता है कि इस वस्तु के समान अन्य कोई वस्तु नही। अनन्वय में उसी वस्तु के धर्म को उसी में देखने के कारण जिस उपमानान्तरव्यवच्छेद की प्रतीति होती है असम में उसका स्पष्ट निर्देश होता है।

उपमानान्तरव्यवच्छेद अनन्वय तथा असम दोनों में होता है। इस दृष्टि से दोनों में अभेद है। परन्तु दोनों में उपमानान्तरव्यवच्छेद के स्वरूप में अन्तर होता है। असम में जहां इसका स्पष्ट निर्देश होता है वहां अनन्वय में यह उसी वस्तु के उसी से सादृश्य दिखाने के रूप में होता है और इसका यह रूप ही वहां चमत्कार का कारण होता है।

उदाहरणालंकार तथा इसका खण्डन

जगन्नाथ ने उदाहरण नामक एक भिन्न अलंकार माना है। इसकी परिभाषा इन्होंने इस प्रकार की है—

"सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्।" —रसगंगाधर पृ० २८१

जगन्नाथ के अनुसार सामान्य अर्थ तथा विशेष अर्थ में भेद सम्भव नहीं। विशेषार्थ सामान्यार्थ के ही अन्तर्गत आ जाता है, अतः वह सामान्यार्थ से भिन्न नही हो सकता। अतः जहां सामान्य तथा विशेष मे सादृश्य-निरूपण होगा वहां भेदाभाव के कारण उपमा न होकर उदाहरणालंकार होगा।[1]

जगन्नाथ का यह मत उचित नहीं। इसका खण्डन उपमा के प्रकरण में किया जा चुका है। प्राचीन आलंकारिक भी जगन्नाथ के इस मत से सहमत नहीं। उनके अनुसार सामान्य तथा विशेष मे भेद सम्भव न हो ऐसी बात नहीं। सामान्य विशेष के बिना नहीं रहता। अतः सामान्य के इस विशेष को लेकर प्रकृत विशेष से उसका सादृश्य सम्भव है।[2] अतः उदाहरणालंकार को उपमा से भिन्न मानना उचित नहीं।

---

१. "..................न चात्र पदार्थलशुनयोरुपमा शक्या वक्तुम्। तयोः सामान्यविशेषभावेन सादृश्यस्यानुल्लासात्।" रसगंगाधर पृष्ठ २८२

२. "प्राञ्चस्तु-नायमलंकारोऽतिरिक्तः। उपमयैव गतार्थत्वात्। न च सामान्यविशेषयोः सादृश्यानुल्लासात्कथमुपमेति वाच्यम्। 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इति सामान्यस्य यत्किञ्चिद्विशेषं विना प्रकृतत्वायोगात्तादृशविशेषमादाय विशेषान्तरस्य सादृश्योल्लासे बाधकाभावादिवादिभिरामुखे प्रतीयमानस्यापि सामान्यविशेषभावस्य परिणामे सादृश्य एव विश्रान्तेः—इत्यप्याहुः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ २८५, २८६

उपमेयोपमा

उपमेयोपमा की परिभाषा प्रायः सभी आलंकारिकों ने की है। इनमे से अधिकतर की परिभाषा भामह की निम्नलिखित परिभाषा के समान हैः—

उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्।

उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम्॥ —भामहालंकार ३।३७

दण्डी, मम्मट, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि की परिभाषाएं इसी के समान हैं। इनकी परिभाषाओं में शब्दों के साधारण हेरफेर के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं। इन परिभाषाओं के अनुसार एक वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य दिखाकर पुनः अन्य वस्तु का प्रथम वस्तु से सादृश्य दिखाना ही उपमेयोपमा है।

उद्भट, रुद्रट, जगन्नाथ आदि की परिभाषाएं उपर्युक्त परिभाषा से कुछ भिन्न हैं। इन्होंने उपर्युक्त परिभाषा के तत्त्व का अपनी परिभाषाओं मे सन्निवेश अवश्य किया है, परन्तु ये उपमेयोपमा के लिए इसके अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व की भी आवश्यकता समझते हैं। यह तत्त्व तृतीयसदृश-व्यवच्छेद है। उपमेयोपमा मे दो वस्तुओं का परस्पर सादृश्य दिखाने से यह प्रयोजन होता है कि अन्य कोई वस्तु इनके समान नहीं।

"कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५२०

यहां मति का कमल से तथा कमल का मति से सादृश्य दिखाने से यह प्रयोजन है कि अन्य कोई तीसरी वस्तु मति तथा कमल के समान नहीं। इस प्रकार दो वस्तुओं के पारस्परिक सादृश्य का प्रयोजन तृतीय-सदृशव्यवच्छेद होता है। यह तृतीयसदृशव्यवच्छेद उपमेयोपमाजन्य चमत्कार का आवश्यक अंग है। अतः परिभाषा में इसका सन्निवेश आवश्यक है।

इस तृतीयसदृशव्यवच्छेद को उपमेयोपमा का आवश्यक अंग मानते हुए जगन्नाथ ने उपमेयोपमा की परिभाषा की हैः—

"तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयोः सादृश्यमुपमेयोपमा।" —रसगंगाधर पृ० २६२

जिन आलङ्कारिकों ने परिभाषा में इस तृतीयसदृशव्यवच्छेद का निर्देश नहीं किया है, उन्हें भी उपमेयोपमा में यह तत्त्व मान्य है। अतः परिभाषा मे इसका स्पष्ट निर्देश आवश्यक है।

परिभाषा में इस तत्त्व का निर्देश न करने के कारण अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। परस्परोपमा मे भी दो वस्तुओं का परस्पर सादृश्य होता है परन्तु इस सादृश्य के द्वारा तृतीय सदृश का व्यवच्छेद नही होता।

"रजोभिः स्यन्दनोद्भूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः।

भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्॥

—चित्रमीमांसा पृ० ३०

यहां व्योम का भुवस्तल मे तथा भुवस्तल का व्योम मे सादृश्य दिखाया गया है। परन्तु इस पारस्परिक सादृश्य का यह अर्थ नही कि व्योम तथा भुवस्तल के समान अन्य कोई वस्तु नही। साधारणधर्म रजस् के द्वारा व्योम का सादृश्य भुवस्तल मे दिखाकर पुनः गज तथा घन के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के द्वारा भूतल का व्योम से सादृश्य दिखाने का पर्यवसान तृतीयसदृशव्यवच्छेद मे नही होता। अतः उपर्युक्त श्लोक को उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं माना जा सकता। परन्तु यदि तृतीयसदृशव्यवच्छेद का उपमेयोपमा की परिभाषा में सन्निवेश नहीं किया जाता है तो यह श्लोक उपमेयोपमा का उदाहरण बन जाएगा।[1]

इसी अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिए अप्पयदीक्षित ने अपनी परिभाषा में एकधर्माश्रया शब्द का सन्निवेश किया है:—

"अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।

एकधर्माश्रया या स्यात्सोपमेयोपमा मता॥"—चित्रमीमांसा पृ० ४५

'एकधर्माश्रया' के सन्निवेश से उपमेयोपमा की परिभाषा में उपर्युक्त अतिव्याप्ति दोष का परिहार अवश्य हो जाता है, परन्तु उपमेयोपमा में

१. किं च 'रजोभिः स्यन्दनोद्भूतैः—'इति प्रागुदाहृतायां परस्परोपमायामतिव्याप्तिः। न च तत्राप्युपमेयोपमा। तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतीतेः।"

—चित्रमीमांसा पृ० ४३

जिस चमत्कार की प्रतीति होती है उसकी अभिव्यक्ति इससे नहीं होती। चमत्कार का स्वरूप एकधर्माश्रय न होकर तृतीयसदृशव्यवच्छेद है। एकधर्माश्रय तर्कदृष्टि से इस चमत्कार का कारण अवश्य है, परन्तु परिभाषा का उद्देश्य चमत्कार के हेतु का तार्किक विश्लेषण न होकर चमत्कार के स्वरूप का ही निर्देश करना होता है।

परिभाषा मे 'व्यक्त्या वृत्यन्तरेण वा' के सन्निवेश के द्वारा अप्पय-दीक्षित ने इसे उभयविश्रान्तसादृश्योपमा मे अतिव्याप्त होने से रोकने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार उभयविश्रान्तसादृश्योपमा मे दो वृत्तियों का आश्रय लेना पड़ता है, व्यञ्जना का तथा अभिधा का। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

'इदं च तच्च तुल्यम्'।

यहां तुल्य शब्द इदं तथा तत् के साथ जुड़ा हुआ है। अतः इदं तथा तत् दोनों प्राकरणिक है। अप्राकरणिक अर्थ का यहां निर्देश नही। उपमान अप्राकरणिक अर्थ ही होता है। अतः प्रतीति यह होती है कि दोनों परस्पर उपमान है।[1] इस प्रकार अन्योन्यप्रतियोगित्व अंश यहां गम्य है। सादृश्य अंश यहां वाच्य है। अतः लक्षण के यहां अतिव्याप्त होने की आशंका नही।[2]

अप्पयदीक्षित का यह प्रयत्न अनावश्यक है। प्रथम तो उभयविश्रा-न्तसादृश्योपमा में अन्योन्यप्रतियोगित्वांश की प्रतीति ही नहीं होती है, और यदि होती भी है तो परिभाषा में तृतीयसदृशव्यवच्छेद के सन्निवेश के द्वारा इस अतिव्याप्ति दोष का सरलता से निराकरण किया जा सकता है।

---

१. "प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः सादृश्यवर्णनेऽप्राकरणिकस्यैवोपमानत्वलाभेऽप्युभ-योरपि प्राकरणिकत्वे विनिगमनाविरहेण परस्परोपमानत्वप्रतीतेः।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ४६

२. "ततश्चोभयविश्रान्तसादृश्योपमायामन्योन्यप्रतियोगिकत्वांशे व्यक्तिः सादृश्य-रूपांशे वृत्त्यन्तरमिति तयोः करम्बितत्वान्नातिव्याप्तिशंका।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ४५

तृतीयसदृशव्यवच्छेद उपमेयोपमा का उपमा से विभेदक है। सादृश्य-विधान इन दोनों अलङ्कारों में होता है, परन्तु उपमा में तृतीयसदृशव्यवच्छेद नही होता। अतः उपमा मे उपमेयोपमा का अन्तर्भाव कदापि उचित नही।

अप्पयदीक्षित को उपमा में उपमेयोपमा का अन्तर्भाव करने मे कोई अनौचित्य नही दिखाई देता :—

"इत्यादि प्रतीपमुपमेयोपमा चेत्युभयमपि सग्राह्यमेवेति न तदव्यापनं लक्षणस्य दोषः।......................न चोपमायामयं नियमो यदप्रकृतेन प्रकृतसादृश्यवर्णनात्मनैव तया भाव्यमिति।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ १८

इसके बाद वे लिखते हैं:—

"उपमेयोपमादेरुपमान्तर्गतत्वेऽपि व्यंग्यादिकृतवैचित्र्यविशेषेण पृथग्गणनं न विरुध्यते रूपकपरिणामवत्।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ १९

अप्पयदीक्षित की यह द्वितीय उक्ति उनकी प्रथम उक्ति की असत्यता सिद्ध करती है। तृतीयसदृशव्यवच्छेद के रूप मे व्यंग्य उपमेयोपमा का अनिवार्य अंग है। अतः इसकी उपेक्षा करके उपमेयोपमा का उपमा मे अन्तर्भाव उचित नहीं।

अप्पयदीक्षित ने मम्मट-विरचित उपमा के लक्षण 'साधर्म्यमुपमा भेदे' को उद्धृत करते हुए अपने पक्ष के समर्थन मे कहा है कि मम्मट ने इस लक्षण के द्वारा उपमा की केवल अनन्वय से भिन्नता दिखाई है।[1]

अप्पयदीक्षित का यह विचार युक्तिसंगत नहीं। अनन्वय के निराकरण का हम यह अर्थ नहीं ले सकते कि मम्मट को उपमा मे उपमेयोपमा का अन्तर्भाव करने मे कोई आपत्ति नही। मम्मट ने उपमेयोपमा का पृथक् लक्षण किया है तथा 'इतरोपमानव्यवच्छेदपरा' शब्द के द्वारा उसका उपमा से भेद बताया है।[2]

१. "इममेव विशेषमभिप्रेत्य काव्यप्रकाशकादिलक्षणेष्वनन्वयव्युदासार्थमेव यत्नः कृतो नोपमेयोपमादिव्युदासार्थम्।" —चित्रमीमांसा पृ० १८

२. "इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा"

—काव्यप्रकाश पृ० ५८३

प्रश्न उठता है कि उपमेयोपमा मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद की प्रतीति कैसे तथा क्यों होती है। जब मुख का कमल से तथा कमल का मुख से सादृश्य दिखाया जाता है तो यह मानने की क्या आवश्यकता है कि अन्य कोई वस्तु इनके समान नही।

आलङ्कारिकों ने इसके विभिन्न उत्तर दिए है। इन्दुराज ने विरोधी की शंका के समाधान के समय इसका उत्तर इस प्रकार दिया है:—

उपमेय प्राकरणिक तथा उपमान अप्राकरणिक होता है। उपमेयोपमा में उपमेय के उपमान के साथ सादृश्य के अतिरिक्त उपमान का भी उपमेय से सादृश्य दिखाया जाता है। यदि उपमेय के साथ उपमान के सादृश्य का पर्यवसान उनके सादृश्य मे ही मान लिया जाता है तो उपमेय अप्राकरणिक हो जाएगा, परन्तु यह उचित नहीं। अतः यहां पर्यवसान उनके सादृश्य में न मानकर अन्य सादृश्य के अभाव मे मानना पड़ेगा।[1]

इन्दुराज का यह उत्तर सन्तोषजनक नही। उपमेयोपमा मे हम तृतीयसदृशव्यवच्छेद इसलिए नही मानते क्योंकि वैसा न मानने से किसी प्रकार का अनौचित्य होगा, परन्तु हमे वस्तुतः तृतीयसदृशव्यवच्छेद की प्रतीति होती है। यह प्रतीति किसी सम्भावित अनौचित्य के निराकरण के उद्देश्य से उत्पन्न न होकर अलंकारविधान से स्वतः होती है। उपमेयोपमा में उपमेय के साथ उपमान का सादृश्य अनुचित प्रतीत हो यह बात भी नही। अतः इसके अनौचित्य पर तृतीयसदृशव्यवच्छेद को आश्रित मानना उचित नहीं।

अप्पयदीक्षित का इस विषय में उत्तर इस प्रकार है:—जब एक वस्तु को अन्य वस्तु के सदृश कहा जाता है तब अन्य वस्तु का प्रथम वस्तु से सादृश्य भी अर्थ के द्वारा स्वतः प्रतीत हो जाता है।

१. "ननु च प्राकरणिकं साम्याभिधानसम्बन्धि उपमेयम्, अप्राकरणिकमुपमानम्। यदि चात्रोपमेयस्योपमानत्वमभिधीयते एवं सति तस्य प्राकरणिकत्वं व्याहन्यते इत्याशंक्योक्तम्-पक्षान्तरहानिगाम्। नात्रोपमानोपमेयत्वे तात्पर्यम् किन्तु एतदेव द्वयमेवंविधं विद्यते न त्वन्यदेतयोः सदृशं वस्त्वन्तरं विद्यते इति।"

—लघुवृत्ति पृष्ठ ७२

अतः शब्दों के द्वारा उसके उपादान का उद्देश्य उनका सादृश्य दिखाना न होकर तृतीयसदृशव्यवच्छेद होना है।[1]

अप्पयदीक्षित का यह मत युक्तिसंगत नहीं। एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सादृश्य दिखाने से प्रतीति यही होती है कि उस वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सादृश्य है, यह नहीं कि अन्य वस्तु का प्रथम वस्तु से सादृश्य है। जब मुख को कमल के समान कहा जाता है तो इससे प्रतीति यही होती है कि मुख का कमल से सादृश्य है, यह नहीं कि कमल का सादृश्य मुख से है। कमल के मुख से सादृश्य को तर्कप्रणाली के द्वारा हम भले ही सिद्ध कर दें, परन्तु जहां तक अलंकारजन्य चमत्कार-प्रतीति का सम्बन्ध है कमल का मुख से यह सादृश्य उस प्रतीति के अन्तर्गत नहीं आता। 'मुख कमल के समान है' यदि इस प्रयोग से कमल के मुख से सादृश्य की प्रतीति सम्भव मानी जाती है तो 'मुख तथा कमल परस्पर समान हैं' तथा 'मुख कमल के समान है' इन दोनों वाक्यों से उत्पन्न प्रतीतियों में कोई अन्तर न रहेगा। परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं। यदि 'मुख कमल के समान है' इस वाक्य में कमल के मुख से सादृश्य की प्रतीति सम्भव भी हो तो भी इस सादृश्य-प्रतीति का शब्दों द्वारा उपादान तृतीयसदृशव्यवच्छेद का जनक हो यह आवश्यक नहीं। इस सादृश्यप्रतीति के शब्दों द्वारा उपादान का प्रायः यही अर्थ हो सकता है कि कमल का मुख से सादृश्य निस्संदिग्ध तथा निश्चित है, यह नहीं कि अन्य कोई वस्तु इनके समान नहीं।

इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित हो सकता है:—

उपमेयोपमा में कवि एक वस्तु के धर्म को अन्यत्र ढूंढता है और उसे अन्य वस्तु में इसकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार प्रथम वस्तु की द्वितीय वस्तु के साथ उसे सादृश्य-प्रतीति होती है। इसके बाद वह द्वितीय वस्तु के धर्म को अन्यत्र ढूंढने का प्रयास करता है। इसके लिए उसे पीछे की ओर मुड़ना पड़ता है। मुख के सादृश्य के लिए वह कमल की ओर

---

१. "धर्मार्थयोर्हि कस्यचित्केनचित्सादृश्ये वर्णिते तस्याप्यन्येन सादृश्यमर्थसिद्धमपि मुखतो वर्ण्यमानं तृतीयसदृशव्यवच्छेदं फलति ॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ११

बढा था परन्तु कमल के सादृश्य के लिए उसे पीछे हटकर फिर वहीं कमल पर आना पडा। इस मुडने के फलस्वरूप मुख तथा कमल का सादृश्यसंबंधी क्षेत्र आगे नहीं बढ़ सका अपितु उन्ही दोनों तक सीमित रहा। अन्य वस्तुओं का सादृश्य सम्बन्धी क्षेत्र उनके इस क्षेत्र से बाह्य हो गया। अतः प्रतीति यह हुई कि अन्य कोई वस्तु इनके समान नहीं।

जिन अलङ्कारों मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद की प्रतीति नही होती उनका अन्तर्भाव उपमेयोपमा में नहीं किया जा सकता। युगपदुपमा ऐसा ही अलङ्कार है। इसका उदाहरण इस प्रकार हैः—

"रामरावणौ मिथस्तुल्यौ"

इससे केवल इतनी ही प्रतीति होती है कि राम तथा रावण परस्पर तुल्य हैं, यह नही कि इनके समान अन्य कोई तीसरा व्यक्ति नहीं। यह तृतीयसदृशव्यवच्छेद तो तब होता जब राम को रावण के समान कहकर, रावण के सादृश्य के लिए पुनः राम की ओर मुड़ा जाता और इस प्रकार अन्य वस्तुओं के सादृश्यसंबंधी क्षेत्र को राम तथा रावण के सादृश्यसंबंधी क्षेत्र से बाह्य कर दिया जाता। परन्तु यहां ऐसी बात नहीं। अतः इसका उपमेयोपमा में अन्तर्भाव उचित नहीं।

ऐसा होने पर भी कतिपय आलंकारिकों ने युगपदुपमा का अन्तर्भाव उपमेयोपमा में किया है। अप्पयदीक्षित का यही मत हैः—

"परस्परतुलामित्यनेन द्वयोरपि प्रतियोगित्वस्य प्रतिपाद्यमानतया उपमेयोपमेत्यवयवार्थस्याविशिष्टत्वात्। अर्थादपि सिध्यतः परस्परप्रतियोगित्वस्य मुखतः प्रतिपादनेन तृतीयसदृशव्यवच्छेदरूपफललाभाच्च।"

—चित्रमीमांसा पृ० ४३

इस उक्ति से स्पष्ट है कि अप्पयदीक्षित परस्परप्रतियोगित्व को उपमेयोपमा का मूल मानते है। यह परस्पर-प्रतियोगित्व उपमेयोपमा तथा युगपदुपमा दोनों में होता है। प्रथम में यह अर्थ से सिद्ध होता है तथा द्वितीय में इसका स्पष्ट प्रतिपादन होता है। अतः इस परस्परप्रतियोगित्व के द्वारा उपमेयोपमा में जिस प्रकार तृतीय-सदृशव्यवच्छेद होता है उसी प्रकार युगपदुपमा में भी होता है।

अप्पयदीक्षित का यह मत उचित नहीं। उपमेयोपमा मे परस्पर-
होता अवश्य है परन्तु चमत्कार की प्रतीति परस्परप्रतियो-
गित्व के मार्ग से न होकर सीधे उपमेयोपमा मे प्रयुक्त शब्दों के अर्थ से होती है। उपमेयोपमा मे चमत्कार का कारण परस्परप्रतियोगित्व नहीं अपितु एक वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य दिखाकर पुनः उस अन्य वस्तु का प्रथम वस्तु से सादृश्य दिखाना ही इनमे चमत्कार का हेतु है। युगपदुपमा मे इसके विपरीत चमत्कार का कारण परस्परप्रतियोगित्व होता है। अतः चमत्कारहेतु में इस भेद के रहते हुए युगपदुपमा का उपमेयोपमा मे अन्तर्भाव मानना उचित नहीं।

जिन अलंकारों मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद तो होता है किन्तु यह उपमेय तथा उपमान के पारस्परिक सादृश्य के फलस्वरूप न होकर शब्दों द्वारा निर्दिष्ट होता है उन्हे भी उपमेयोपमा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। नियमोपमा ऐसा ही अलंकार है। दण्डी ने उपमा के भेद के रूप में इसका उल्लेख किया है। इसका उदाहरण निम्न-लिखित है:—

"त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यम्"[1]

इस उदाहरण में तृतीयसदृशव्यवच्छेद अवश्य है, परन्तु मुख तथा कमल के पारस्परिक सादृश्य का वर्णन नहीं। अतः यह उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं कहा जा सकता।

जगन्नाथ भी उपमेयोपमा के लिए उपमेय तथा उपमान के इस पारस्परिक सादृश्यविधान को अनिवार्य मानते हैं।[2]

१. "त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनचित्।
इत्यन्यसाम्यव्यावृत्तेरियं सा नियमोपमा॥"

—काव्यादर्श २। १६

२. "इति तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषये सादृश्येऽतिव्याप्तिवारणाय परस्परमिति।"

—रसगंगाधर पृष्ठ २६२

दण्डी ने उपमेयोपमा का नाम अन्योन्योपमा[1] रखा है तथा उपमा में इसका अन्तर्भाव किया है। रुद्रट तथा भोज ने इसका नाम उभयोपमा[2] रखा है तथा इसे उपमा का भेद बताया है। उपमेयोपमा का इन विभिन्न नामों से उल्लेख तो आपत्तिजनक नही परन्तु उपमा में इसका अन्तर्भाव उचित नही।

साधारणधर्म के अनुगामित्व, बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि के आधार पर उपमेयोपमा के अनेक भेद हो सकते हैं। अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने इनका सविस्तर वर्णन किया है।

पूर्वोक्त अलंकारों में सादृश्यविधान की दृष्टि से एक वस्तु सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है और वह है एक वस्तु के धर्म अथवा धर्मों को अन्यत्र ढूंढने की प्रक्रिया। उपमा तथा उपमेयोपमा में इस प्रक्रिया मे सफलता मिलती है। अतः इनमें अन्य वस्तु तथा प्रस्तुत वस्तु के अन्य धर्मों के आधार पर वैधर्म्य-प्रतीति भी होती है। अनन्वय तथा असम में इस प्रक्रिया में सफलता नही मिलती। अतः इनमें वैधर्म्यप्रतीति नही होती। अन्य वस्तु में प्रस्तुत धर्म के न मिलने पर अनन्वय मे उसके दर्शन कवि को पुनः उसी वस्तु में होते हैं। असम में इसके विपरीत प्रस्तुत धर्म के अन्यत्र न मिलने पर कवि कह देता है कि प्रस्तुत वस्तु के समान अन्य कोई वस्तु नही।

१. "तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम्।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी॥"

—काव्यादर्श २। १८

२. "वस्त्वन्तरमस्त्यनयोर्न सममिति परस्परस्य यत्र भवेत्।
उभयोरुपमानत्वं सक्रममुभयोपमा सान्या॥"

—काव्यालङ्कार ८। ६

विपर्यासोपमा तासु प्रथमाथोभयोपमा।
अथोत्पाद्योपमा नाम तुरीयानन्वयोपमा॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४। २३

प्रतीप तथा उसका अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव

रुद्रट, वाग्भट, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि ने इस अलंकार का उल्लेख किया है। इन आलंकारिकों ने प्रायः इस अलंकार की कोई एक सामान्य परिभाषा न करके विभिन्न उदाहरणों को लक्ष्य करके परिभाषा में विभिन्न तत्त्वों का सन्निवेश किया है। मम्मट ने उपमान का आक्षेप तथा उपमान की उपमेयता इन दो तत्त्वों का लक्षण में सन्निवेश किया है:—

"आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्॥"

—काव्यप्रकाश सू० २०१

बाद में मम्मट एक अन्य उदाहरण को लक्ष्य करके प्रतीप की परिभाषा पृथक् करते हैं:—

"अनयैव रीत्या यत् असामान्यगुणयोगात् नोपमानभावमपि अनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम्।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ७३७

विश्वनाथ के साथ भी यही बात है। अप्पयदीक्षित ने प्रतीप के पांच उदाहरणों को लक्ष्य करके उनके पृथक् पृथक् लक्षण कर दिए हैं।

आलंकारिकों के द्वारा प्रतीप के एक सामान्य लक्षण न करने के इस दोष की ओर जगन्नाथ ने संकेत किया है। वे लिखते हैं:—

"किं च त्वदुक्तप्रतीपभेदानामपि परस्परवैलक्षण्येन पृथक्पृथगलंकारत्वं स्यात्, न तु प्रतीपप्रभेदत्वम्। प्रतीपस्य सकलप्रभेदसाधारणसामान्यलक्षणाभावात्।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ६७१

काव्यप्रकाशादि के टीकाकारों ने प्रतीप का सामान्य लक्षण करने का प्रयत्न किया है। चक्रवर्ती आदि ने उपमान के अपकर्ष को प्रतीप का सामान्य लक्षण कहा है।[1] कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथसूरि

---

१. "अत्राहुश्चक्रवर्त्यादयः—'............'उपमानापकर्षबोधानुकूलो व्यापारः प्रतीपमिति सामान्यलक्षणम्'।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ७३५

ने भी उपमान-तिरस्कार को प्रतीप का सामान्यलक्षण कहा है ।[1]

अब देखना है कि यह उपमानतिरस्कार प्रतीप के सब उदाहरणों मे विद्यमान है या नही और यदि है तो इसके आधार पर प्रतीप को पृथक् अलंकार मानना उचित है या नही ।

अप्पयदीक्षित का प्रथम प्रतीप का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः ।" ४ । १२

—कुवलयानन्द

कतिपय आलंकारिकों के अनुसार यहां पद्म को उपमेय बनाने से उसका तिरस्कार प्रतीत होता है । मम्मट का यही मत है ।[2] उपमान को उपमेय बना देने से उसकी तिरस्कारप्रतीति इन आलंकारिकों के अनुसार निम्नलिखित कारण से होती है:—

उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य दिखाकर कवि जिस धर्म की प्रतीति उपमेय मे कराना चाहता है वह उपमान मे पूर्वसिद्ध होता है परन्तु उपमेय में वह साध्य होता है । धर्म के पूर्वसिद्ध होने के कारण उपमान में उसकी प्रसिद्धि होती है । अतः वहां उसका उत्कर्ष स्वाभाविक है । उपमेय में इसके विपरीत बात होती है ।[3]

आलंकारिकों का यह मत तो उचित है कि साधारणधर्म उपमान में सिद्ध होता है तथा उपमेय मे साध्य, परन्तु इस सिद्ध और साध्य के आधार पर उपमान तथा उपमेय मे क्रमशः गुणाधिक्य तथा गुण-न्यूनत्व मानने की आवश्यकता नही । जहां तक अलकारजन्य चमत्कार-प्रतीति का सम्बन्ध है हमें उपमान तथा उपमेय मे गुण की दृष्टि से यह मात्राभेद लक्षित नहीं होता । यदि चमत्कारप्रतीति के समय

१. "एवं चोक्तप्रकारेणोपमानप्रातिकूल्यस्य प्रतीपपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वकथनेन प्रसिद्धोपमानप्रतिकूलधर्मः प्रतीपमिति प्रतीपपञ्चकसाधारणं सामान्यलक्षणमिति सूचितम् ।—प्रतिकूलत्वं च तिरस्कारप्रयोजकत्वम् ।"

—अलंकार चंद्रिका पृष्ठ १२

२. "इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादरः ।" —काव्यप्रकाश पृष्ठ ७३७

३. "वस्तुतस्तु उपमाने साधारणधर्मसम्बन्धोऽनूद्यते उपमेये तु विधीयते । तेन प्रसिद्धसादृश्यतयोपमानस्याधिक्यम् साध्यसादृश्यतया चोपमेयस्य न्यूनत्वं बोध्यम्"—प्रभा —बालबोधिनी पृष्ठ ७३७

उपमान तथा उपमेय मे गुणों की दृष्टि से यह मात्राभेद लक्षित हो तो 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' के प्रयोग से मुख मे सौन्दर्य की न्यूनता प्रतीत होनी चाहिए। परन्तु ऐसी बात नही। इस प्रयोग के द्वारा कवि का उद्देश्य मुख मे सौन्दर्य के उत्कर्ष की प्रतीति कराना होता है और यही प्रतीति पाठक को होती है। अतः जब एक वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य दिखाया जाता है तब उपमान तथा उपमेय मे साधारणधर्म की दृष्टि से मात्राभेद की प्रतीति न होकर अभेद की ही प्रतीति होती है। उपर्युक्त उदाहरण मे यही बात है। अतः यह उपमा का उदाहरण है। जगन्नाथ ने भी इसे उपमा के अन्तर्गत माना है।[1]

द्वितीय तथा तृतीय प्रतीप के उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं:—

"अलं गर्वेण ते वक्त्र कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृशः।"

—कुवलयानन्द ४। १३

"कः क्रौर्यदर्पस्ते मृत्यो त्वत्तुल्याः सन्ति हि स्त्रियः।"

—कुवलयानन्द ४। १४

यहां प्रथम उदाहरण मे उपमान के तिरस्कार का निर्देश न होकर उपमेय वक्त्र के तिरस्कार का निर्देश है। द्वितीय उदाहरण मे उपमान मृत्यु के तिरस्कार का निर्देश अवश्य है, परन्तु इन उदाहरणों मे चमत्कार का हेतु उपमेय तथा उपमान के तिरस्कार का निर्देश नही अपितु उपमेय तथा उपमान का सादृश्य ही इनमे चमत्कार का कारण है। प्रथम उदाहरण मे वक्त्र के साथ चन्द्रमा का सादृश्य तथा द्वितीय उदाहरण में मृत्यु के साथ स्त्रियों का सादृश्य चमत्कार का कारण है। इन उदाहरणों में उपमेय तथा उपमान के तिरस्कार का निर्देश साधनमात्र है। इसका उद्देश्य प्रस्तुत सादृश्यविधान के लिए अवसर प्रदान करना ही है। 'अलं गर्वेण ते वक्त्र' के द्वारा कवि का उद्देश्य मुख का अनादर करना नही अपितु मुख के साथ चन्द्रमा के सादृश्य को अनोखे ढग से

१. "न ह्याद्ये प्रतीपे 'मुखमिव कमलम्' इत्यादौ सादृश्यस्यानिष्पत्तिरसौन्दर्यं वास्ति येनोपमातो बहिर्भावः स्यात्, सौन्दर्यविशेषस्य त्वत्राप्यभ्युपगमात्। विशेषस्य सामान्यानिवारकत्वात्। न च प्रसिद्धकमलादिप्रतियोगिकमेव सादृश्यमुपमेति राजाज्ञास्ति।" —रसगंगाधर पृष्ठ ६७०

उपस्थित करके मुख का उत्कर्ष दिखाना ही है। द्वितीय उदाहरण में भी कवि का प्रयोजन मृत्यु के तिरस्कार मे न होकर स्त्रियों का मृत्यु से सादृश्य दिखाकर उनकी क्रूरता दिखाने मे है। इस प्रकार यहां चमत्कार का कारण सादृश्यविधान है। जगन्नाथ ने भी प्रतीप के इन भेदो को उपमा के अन्तर्गत रखा है।[1]

चतुर्थ प्रतीप का उदाहरण इस प्रकार है:—

"मुधापवादो मुग्धाक्षि त्वन्मुखाभं किलाम्बुजम्।'

—कुवलयानन्द ४। १५

यहां मुधापवाद के द्वारा यह दिखाया गया है कि अम्बुज मुख की समता नहीं कर सकता। इस प्रकार यहां अम्बुज का अपकर्ष दिखाया गया है। मम्मट का उदाहरण भी इसी प्रकार का है:—

"अयि एहि तावत्सुन्दरि कर्णं दत्त्वा शृणुष्व वचनीयम्।
तव मुखेन कृशोदरि चन्द्र उपमीयते जनेन।"

—काव्यप्रकाश १०। ५५४

यहां 'वचनीय' शब्द के द्वारा यह दिखाया गया है कि चन्द्र मुख की समता नही कर सकता। अतः मुख से उसका अपकर्ष है।[2]

इस प्रकार इस उदाहरण में प्रसिद्ध उपमान चन्द्र का अपकर्ष अवश्य दिखाया गया है, परन्तु इस अपकर्ष के आधार पर प्रतीप नामक पृथक् अलंकार की कल्पना अनावश्यक है। इसका अन्तर्भाव वक्ष्यमाण व्यतिरेक अलंकार में हो सकता है। व्यतिरेक मे उपमेय का उपमान से आधिक्य दिखाया जाता है। यह आधिक्य अनेक प्रकार से सम्भव है। इन प्रकारों में एक प्रकार यह भी है कि उपमान

---

१. "अत एव द्वितीयतृतीयावपि भेदावुपमाविशेषावेव। उपमानोपमेयतिरस्कारस्तूपमान्तराद्वैलक्षण्यं प्रयोजयेत्, न तूपमासामान्यात्, तदनुस्यूतत्वेनैव तत्प्रतीतेः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ६७०

२. "अत्र मुखोपमानकस्य शशिनः स्वल्पगुणत्वादुपमित्यनिष्पत्तिः 'वचनीयम्' इति पदेन द्योत्यते सैव तिरस्कारहेतुः।" प्रदीप

—बालबोधिनी पृष्ठ ७३६

का उपमेय से अपकर्ष दिखाया जाए। उपमान का उपमेय से अपकर्ष दिखाने मे तथा उपमेय का उपमान से उत्कर्ष दिखाने में वस्तुतः कोई भेद नही। मुख कमल से उत्कृष्ट है तथा कमल मुख मे निकृष्ट है इन दोनों वाक्यों के अर्थ मे कोई अन्तर नहीं।

आलङ्कारिकों ने प्रतीप के उपर्युक्त भेद तथा व्यतिरेक मे भेद दिखाने का प्रयत्न किया है। उद्योतकार के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में उपमा की निष्पत्ति नही होती, अतः यहां उपमान का अपकर्ष प्रतीत होता है। व्यतिरेक में इसके विपरीत उपमा की निष्पत्ति हो जाती है फिर भी वहां उपमेय का आधिक्य प्रतीत होता है।[1]

उपमा की निष्पत्ति तथा अनिष्पत्ति के आधार पर व्यतिरेक तथा उपर्युक्त प्रतीप में भेद करना उचित नही। जहां तक सादृश्य का प्रश्न है इसकी प्रतीति दोनों दशाओं मे समान रूप से होती है। 'कमल मुख की समता नही कर सकता, इस वाक्य का यह अर्थ नही कि मुख तथा कमल में किसी प्रकार का सादृश्य नही। इसका अर्थ केवल इतना है कि जिस साधारणधर्म के आधार पर कमल का मुख से सादृश्य अभिप्रेत है उसकी उपमान मे न्यूनता है। यही बात व्यतिरेक मे होती है। वहां भी साधारणधर्म को उपमेय तथा उपमान मे समान रूप से न बताकर उपमेय में उसका आधिक्य बताया जाता है। अतः जहां तक सादृश्य के तत्त्वों का सम्बन्ध है प्रतीप का उपर्युक्त भेद व्यतिरेक से भिन्न नहीं। जगन्नाथ को भी यह मत मान्य है।[2]

१. "उपमित्यनिष्पत्तिरिति—अत एव व्यतिरेकाद्भेदः, तत्रोपमितिनिष्पत्तावपि उपमेयाधिक्यप्रतीतेः........................।" उद्योत

—बालबोधिनी पृष्ठ ७३६

२. "पञ्चमस्य तु गतिरुक्तैव प्रभेदस्य।" —रसगंगाधर पृष्ठ ६७१

जगन्नाथ ने चतुर्थ भेद को ही पञ्चम भेद माना है। इस पञ्चम भेद की क्या गति है इसे रसगंगाधर के टीकाकार मथुरानाथभट्ट ने अपनी निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट कर दिया है:—

"अनुक्तवैधर्म्ये व्यतिरेकेऽन्तर्भाव इत्यर्थः"

—सरला टीका पृष्ठ ६७१

पञ्चम प्रतीप का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"दृष्टं चेद्वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना।"

—कुवलयानन्द ४। १६

यहां मुख के सामने कमल तथा चन्द्रमा को व्यर्थ कहा गया है। व्यर्थता से कमल तथा चन्द्रमा का अपकर्ष प्रतीत होता है। वामनाचार्य तथा चक्रवर्ती आदि ने भी उपमान की व्यर्थता का अर्थ उपमान का अपकर्ष लिया है:—

"इन्दुः किं घटित इत्यादिना तिरस्कारार्थमुपमानस्य वैयर्थ्यमात्रं प्रतिपाद्यते न तूपमेयस्याधिक्यमिति न व्यतिरेकप्रसंगः॥"

—बालबोधिनी पृष्ठ ७३६

"अत्राक्षेपप्रयुक्तः उपमानस्यापकर्षबोधः"—चक्रवर्ती

—बालबोधिनी पृष्ठ ७३६

इन उक्तियों मे यह तो निर्विवाद है कि उपर्युक्त उदाहरण में उपमान के अपकर्ष का बोध होता है। परन्तु ये आलङ्कारिक उपमान के अपकर्ष तथा उपमेय के उत्कर्ष में भेद करके उपर्युक्त भेद का व्यतिरेक से भेद करते हैं। यह उचित नही। उपमान के उपमेय से अपकर्ष मे तथा उपमेय के उपमान से उत्कर्ष में वस्तुतः कोई भेद नहीं। अतः यदि उपमेय के उपमान मे उत्कर्ष को व्यतिरेकालंकार माना जाना है तो उपमान के उपमेय से अपकर्ष को वैसा मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। स्वयं मम्मट ने भी यह बात स्वीकार की है। मम्मट व्यतिरेक के दो हेतु मानते हैं—उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष।[1] अतः उपर्युक्त भेद को व्यतिरेक के अन्तर्गत मानना उचित होगा।

प्राचीन आलंकारिकों में प्रतीप का वर्णन बहुत कम मिलता है। दण्डी ने इसके लिए विपर्यासोपमा[2] शब्द का प्रयोग किया है तथा इसे उपमा के अन्तर्गत माना है। भोज भी इसे विपर्यासोपमा कहते हैं।[3] रुद्रट ने प्रतीप

---

१. "व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम् उपमानगतमपकर्षकारणम्।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६४७

२. "त्वदाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति।
सा प्रसिद्धिविपर्यासाद् विपर्यासोपमेष्यते॥" —काव्यादर्श २। १७

३. देखिए, सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४१२

का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उनका इस अलंकार का लक्षण अन्य आलंकारिको के लक्षणों से भिन्न है। वे किसी दौर्वस्थ्य के कारण उपमेय के उपमान सदृश बन जाने को प्रतीप कहते है। निम्नलिखित उदाहरण मे यह स्पष्ट है:—

"वदनमिदं ममभिन्दोः सुन्दरमपि ते कथं चिरं न भवेत्।

मलिनयति यत्कपोलौ लोचनसलिलं हि कज्जलवत्॥"

—काव्यालंकार ८। ७७

इस उदाहरण मे मुख का चन्द्र से सादृश्य दिखाया गया है। अतः इसे उपमा के अन्तर्गत मानना उचित होगा।

व्यतिरेक

व्यतिरेक मे उपमा के समान ही दो तत्त्व होते है— भेद तथा अभेद अथवा साधर्म्य एवं वैधर्म्य, परन्तु उपमा से इसमे एक भेद है और वह यह कि उपमा में जहां ये दोनों तत्त्व तुल्य होते हैं वहां इसमे भेद अथवा वैधर्म्य तत्त्व प्रधान होता है। उपमा के उदाहरण 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में साधारणधर्म सौन्दर्य के आधार पर मुख तथा कमल मे साधर्म्य की प्रतीति होती है तथा अन्य धर्मो के आधार पर इनमें वैधर्म्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार साधर्म्य तथा वैधर्म्य प्रतीति के समान रूप से सम्मिलन के द्वारा दोनों में सादृश्य-प्रतीति का जन्म होता है। व्यतिरेक के उदाहरण 'मुखं कमलमतिशेते' मे साधारणधर्म सौन्दर्य की प्रतीति अवश्य होती है परन्तु यहां मुख तथा कमल में विद्यमान सौन्दर्य में मात्राभेद है। साधारणधर्म में यह मात्राभेद मुख तथा कमल मे वैधर्म्य की प्रतीति कराता है। व्यतिरेक में इस वैधर्म्य की प्रतीति प्रधान रूप से होती है और साधर्म्य से युक्त यह वैधर्म्यप्रतीति ही व्यतिरेक मे चमत्कार का कारण है।[1]

---

१. दण्डी तथा भोज का इससे मतभेद है। इनके अनुसार व्यतिरेक के लिए केवल इतना पर्याप्त है कि उपमेय तथा उपमान में भेद अथवा वैधर्म्य का कथनमात्र हो। यह आवश्यक नहीं कि यहा वैधर्म्य तत्त्व प्रधान हो:—

"शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।

तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते।" —काव्यादर्श २। १८०

भोज ने भी व्यतिरेक की यही परिभाषा की है।

दण्डी तथा भोज का यह मत समीचीन नहीं। केवल वैधर्म्य के कथनमात्र से व्यतिरेक की सिद्धि मानना उचित नहीं। जहां तक वैधर्म्य की प्रतीति का सम्बन्ध है यह प्रतीति हमें उपमा में भी होती है। यहां व्यतिरेक में वैधर्म्य का कथनमात्र इस वैधर्म्यप्रतीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं करा सकता। अतः ऐसी दशा में व्यतिरेक न मानकर उपमा मानना ही उचित होगा। जहां इस वैधर्म्य के कथन से उपमेय के उत्कर्ष के फलस्वरूप वैधर्म्य की प्रधानता प्रतीत होती है वहां व्यतिरेक माना जा सकता है।

सभी आलङ्कारिकों ने व्यतिरेक में इस वैधर्म्यप्रतीति को स्वीकार किया है, परन्तु यह वैधर्म्यप्रतीति किस रूप में होती है इस विषय को लेकर इनमें मतभेद है। कतिपय आलङ्कारिक इसे केवल उपमेय के उत्कर्ष के रूप में मानते हैं। अन्य आलङ्कारिकों के अनुसार यह उपमेय के उत्कर्ष तथा उसके अपकर्ष इन दोनों में से किसी भी रूप में हो सकती है। मम्मट, हेमचन्द्र, जगन्नाथ, विश्वेश्वर आदि प्रथम पक्ष के समर्थक हैं तथा उद्भट, रुय्यक, विद्यानाथ आदि द्वितीय मत के समर्थक हैं। निम्नलिखित परिभाषाओं से यह स्पष्ट है:—

"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः"

—काव्यप्रकाश सू० १८५

"भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः"

—सर्वस्व सू० २८

अन्य आलङ्कारिकों की परिभाषाएं उपर्युक्त परिभाषाओं में से किसी एक के समान हैं।

अब देखना है कि ये आलंकारिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष का क्या अर्थ लेते है। किसी वस्तु का अन्य वस्तु से उत्कर्ष दो प्रकार से सम्भव है—उसके सद्गुणों को लक्ष्य करके अथवा उसमें तथा अन्य वस्तु में विद्यमान साधारणधर्म को लक्ष्य करके। पूर्व दशा में उपमेय का अधिक-गुणवत्त्व उपमान से उसके उत्कर्ष का कारण होता है। द्वितीय दशा में साधारणधर्म का आधिक्य उपमेय के उपमान से उत्कर्ष का कारण होता है। यह आवश्यक नहीं कि गुणवत्त्व तथा साधारणधर्म की मात्रा के आधार पर किए हुए उत्कर्ष अथवा अपकर्ष सम्बन्धी हमारे ये निर्णय सदा समान हों। यदि साधारणधर्म गुणविशेष है तब तो हमारे निर्णय दोनों दशाओं में समान होंगे, परन्तु यदि साधारणधर्म गुणविशेष न होकर अवगुणविशेष है तो हमारे निर्णय दोनों दशाओं में परस्पर विपरीत होंगे। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"दुर्जनः सर्पादतिरिच्यते"

यदि यहां गुणवत्त्व को उत्कर्षापकर्ष का आधार माना जाता है तो प्रतीति यह होगी कि दुर्जन सर्प से निकृष्ट है। इस प्रकार दुर्जन का

अपकर्ष प्रतीत होगा। परन्तु यदि साधारणधर्म भयंकरता को उत्कर्षा-पकर्ष का आधार माना जाता है तो दुर्जन का उत्कर्ष प्रतीत होगा।

जगन्नाथ गुणवत्त्व को उत्कर्षापकर्ष का आधार मानते हैं। उन्होंने अपनी व्यतिरेक की परिभाषा में इसका स्पष्ट निर्देश किया है।[1] रुय्यक का भी यही मत है। ये 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्। विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु॥' इस उदाहरण में गुणवत्त्व के आधार पर यौवन तथा चन्द्र के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का निर्णय करते हैं। चन्द्र में पुनः पुनः वृद्धि गुण है। यौवन में इसके विपरीत अनिवर्तन गुण है। अतः चन्द्र यौवन से उत्कृष्ट है।[2]

मम्मट का मत जगन्नाथ तथा रुय्यक के मत से भिन्न है। ये साधारणधर्म के अतिशय को उत्कर्ष का आधार मानते हैं।

'क्षीणः क्षीणोऽपि......' इस उदाहरण में यौवन का चन्द्र से सादृश्य दिखाया गया है। यहां साधारणधर्म 'क्षय' है। इस साधारणधर्म का यौवन में अतिशय है, क्योंकि वह क्षीण होने पर फिर वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। अतः इस साधारणधर्म की दृष्टि से यौवन में उत्कर्ष है।[3]

उत्कर्षापकर्षसम्बन्धी निर्णयों के इन दोनों आधारों के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि मम्मट का मत ही समीचीन है। व्यतिरेक एक सादृश्यमूलक अलंकार है। अतः इसमें उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का निर्णय इसमे विद्यमान सादृश्य को लक्ष्य करके होना चाहिए। सादृश्य साधर्म्य अथवा साधारणधर्म पर आश्रित रहता है। अतः

---

१. "उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ४६७

२. "'क्षीणः क्षीणोऽपि...............' अत्र-चन्द्रापेक्षया च यौवनस्य न्यूनगुणत्वम्। शशिवैलक्षण्येन गतस्यापुनरागमनात्।"

—सर्वस्व पृष्ठ ८५

३. "'क्षीणः क्षीणोऽपि.........' इत्यादौ उपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तम् तदयुक्तम्। अत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम्।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६४५

व्यतिरेक में विद्यमान उत्कर्ष अथवा अपकर्ष इसी साधारणधर्म की अधिकता अथवा न्यूनता के आधार पर सम्भव है। व्यतिरेक में कवि का उद्देश्य दो वस्तुओं के गुणदोष का विवेचन करके उनमें से एक का उत्कर्ष तथा अन्य का अपकर्ष दिखाना नहीं होता अपितु उनका किसी साधारणधर्म के आधार पर सादृश्य दिखाकर उनमें से एक में साधारणधर्म का आधिक्य तथा अन्य में उसकी न्यूनता दिखाना होता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।

विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥"

यहां यौवन का सादृश्य चन्द्रमा से दिखाया गया है। यदि गुण-दोष के आधार पर यहां उत्कर्षापकर्ष का निर्णय किया जाता है तो चन्द्रमा का उत्कर्ष तथा यौवन का अपकर्ष प्रतीत होगा। रुय्यक ने ऐसा ही किया है। परन्तु यह उचित नहीं। यहां कवि का उद्देश्य यौवन तथा चन्द्रमा के गुणदोष का विवेचन नहीं अपितु साधारणधर्म क्षीणता के आधार पर उनका सादृश्य दिखाकर एक में इसकी अधिकता तथा अन्य में इसकी न्यूनता दिखाना ही कवि को अभिप्रेत है। उपर्युक्त श्लोक में चन्द्रमा के साथ क्षीण शब्द जुड़ा हुआ है तथा यौवन के साथ 'यातम्' शब्द जुड़ा हुआ है। इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है और वह है क्षय अथवा विनाश। इस प्रकार यह क्षय दोनों में साधारणधर्म के रूप में है। परन्तु इन दोनों में एक वैधर्म्य है। यह वैधर्म्य चन्द्रमा की पुनः अभिवृद्धि तथा यौवन के अनिवर्तन के रूप में है। इस वैधर्म्य के द्वारा यौवन में साधारणधर्म की अधिकता तथा चन्द्रमा में उसकी न्यूनता प्रतीत होती है। इस प्रकार यहां कवि का उद्देश्य यौवन की अस्थिरता का आधिक्य बताना है और यही आधिक्य प्रकृत अर्थ मानप्रसादन के अनुकूल है।

सादृश्यमूलक अलंकारों में उत्कर्ष तथा अपकर्ष का निर्णय साधारणधर्म के आधिक्य तथा न्यूनता के आधार पर ही होता है, गुणदोष के आधार पर नहीं। जब वाणी को अमृत से बढ़कर कहा जाता है तब आधिक्य साधारणधर्म माधुर्य को लक्ष्य करके होता

है, परन्तु वही वाणी जब विष से बढ़कर कही जाती है तब आधिक्य माधुर्य को लक्ष्य न करके साधारणधर्म कटुता को लक्ष्य करके होता है।

अतः यह तो निश्चित है कि व्यतिरेक में उत्कर्ष तथा अपकर्ष साधारणधर्म को लक्ष्य करके होते हैं, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर अभी तक बाकी है कि व्यतिरेक में उपमेय का सदा उत्कर्ष ही दिखाया जाता है अथवा उसका अपकर्ष भी कभी कभी वहां सम्भव है।

मम्मट ने उत्कर्ष के उपर्युक्त अर्थ को लेकर भी यह माना है कि व्यतिरेक में उपमेय का केवल उत्कर्ष होता है। उन्होंने 'क्षीणः क्षीणोऽपि...............' इस उदाहरण में उपमेय की न्यूनता के सिद्धान्त का खण्डन करके इसमें उपमेय का आधिक्य दिखाया है।

जहां तक उपर्युक्त उदाहरण का सम्बन्ध है, मम्मट का इसमें उपमेय-सम्बन्धी उत्कर्ष दिखाना सर्वथा उचित है, परन्तु मम्मट का सिद्धान्त व्यतिरेक के सब उदाहरणों पर लागू हो ऐसी बात नहीं। ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जिनमें कवि का उद्देश्य उपमेय का उत्कर्ष न दिखाकर उसका अपकर्ष दिखाना होता है। निम्नलिखित उदाहरण इन्हीं में से एक है:—

"हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः"

—साहित्यदर्पण पृ० ५६०

यहां नल का हनुमान् आदि से सादृश्य है। इनमें दूतकर्म साधारणधर्म है। हनुमान् आदि में इसका उत्कर्ष है तथा नल में अपकर्ष है। इस प्रकार यहां उपमेय नल का अपकर्ष दिखाया गया है और यह अपकर्ष ही नल के निर्वेद का कारण है। विश्वनाथ ने भी उपर्युक्त उदाहरण में उपमेय का अपकर्ष बताया है।[1]

उद्योतकार ने इस उदाहरण में उपमेय का आधिक्य दिखाया है:—

---

१. " 'हनूमदाद्यैर्यशसा...............' इत्यादिषु का गतिरिति सुष्ठूक्तं 'न्यूनताथवा.........' इति।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५६०

"अत्र नलमहीपतेः स्वनिन्दया लब्धनिर्वेदातिशयरूपप्रकृतवाक्यार्थे दूत्यगतन्यूनताया एवानुगुणत्वेनाधिक्यरूपत्वात् ।"

—बालबोधिनी पृ० ६४६

यहां उद्योतकार नल में दूत्यगत न्यूनता मानते हैं, फिर भी उसे आधिक्यरूप कहते हैं। यह परस्परविरोध है। जो वस्तु न्यूनता के रूप में है वह अधिकता के रूप में कैसे हो सकती है। यह कहना कि वाक्यार्थ के प्रति अनुकूल होने के कारण यह न्यूनता अधिकता बन जाएगी उचित नहीं। वाक्यार्थ के प्रति अनुकूलता वस्तु के स्वरूप को परिवर्तित नहीं कर सकती। इसका प्रभाव केवल वस्तु के वाक्यार्थ-विषयक सम्बन्ध पर पड़ता है वस्तु के स्वरूप पर नहीं। हम केवल इतना कह सकते हैं कि उपमेय की उपमान से यह न्यूनता वाक्यार्थ की उत्कर्षक है यह नहीं कि इससे उपमेय का उत्कर्ष हो जाता है। यदि वाक्यार्थ के प्रति अनुकूलता को उपमेय के उत्कर्ष का आधार माना जाता है तो उपमान के विषय में भी यह आधार लागू होना चाहिए। इस प्रकार उपमेय तथा उपमान दोनों का उत्कर्ष हो जाएगा और उपमान के अपकर्ष का व्यतिरेक में लोप हो जाएगा। साथ में ऐसा मानने से इस अनौचित्य की भी प्रतीति होगी कि उपमेय जिस उपमान से उत्कृष्ट है वह उपमान भी उस उपमेय से उत्कृष्ट है। इतना ही नहीं इस आधार के द्वारा तो उपमा में भी उपमेय का उत्कर्ष हो जाएगा और फलतः उपमा तथा व्यतिरेक के भेद का लोप हो जाएगा।

उद्योतकार के उपर्युक्त मत की इस प्रकार असमीचीनता सिद्ध हो जाने पर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर के निम्नलिखित इसी जैसे मतों की असमीचीनता में सन्देह नहीं रह जाता:—

"उत्कर्षापकर्षौ ह्यत्र न वास्तवाभिमतौ, किन्तु प्रकृतार्थातिशायकत्वानतिशायकत्वस्वरूपौ। प्रकृतश्चात्र नलनिर्वेदः, तदुत्कर्षकत्वं च दौत्यनिष्ठोक्तापकर्षस्याप्यस्तीति।"

—अलंकारकौस्तुभ पृ० २९७

"किं च यत्र क्वापि शाब्द उपमेयस्यापकर्षस्तत्रापि स तस्य वाक्यार्थपर्यवसायितया उत्कर्षात्मना परिणमति।"

—रसगंगाधर पृ० ४७५

उपमेयगत उत्कर्ष के इतने प्रबल समर्थक होते हुए भी जगन्नाथ उपमेय के न्यूनताविषयक सिद्धान्त का सर्वथा परिहार कर सके हों ऐसी बात नहीं। अन्त में उन्हें भी इस सिद्धान्त को स्पष्टतः स्वीकार करना पड़ा।[1]

अप्पयदीक्षित व्यतिरेक में उपमेय के आधिक्य अथवा न्यूनता के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व भी मानते हैं। यह है अनुभयपर्यवसायिता। व्यतिरेक के इस भेद में उपमेय का न उत्कर्ष होता है और न अपकर्ष।[2]

अप्पयदीक्षित का यह मत समीचीन नहीं। व्यतिरेक में उपमेय तथा उपमान में वैधर्म्य का प्रधानतः निर्देश अनिवार्य है। यदि उपमेय का न उत्कर्ष दिखाया गया है और न अपकर्ष तो वहां या तो वैधर्म्य का निर्देश होगा ही नहीं और यदि होगा भी तो केवल गौण होगा। इस प्रकार यह व्यतिरेक का उदाहरण न होकर उपमा का उदाहरण होगा।

प्राचीन आलंकारिकों में भामह ने व्यतिरेक के किसी भेद का निर्देश नहीं किया है। दण्डी ने व्यतिरेक का सविस्तार निरूपण किया है। उनके उपमा के भेद प्रतिषेधोपमा[3] का अन्तर्भाव इसी व्यतिरेक में किया जा सकता है। उद्भट ने उत्कर्षनिमित्त के उपादान तथा अनुपादान के आधार पर व्यतिरेक के भेद किए हैं तथा वैधर्म्यदृष्टान्त नामक एक

---

१. "यदि तु न्यूनत्वमपि व्यतिरेक इत्याग्रहस्तदेदमुदाहार्यम्:—

'जगत्त्रयत्राणधृतव्रतस्य क्षमातलं केमलमेव रक्षन्।

कथं समारोहसि हन्त राजन् सहस्रनेत्रस्य तुलां द्विनेत्रः ॥'

अत्र धर्मद्वयेनैव न्यूनोऽसि धर्मान्तरेण तु सम इति प्रतीतिकृतविच्छित्ति-विशेषादलंकारता। एवं च लक्षणेऽपकर्षोऽप्येवंजातीयो देयः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ४७७

२. "अनुभयपर्यवसायी यथा—दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥

—कुवलयानन्द पृष्ठ ६६

३. "[illegible] प्रतिगर्जितुम्।

अन्य भेद माना है।[1] भोज ने व्यतिरेक के सोलह भेद किए हैं।[2] उनके भेद के आधार सादृश्य की अभिधीयमानता तथा प्रतीयमानता को तो परवर्ती आलंकारिकों ने स्वीकार किया है, परन्तु जाति, व्यक्ति, सादृश्य, वैसादृश्य आदि भेद के अन्य आधारों का इन आलंकारिकों ने अनुसरण नहीं किया है।

मम्मट ने व्यतिरेक के चोईस भेद किए है। भेद के लिए इन्होंने जिन हेतुओं को आधार माना है उनका प्रायः सभी आलंकारिकों ने अनुसरण किया है। इनके द्वारा प्रतिपादित भेद के हेतु निम्नलिखित हैं:—

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम् उपमानगतमपकर्षकारणम् तयोर्द्वयोरुक्तिः, एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यनुक्तित्रयम्, एतद्भेद-चतुष्टयमुपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव एवं द्वादश। एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदाः।" —काव्यप्रकाश पृ० ६४७

इस प्रकार मम्मट ने व्यतिरेक के भेदों के तीन कारण माने हैं। प्रथम कारण उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष है, द्वितीय कारण औपम्यवाचक शब्दों का निर्देशप्रकार है तथा तृतीय कारण शब्दों की श्लिष्टता तथा अश्लिष्टता है। प्रथम कारण के अनुसार व्यतिरेक के चार

कलङ्किनो जडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा॥" —काव्यादर्श २। ३४

१. "विशेषापादनं यस्यादुपमानोपमेययोः।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेक द्विधा तु सः॥"
—काव्यालंकारसारसंग्रह २। ६

"यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वितः।
व्यतिरेकोऽत्र सोपीष्टो विशेषापादनान्वयात्॥"
—काव्यालंकारसारसंग्रह २। ७

२. "स्वजातिव्यक्त्युपाधिभ्यामेकोभयभिदा च सः।
सादृश्याद्वैसादृश्याच्च भिन्नः षोढाभिजायते॥"
—सरस्वतीकण्ठाभरण ३। ३३

भेद हो जाते हैं, द्वितीय के अनुसार इनमें से प्रत्येक के पुनः तीन भेद हो जाते हैं तथा तृतीय के अनुसार इनमें से प्रत्येक के पुनः दो भेद हो जाते हैं। इस प्रकार कुल चोईस भेद हो जाते हैं।

भेदों के इन कारणों के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि प्रथम कारण सर्वथा उचित है। उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वैधर्म्य से सीधा सम्बन्ध है और यह वैधर्म्य व्यतिरेक के मूल में है। इस आधार पर व्यतिरेक के चार भेद होते हैं। मम्मट व्यतिरेक में उपमेय का अपकर्ष नहीं मानते। अतः उनके अनुसार ये चार भेद ही बनते हैं। परन्तु जैसा हमने ऊपर सिद्ध किया है व्यतिरेक में उपमेय का अपकर्ष भी सम्भव है। इस दशा में व्यतिरेक के आठ भेद बन जाते हैं। विश्वनाथ ने ऐसा ही माना है।[1]

द्वितीय कारण को भेद का आधार मानना उचित नहीं। साम्यसूचक शब्दों का निर्देशप्रकार व्यतिरेक में विद्यमान साधर्म्य तथा वैधर्म्य के स्वरूप पर प्रभाव नहीं डाल सकता। हम 'अकलंकं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा' कहें अथवा 'तस्या अकलङ्कं मुखं कलङ्कि-विधुवन्नास्ति' कहें अथवा 'तस्या अकलङ्कं मुखं कलङ्किनं विधुं जयति' कहें, हमें सब दशाओं में मुख के विधु से उत्कर्ष की समान रूप से प्रतीति होगी।

तृतीय कारण श्लेष प्रत्येक दशा में व्यतिरेक का आधार नहीं बन सकता। व्यतिरेक का आधार बनने के लिए आवश्यक है कि श्लेष से निकलने वाले अर्थों में अर्थसम्बन्धी कोई सादृश्य हो। यदि ऐसा नहीं है तो श्लेष व्यतिरेक का आधार नहीं बन सकता। इसका विवेचन उपमा-प्रकरण में किया जा चुका है। निम्नलिखित उदाहरण से भी यह स्पष्ट है:—

"नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव महान् भवान्।"

—काव्यप्रकाश ९। ३८०

---

१. "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५८

यहां श्लोक के दो अर्थ हैं—यश तथा पद्य। राजा के साथ इसका अर्थ यश लगता है तथा कवि के साथ पद्य। यश तथा पद्य में किसी प्रकार का सादृश्य नहीं। अत. श्लोक शब्द राजा तथा कवि में किसी साधर्म्य का बोध नहीं करा सकता। जब इन दोनों में किसी साधर्म्य का बोध ही सम्भव नहीं तब यह कहना कि इनमें से एक में साधर्म्य का उत्कर्ष है कोई अर्थ नहीं रखता।

रूपक

उपमा में उपमेय तथा उपमान में किसी एक अथवा किन्हीं अनेक धर्मों को लेकर साधर्म्य होता है तथा अन्य धर्मों को लेकर वैधर्म्य होता है। रूपक में उपमेय तथा उपमान के इस साधर्म्य का इतना विस्तार होता है कि वैधर्म्य का सर्वथा लोप हो जाता है। इस प्रकार यह साधर्म्य यहां साधर्म्य न रहकर ताद्रूप्य बन जाता है। उपमा के उदाहरण 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में मुख का कमल से जो सादृश्य था वह रूपक के उदाहरण 'मुखं कमलमस्ति' में ताद्रूप्य में परिणत हो गया है। उपमा में मुख कमल के केवल समान था। यहां वह कमल के तद्रूप बन गया है। अतः रूपक में ताद्रूप्यप्रतीति का चमत्कार होता है। दण्डिविरचित रूपक की निम्नलिखित परिभाषा में यही बात है:—

"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते" —काव्यादर्श २। ६६

कतिपय आलंकारिक रूपक में ताद्रूप्यप्रतीति न मानकर अभेद-प्रतीति मानते हैं। मम्मट इसी मत के समर्थक हैं:—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः" —काव्यप्रकाश सू० १३९

इस प्रकार रूपक के स्वरूप के विषय में आलंकारिकों के दो मत हैं। कतिपय आलंकारिक इसका स्वरूप ताद्रूप्यप्रतीति मानते हैं तो अन्य इसका स्वरूप अभेदप्रतीति मानते हैं। विश्वेश्वर ने इन दोनों मतों का स्पष्ट उल्लेख किया है:—

"अभेदाराप एव रूपकमिति काव्यप्रदीपः। अन्ये तु··············· सारूप्यमेव रूपकमित्याहुः।" —अलंकारकौस्तुभ पृ० २०६

रूपक में एक वस्तु का अन्य पर आरोप होता है, इस बात से तो सभी सहमत हैं, परन्तु यह आरोप उन वस्तुओं के ताद्रूप्य के रूप में होता है अथवा अभेद के रूप में इस विषय को लेकर उनमें मतभेद है। कतिपय आलंकारिक आरोप का अर्थ जहां ताद्रूप्य लेते हैं वहां अन्य उसका अर्थ अभेद लेते हैं।

रूपक के उदाहरण 'मुखं कमलमस्ति' को ध्यान में रखने पर प्रतीत होगा कि रूपक में अभेद-प्रतीति मानना उचित नहीं। अभेद के लिए आवश्यक है कि वस्तुओं के पृथक् अस्तित्व का लोप हो जाए। गुणों का ऐक्य ही अभेद के लिए पर्याप्त नहीं, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि एक वस्तु का अस्तित्व अन्य में विलीन हो जाए और फलस्वरूप दो वस्तुएं न रहकर एक ही वस्तु रह जाए। जब जीव तथा ब्रह्म का अभेद बताया जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि जीव तथा ब्रह्म का अस्तित्व तो पृथक् है परन्तु उनमें गुण एक ही हैं, अपितु इसके विपरीत इसका अर्थ यह है कि इनका अस्तित्व एक दूसरे से पृथक् नहीं। ये दोनों वस्तुएं वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं। रूपक के उपर्युक्त उदाहरण में ऐसी बात नहीं। यहां मुख तथा कमल का अस्तित्व पृथक् बना हुआ है। मुख का मुखत्व तथा कमल का कमलत्व यहां मिलकर एक नहीं बन जाते। यहां केवल इतना कहा गया है कि मुख तथा कमल में ताद्रूप्य है। यदि यहां अभेदप्रतीति मानी जाती है तो मुख का अस्तित्व कमल में विलीन हो जाना चाहिए और फलतः कमल ही अवशिष्ट रह जाना चाहिए। यहां ऐसी बात नहीं।

जब तक दो वस्तुएं बनी हुई हैं और हम उनको दो वस्तुओं के रूप में ही देखते हैं तब तक उनमें अभेद सम्भव नहीं। दो वस्तुओं को हम सादृश्य के आधार पर कितना ही समीप क्यों न लाएं जब तक उनमें द्वित्व की प्रतीति बनी रहेगी तब तक उनमें अभेद अथवा अद्वैत सम्भव नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में यही बात है। हम यहां मुख को मुख मानकर चलते हैं। तथा कमल को कमल मानकर चलते हैं और तब इन्हें सादृश्य के आधार पर समीप लाने का प्रयत्न करते हैं। सादृश्य की यह प्रक्रिया ताद्रूप्य-प्रतीति से आगे नहीं बढ़ सकती।

जहां तक उपमेय तथा उपमान के निर्देश का सम्बन्ध है रूपक तथा उपमा में कोई भेद नहीं। इनमें भेद केवल यही है कि जहां उपमा में उपमेय को उपमान के समान कहा जाता है वहां रूपक में उस पर उपमान का आरोप कर दिया जाता है। उपमा में उपमेय तथा उपमान की उपर्युक्त समानता गुणों को लक्ष्य करके होती है। अतः रूपक में भी उपर्युक्त आरोप इनके गुणों को लक्ष्य करके सम्भव है। इस प्रकार रूपक में ताद्रूप्यप्रतीति ही होती है अभेद-प्रतीति नहीं।

रूपक में अभेद-प्रतीति नहीं होती इसी बात को लक्ष्य करके हेमचन्द्र ने अपनी रूपक की परिभाषा में भेदेन शब्द का सन्निवेश किया है।[1] रुय्यक ने भी अपनी रूपक की परिभाषा में अभेद का सन्निवेश न करके 'अभेदप्राधान्य' का सन्निवेश किया है।[2] अभेद की प्रधानता का अर्थ यही है कि रूपक में भेद की सत्ता अवश्य होती है।[3]

अप्पयदीक्षित ने रूपक में ताद्रूप्यप्रतीति का खण्डन किया है,[4] परन्तु बाद में अपनी रूपक की परिभाषा में 'उपरञ्जकता' शब्द का सन्निवेश करके उसका अर्थ ताद्रूप्य ही लिया है।[5] यह परस्पर विरोध है।

अप्पयदीक्षित कहते हैं कि रूपक में ताद्रूप्य-प्रतीति तथा अतिशयोक्ति में अभेद-प्रतीति मानने का कोई आधार नहीं क्योंकि इसके विपरीत बात भी कही जा सकती है।[6] दीक्षित का यह मत युक्तिसंगत नहीं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूपक में ताद्रूप्यप्रतीति सर्वथा न्यायसंगत है। अतः इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

---

१. "सादृश्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम्।"

—काव्यानुशासन ६। ५

२. "अभेदप्राधान्ये आरोप आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्।"

—सर्वस्व सू० १५

३. "अभेदस्य प्राधान्याद् भेदस्य वस्तुतः सद्भावः"— सर्वस्व पृष्ठ ३२

४. "ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति तयोर्भेदः। ....इति चेत्। न। वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ५२

५. "बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा।" —चित्रमीमांसा पृष्ठ ५६

"उपरञ्जकतामाहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेति।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ५७

६. "ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति तयोर्भेदः। ....इति चेत्। न। वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ५२

रूपक में इस ताद्रूप्य-प्रतीति की क्या प्रक्रिया है इस विषय को लेकर आलङ्कारिकों में मतभेद है। प्राचीन आलङ्कारिकों के अनुसार यह प्रतीति लक्षणा के द्वारा होती है। इनके अनुसार 'मुखं कमलमस्ति' इस वाक्य में सारोपा लक्षणा है। यहां कमल के मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और उसका लक्ष्यार्थ कमल के गुणों से युक्त पदार्थ निकलता है। यह लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ के साथ गुणों के सादृश्य के द्वारा सम्बद्ध है। 'मुखं कमलमस्ति' में मुख का सम्बन्ध इस लक्ष्यार्थ के साथ होता है और इससे प्रयोजन के रूप मे मुख तथा कमल में ताद्रूप्य की प्रतीति होती है।[1]

नव्य आलङ्कारिकों का इससे मतभेद है। इनके अनुसार रूपक में लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं। नाम तथा अर्थों के पारस्परिक संसर्ग से ही उनके सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में मुख को कमल कहने से ही मुख तथा कमल में ताद्रूप्य-प्रतीति सम्भव है। अतः यहां लक्षणा मानकर प्रयोजन के रूप में ताद्रूप्यप्रतीति की क्लिष्ट कल्पना अनावश्यक है।[2]

दोनों मतों के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि द्वितीय मत प्रथम की अपेक्षा उचित है। जब मुख को कमल कहा जाता है तब इससे सीधे ही हमें इन दोनों में ताद्रूप्यप्रतीति हो जाती है। यह नहीं कि कमल के मुख्यार्थ का पहले बाध हो और बाद मे लक्ष्यार्थ का ज्ञान होने पर प्रयोजन के रूप में हमें यह ताद्रूप्यप्रतीति हो। 'मुखं कमलमस्ति' इस वाक्य में हम कमल को उससे सम्बद्ध गुणों के रूप में देखते हैं। अतः इन गुणों से युक्त कमल के साथ

---

१. "तत्र प्राञ्चः—'विषयिवाचकपदेन विषयिवृत्तिगुणवतो लक्षणया सारोपयोपस्थितौ, विषये तस्याभेदेन संसर्गेण विशेषणतयान्वयः। एवं च मुखं चन्द्र इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखमिति धीः..................' इत्याहुः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ३१८–३१९

२. "नव्यास्तुः—नामार्थयोरभेदसंसर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाच्चन्द्राभिन्नं मुखमिति लक्षणां विनैव बोधः। फलस्यान्यथैवोपपत्तेर्लक्षणाकल्पनस्यान्याय्यत्वात्।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ३१९

इन्हीं गुणों से युक्त मुख का सम्बन्ध स्वतः हो जाता है। यह बात भी नहीं कि मुख तथा कमल की आकृतियों में भेद है अतः इनका स्वतः सम्बन्ध नहीं हो सकता। उपर्युक्त वाक्य में मुख तथा कमल की स्थूल आकृतियों से प्रयोजन नहीं अपितु उनकी कल्पनाजन्य आकृतियों से प्रयोजन है और इन कल्पनाजन्य आकृतियों में ताद्रूप्य है। जिस सौन्दर्य को लक्ष्य करके मुख तथा कमल का ताद्रूप्य दिखाया गया है वह सौन्दर्य इनकी आकृतियों के रूप में ही है। अतः इनकी आकृतियों में असमानता बताकर दोनों का असम्बन्ध बताना उचित नहीं। जिस धर्म को लक्ष्य करके दो वस्तुओं का ताद्रूप्य बताया जाता है वह यदि उनकी आकृतियों से सम्बद्ध नहीं तब तो उन वस्तुओं के सीधे सम्बन्ध का बाधकर लक्षणा स्वीकार की जा सकती है अन्यथा नहीं।

"गौर्वाहीकः"[1] में जाड्य मान्द्य आदि धर्मों को लक्ष्य करके वाहीक को गौ कहा गया है। इन धर्मों का गौ की आकृति से कोई सम्बन्ध नहीं। जब गौ शब्द का उच्चारण किया जाता है तब नेत्रेन्द्रियगम्य रूप ही सर्वप्रथम हमारे सामने आता है। यह उसकी आकृति और उससे सम्बद्ध गुणों के रूप में होता है। इसका बाध हो जाने पर जाड्यमान्द्य आदि अन्य धर्म हमारी बुद्धि के विषय बनते हैं। अतः यहां लक्षणा स्वीकार की जा सकती है।

इस प्रकार रूपक में प्रायः अभेदसंसर्ग के द्वारा काम चल सकता है। परन्तु जिन गुणों को लक्ष्य करके वस्तुओं का तादात्म्य दिखाया जाता है वे यदि अर्थज्ञान के बाद सीधे उपस्थित न हों तो लक्षणा स्वीकार की जा सकती है।

रूपक एक सादृश्यमूलक अलंकार है। अतः यह आवश्यक है कि इसमें विद्यमान आरोप सादृश्य पर आश्रित हो। यदि आरोप सादृश्य पर आश्रित न होकर कार्यकारणभावादि पर आश्रित है तो हम इसे रूपक का उदाहरण नहीं कह सकते।

"नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता।"[2] यहां चन्द्र को

१. काव्यप्रकाश पृष्ठ ४८

आनन्द कहा गया है। चन्द्र यहां कारण है तथा आनन्द कार्य है। इस प्रकार आनन्द तथा चन्द्र में कार्यकारणसम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ताद्रूप्य-सम्बन्ध से भिन्न है। ताद्रूप्य-सम्बन्ध के लिए आवश्यक है कि इसके द्वारा परस्पर सम्बद्ध वस्तुओं में एक जैसे गुण हों। यहां ऐसी बात नहीं। यहां चन्द्र को आनन्द इसलिए नहीं कहा गया क्योंकि उनमें एक जैसे गुण विद्यमान हैं अपितु इसलिए कि चन्द्र आनन्द का जनक है। इसीलिए विद्वानों ने उपर्युक्त उदहरण में रूपक न मानकर हेत्वलंकार माना है। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

उपमा के समान रूपक मे भी कवि का उद्देश्य कभी कभी वस्तुओं का ताद्रूप्य न दिखाकर उनके सम्बन्धों का ताद्रूप्य दिखाना होता है। वस्तुओं का सम्बन्ध तीन प्रकार से होता है—अनुकूल रूप से, प्रतिकूल रूप से तथा असम्भव रूप से। जगन्नाथ ने प्रथम दो प्रकारों का निरूपण किया है।[2] असम्भव सम्बन्ध का जगन्नाथ ने उल्लेख नहीं किया है परन्तु उनके निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"त्वयि कोपो महीपाल सुधांशौ हव्यवाहनः।"

—रसगंगाधर पृ० ३१८

यहां राजा तथा कोप के असम्भव सम्बन्ध का ताद्रूप्य चन्द्र तथा अग्नि के असम्भव सम्बन्ध से दिखाया गया है।

उपमा के समान रूपक में भी साधारणधर्म का निर्देश अनुगामित्व बिम्बप्रतिबिम्बभावादि अनेक प्रकार से हो सकता है। साधारणधर्म के इन प्रकारों का रूपक में निरूपित ताद्रूप्य से कोई विरोध नहीं होता अपितु ये साधारणधर्म ही विस्तृत होकर वस्तुओं के ताद्रूप्य में परिणत हो जाते हैं। दो वस्तुओं के ताद्रूप्य का यह अर्थ नहीं कि उनके समस्त सम्भव गुण एक जैसे हों अपितु इसका अर्थ यह है कि जिस साधारणधर्म

---

१. "यत्तु 'सादृश्यप्रयुक्तः सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावाभिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्।..........' इति रत्नाकरेणोक्तम्, तन्न।"

—रसगंगाधर पृष्ठ २६८

२. "..........इत्यत्रारोप्यमाणयोः परस्परमारोपविषययोश्चानुकूल्ये रूपकयोरनुग्राह्यानुग्राहकभावो दर्शितः। प्रातिकूल्ये यथा.........।" —रसगंगाधर पृष्ठ १३५

को लक्ष्य करके दो वस्तुएं हमारी दृष्टि का विषय बनती हैं वह हमें उन वस्तुओं का स्वरूप प्रतीत हो और उसके आधार पर उन दोनों में ताद्रूप्य दिखाई दे। जहां साधारणधर्म का निर्देश नहीं होता वहां भी ताद्रूप्यप्रतीति प्रतीयमान साधारणधर्म को लक्ष्य करके होती है। 'मुखं कमलमस्ति' में साधारणधर्म सौन्दर्य व्यंग्य है। मुख तथा कमल में ताद्रूप्यप्रतीति इसी साधारणधर्म को लक्ष्य करके होती है। यह साधारणधर्म हमें मुख तथा कमल का रूप प्रतीत होता है। मुख का रूप यही सौन्दर्य होता है और कमल का रूप भी यही होता है। अतः दोनों में ताद्रूप्यप्रतीति स्वाभाविक है।

साधारणधर्म के अनिर्देश की अवस्था में भी जब ताद्रूप्यप्रतीति प्रतीयमान साधारणधर्म को लक्ष्य करके मानी जाती है तब उस साधारण-धर्म के निर्देश की अवस्था में उसके आधार पर ताद्रूप्यप्रतीति मानना सर्वथा उचित है।

"नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि" —रसगंगाधर पृ० ३२४

यहां निर्दिष्ट साधारणधर्म त्राण को लक्ष्य करके भेषज तथा भागीरथी का ताद्रूप्य दिखाया गया है।[1]

अनुगामी साधारणधर्म के समान बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारण-धर्म भी वस्तुओं की ताद्रूप्य-प्रतीति का कारण बन सकता है। बिम्बप्रति-बिम्बभाव की अवस्था में साधारणधर्म के उपमेय तथा उपमान में भिन्न स्वरूप होते हैं परन्तु इन भिन्न स्वरूपों में एक सामान्य तत्त्व होता है। यही सामान्य तत्त्व विस्तृत होकर उपमेय तथा उपमान के ताद्रूप्य का कारण बनता है। जिस प्रकार साधारणधर्म की अनुगामिता वस्तुओं के रूप में परिणत होकर उनकी ताद्रूप्यप्रतीति का कारण बनती है, उसी प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्म का यह सामान्यतत्त्व भी वस्तुओं की ताद्रूप्यप्रतीति का कारण बन सकता है।

"कुङ्कुमद्रवलिप्तांगः काषायवसनो यतिः।
कोमलातपबालाभ्रः सन्ध्याकालो न संशयः॥"

—रसगंगाधर पृ० २१८

---

१. "अत्र त्रातुमिति तुमुन्नन्तेन शब्देनोपात्तं जडान्धादित्राणं भेषजभागीरथ्योः।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ३२४

यहां यति पर सन्ध्याकाल का आरोप है। कुङ्कुमद्रव तथा काषायवसन एवं कोमलातप तथा बालाभ्र में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। साधारणधर्म का यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही उपर्युक्त आरोप का कारण है।

अप्पयदीक्षित रूपक में साधारणधर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं मानते। इसीलिए उन्होंने अपनी रूपक की परिभाषा में 'बिम्बाविशिष्टे' शब्द का सन्निवेश किया है।[1] जहां साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के साथ आरोप होता है वहां अप्पयदीक्षित रूपक न मानकर निदर्शना मानते हैं।

अप्पयदीक्षित का यह मत उचित नहीं। रूपक का स्वरूप ताद्रूप्य-प्रतीति है। यह ताद्रूप्यप्रतीति साधारणधर्म की अनुगामिता के कारण होती है अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कारण, होगी यह ताद्रूप्यप्रतीति ही। अतः केवल साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कारण हम इसे रूपक से भिन्न अलंकार के अन्तर्गत नही रख सकते। दूसरे जब उपमा मे साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर सादृश्य सम्भव है तब रूपक मे उसके आधार पर ताद्रूप्यप्रतीति कैसे सम्भव नहीं। यही कारण है कि जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के उपर्युक्त मत का खण्डन किया है।[2]

उपमा में साधारणधर्म के लिए जो नियम लागू होते हैं प्रायः वे ही रूपक में उन पर लागू होते हैं। अतः इनके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं।

आलंकारिकों ने उपमा के समान रूपक के भी संश्लिष्ट चित्रण तथा इस चित्रण के अभाव के आधार पर भेद किए हैं। ये भेद सांग, निरंग तथा परम्परित रूपक हैं। सांग रूपक में संश्लिष्ट चित्रण होता है। इसमें अवयवियों के आरोप के अतिरिक्त अवयवों का भी आरोप होता है।

---

१. "बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥" —चित्रमीमांसा पृष्ठ ५६

२. "यदपि रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ३०१

अवयवों का आरोप इसमें अवयवियों के आरोप का कारण नहीं होता परन्तु उसका पोषकमात्र होता है। अवयवियों का आरोप उनमें विद्यमान साधारणधर्म के आधार पर सम्भव है।[1] सावयवोपमा के समान इसके भी समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति ये दो भेद

निरंग रूपक में इस चित्रण का अभाव होता है। निरवयवोपमा के समान इसके शुद्ध तथा मालारूप दो भेद होते हैं।

परम्परित रूपक को भिन्न भेद मानने की आवश्यकता नहीं। परम्परित रूपक में एक आरोप को अन्य आरोप का कारण बताकर आलंकारिकों ने इसे पृथक् भेद सिद्ध करने का यत्न किया है। परन्तु जिस प्रकार एक सादृश्य अन्य सादृश्य का कारण नहीं हो सकता उसी प्रकार एक आरोप भी अन्य आरोप का कारण नहीं हो सकता। उपमा के प्रकरण में इसका विवेचन किया जा चुका है। निम्नलिखित उदाहरण से भी यह स्पष्ट है:—

"सद्वंशमुक्तामणि·" —काव्यप्रकश १०। ३८०

यहां वंश पर वेणु के आरोप को राजा पर मुक्तामणि के आरोप का कारण कहा गया है परन्तु यह उचित नहीं। यहां वंश पर वेणु का आरोप सम्भव नहीं और यदि सम्भव हो भी तो वह राजा पर मुक्तामणि के आरोप का कारण नहीं हो सकता। वस्तुतः यहां कवि का तात्पर्य राजा तथा मुक्तामणि में ताद्रूप्य दिखाने से नहीं अपितु वंश तथा राजा के सम्बन्ध एवं वेणु तथा मुक्तामणि के सम्बन्ध में ताद्रूप्य दिखाने से है। अतः परम्परित रूपक में सम्बन्धों का ताद्रूप्य होता है।

---

१. "सांगरूपके तु वर्णनीयस्यांगिनः रूपणं सुप्रसिद्धसाधर्म्यनिमित्तकमेव न तु तत्रांगरूपणमेव निमित्तं तस्य तद्विनाप्युपपत्तेः, तत्रांगरूपकं तु सुप्रसिद्ध-साधर्म्यनिमित्तकस्य अंगिरूपकस्य परिपोषकमात्रम्।"

—बालबोधिनी पृष्ठ ६००

रूपक का उपर्युक्त आधार पर विभाजन प्राचीन काल से आरम्भ हो गया था। शनैः शनैः इसका विकास होता गया। भामह ने समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति ये दो भेद रूपक के किए हैं।[1] दण्डी ने समस्तवस्तुविषय का नाम सकलरूपक[2] रखा है तथा अवयवरूपक एवं अवयविरूपक का उल्लेख किया है।[3] उद्भट ने समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति के अतिरिक्त एकदेशवृत्तिरूपक[4] का भी उल्लेख किया है। इसकी परिभाषा उन्होंने 'पररूपेण रूपणात्'[5] की है। अतः यह श्लिष्टपरम्परित रूपक से मिलता जुलता है। रुद्रट ने रूपक के सावयव, निरवयव तथा संकीर्ण भेद करके इनके अन्य उपभेद किए हैं।[6] मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने सांग, निरंग तथा परम्परित का भेदों सहित निरूपण किया है।

दण्डी ने समास के आधार पर रूपक के तीन भेद किए हैं। ये समस्त, व्यस्त तथा समस्तव्यस्त हैं।[7] रुद्रट ने समास तथा वाक्य के

---

१. "समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत्तच्चोच्यते यथा॥" —भामहालङ्कार २। २२

२. "ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम्।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम्॥ ६९
अङ्गुल्यादौ दलादित्वं पादे चारोप्य पद्मताम्।
तद्योग्यस्थानविन्यासादेतत् सकलरूपकम्॥ ७०
—काव्यादर्श २। ६९, ७०

३. देखिए काव्यादर्श पृष्ठ १६२, १६३

४,५. बन्धस्तस्य यतः श्रुत्या श्रुत्यर्थाभ्यां च तेन तत्।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च॥
समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते।
यद्वैकदेशवृत्ति स्यात् पररूपेण रूपणात्॥
—काव्यालंकारसारसंग्रह १। १२, १३

६. "सावयवं निरवयवं संकीर्णं चेति भिद्यते भूयः।
द्वयमपि पुनर्द्विधैतत्समस्तविषयैकदेशितया॥"—काव्यालंकार ८। ४१

७. इत्येतदसमस्ताख्यं समस्तं पूर्वरूपकम्।
स्मितं मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेति समस्तव्यस्तरूपकम्॥
—काव्यादर्श २। ६८

आधार पर रूपक के समासरूपक तथा वाक्यरूपक दो भेद किए हैं।[1] समास तथा वाक्य के आधार पर रूपक का यह विभाजन उचित नहीं। रूपक का स्वरूप ताद्रूप्य है। उसका विभाजन के इस आधार से कोई सम्बन्ध नहीं।

अप्पयदीक्षित ने ताद्रूप्य तथा अभेद के आधार पर रूपक के दो भेद करके पुनः अधिकता, न्यूनता तथा अनुभयपर्यवसायिता के आधार पर प्रत्येक के तीन भेद किए हैं।[2]

दीक्षित का यह विभाजन उचित नहीं। रूपक में अभेदप्रतीति नहीं होती है। न्यूनता तथा अधिकता भी रूपक में नहीं होतीं। अभेद के उदाहरण अतिशयोक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं तथा अधिकता के व्यतिरेक के अन्तर्गत।

दण्डी ने युक्त, अयुक्त, ललित, हेतु आदि रूपक के अनेक भेद किए हैं।[3] इस विभाजन का रूपक के तत्त्व ताद्रूप्य से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः इन्हें पृथक् भेद मानने की आवश्यकता नहीं।

---

१. उपसर्जनोपमेयं कृत्वा तु समासमेतयोरुभयोः।
यत्तु प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम्॥ —काव्यालङ्कार ८-४०

२. "ततश्च रूपकं तावद्द्विविधम्—अभेदरूपकं ताद्रूप्यरूपकं चेति। द्विविधमपि प्रत्येकं त्रिविधम्– प्रसिद्धविषय्याधिक्यवर्णनेन, तन्न्यूनतावर्णनेनानुभयोक्त्या चैवं रूपकं षड्विधम्।"

—कुवलयानन्द पृ० १६

३. स्मितपुष्पोज्ज्वलं लोलनेत्रभृंगमिदं मुखम्।
इति पुष्पद्विरेफाणां संगत्या युक्तरूपकम्॥ ७७
इदमार्द्रस्मितज्योत्स्नं स्निग्धनेत्रोत्पलंमुखम्।
इति ज्योत्स्नोत्पलयोगादयुक्तं नाम रूपकम्॥ ७८
रूपणादङ्गिनोऽङ्गानां रूपणारूपणाश्रयात्।
रूपकं विषमं नाम ललितं जायते यथा॥ ७९
गाम्भीर्यप्रमुखैरत्र हेतुभिः सागरो गिरिः।
कल्पद्रुमश्च क्रियते तदिदं हेतुरूपकम्॥ ८६

—काव्यादर्श द्वि० परि०

दण्डी ने उपमारूपक तथा रूपकरूपक ये रूपक के दो भेद और माने हैं। जयदेव ने रूपकरूपक के लिए रूपितरूपक[1] शब्द का प्रयोग किया है। उपमारूपक में आरोप तथा सादृश्य दोनों होते हैं।

यथा— "अयमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमाः।
संनद्धोदयरागस्य चन्द्रस्य प्रतिगर्जति ॥"
—काव्यादर्श २। ८९

रूपकरूपक में एक वस्तु पर एक साथ दो वस्तुओं का आरोप होता है।

यथा— "मुखपंकजरंगेऽस्मिन् भ्रूलतानर्तकी तव।
लीलानृत्तं करोतीति ॥" —काव्यादर्श २।९३

विश्वनाथ ने अधिकारूढवैशिष्ट्य रूपक का उल्लेख किया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"इदं वक्त्रं साक्षाद्विरहितकलंक: शशधर: ॥"—साहित्यदर्पण पृ० ५२७

यहां मुख का चन्द्रमा से उत्कर्ष दिखाया गया है। अतः यह उदाहरण रूपक का न होकर व्यतिरेक का है।

१. "अङ्गयष्टिधनुर्वल्लीत्यादि रूपितरूपकम्" —चन्द्रालोक ५–२१

परिणाम तथा उसका रूपक में अन्तर्भाव

कतिपय आलङ्कारिकों ने परिणाम को रूपक से पृथक् अलङ्कार माना है। इनमें रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि उल्लेखनीय हैं। रुय्यक ने परिणाम की परिभाषा इस प्रकार की है:—

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः" —सर्वस्व सू० १६

विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि की परिभाषाओं में इससे साधारण भेद है। इन्होंने विषयात्मतया अथवा इसके पर्यायवाची शब्द का सन्निवेश और किया है:—

"विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा।"

—साहित्यदर्पण १०। ३४

"परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना।"

—कुवलयानन्द ६। २१

"विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः।"

—रसगंगाधर पृ० ३२९

विद्याधर की परिभाषा इनसे विपरीत है:—

"यत्रारोपविषयः प्रकृतकार्यसिद्ध्यर्थमारोप्यमाणात्मतया परिणमति तत्र यथार्थाभिधानः परिणामः।" —एकावली

इन सब परिभाषाओं में एक तत्त्व सामान्य है और वह है प्रकृतार्थोपयोगित्व। यह प्रकृतार्थोपयोगित्व दो प्रकार से सम्भव है—आरोप्यमाण का आरोपविषय के रूप से अथवा आरोपविषय का आरोप्यमाण के रूप से। विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ प्रथम मत के समर्थक हैं तथा विद्याधर द्वितीय मत के। रुय्यक ने परिभाषा में तो इसका उल्लेख नहीं किया परन्तु उनकी व्याख्या में ये दोनों बातें मिलती हैं:—

"परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति।" —सर्वस्व पृ० ३८

दोनों बातों का उल्लेख होने के कारण रुय्यक की उपर्युक्त उक्ति में पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है।

इन तत्त्वों के आधार पर परिणाम की रूपक से तुलना करने पर प्रतीत होगा कि परिणाम रूपक से पृथक् नही। जहां तक प्रकृतोपयोगित्व का प्रश्न है यह परिणाम तथा रूपक मे समान रूप से विद्यमान है। रूपक में दो वस्तुओं का ताद्रूप्य होता है। इस ताद्रूप्य का प्रकृत अर्थ के लिए उपयोगी होना आवश्यक है। दो वस्तुओं का ताद्रूप्य इसीलिए दिखाया जाता है कि इसने प्रकृत अर्थ मे चमत्कार आए। यदि ताद्रूप्य से यह चमत्कार नहीं आना है तो वह ताद्रूप्य निरर्थक होगा और उसे अलंकार की श्रेणी मे ही नहीं रखा जाएगा।

रुय्यक तथा विश्वनाथ का मत है कि रूपक में आरोप्यमाण आरोप-विषय का केवल उपरञ्जक होता है परिणाम के समान प्रकृत अर्थ का उपयोगी नहीं होता:—

"रूपके 'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जकता-मात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः।" —साहित्यदर्पण पृ० ५२९

यह मत युक्तियुक्त नहीं। 'मुखचन्द्रं पश्यामि' में प्रकृत अर्थ दर्शन-क्रिया नहीं अपितु दर्शन का विषय है और इसमे ताद्रूप्य से चमत्कार अवश्य आता है।

स्वयं अप्पयदीक्षित जो परिणाम के समर्थक हैं रूपक में प्रकृतार्थोप-योगित्व स्वीकार करते हैं। उन्होंने रुय्यक के रूपक के उदाहरणों में प्रकृतार्थोपयोगित्व की ओर संकेत करके इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि प्रकृतार्थोपयोगित्व परिणाम का रूपक से विभेदक है।[1]

परिणाम का दूसरा तत्त्व है आरोप्यमाण का आरोपविषय में परिणत होना अथवा आरोविषय का आरोप्यमाण में परिणत होना। यह तत्त्व ताद्रूप्य से भिन्न नहीं। ताद्रूप्य दो वस्तुओं में होता है। हम

१. " 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति तल्लक्षणमुक्तम्। तत्र शङ्क्यते—

'यामि मनोवाक्कायैः शरणं करुणात्मकं जगन्नाथ।

जन्मजरामरणार्णवतरणतरण्यं तवाङ्घ्रियुगम्॥'

इति श्लोकेष्वारोप्यमाणानां तरण्यनयनप्रसूनानां तरणनिरीक्षणावतंसनरूप-प्रकृतकार्योपयोगे सत्यप्युक्तलक्षणालंकारसर्वस्वकारेणैव रूपकमंगीकृतम्।"

चित्रमीमांसा पृ० ६२—६३

प्रथम वस्तु का द्वितीय वस्तु से ताद्रूप्य कहें अथवा द्वितीय वस्तु का प्रथम से ताद्रूप्य कहें, ताद्रूप्य के स्वरूप में अन्तर नहीं आता। यह कहना उचित नहीं कि ताद्रूप्य में केवल उपमान का प्रकृत अर्थ से सीधा सम्बन्ध होता है, अतः जहां उपमान का यह सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता वहां उसकी उपमेय में परिणति मानकर परिणाम अलङ्कार मानना आवश्यक हो जाता है।

ताद्रूप्य में उपमेय तथा उपमान की सत्ता पृथक् बनी रहती है। अतः कवि उनमें से किसी एक का सीधा सम्बन्ध प्रकृत अर्थ से जोड़ने में स्वतन्त्र है। हां यह अवश्य है कि यदि वह उपमेय का सम्बन्ध प्रकृत अर्थ से जोड़ता है तो वह उपमान के ताद्रूप्य से युक्त उपमेय को लेकर ऐसा करता है और यदि वह उपमान का सीधा सम्बन्ध प्रकृत अर्थ से जोड़ता है तो वह उपमेय के ताद्रूप्य से युक्त उपमान को लेकर ऐसा करता है। यदि ताद्रूप्य में उपमेय का सम्बन्ध प्रकृत अर्थ से नहीं स्थापित किया जा सकता तो परिणाम अलङ्कार के आविष्कार से उस सम्बन्धनिर्वाह की व्याख्या किस प्रकार सम्भव है जहां उपमान का प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध नहीं बैठता। अप्पयदीक्षित ने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है:—

"प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा।"

प्रसन्नेनेति-अत्र हि अब्जस्य वीक्षणोपयोगित्वं निबध्यते न तु दृशः, मयूरव्यंसकादिसमासेनोत्तरपदार्थप्राधान्यात्...................। अब्जस्य वीक्षणोपयोगित्वं न स्वात्मना संभवति। अतस्तस्य प्रकृतदृगात्मना परिणत्यपेक्षणात् परिणामालंकारः।"

—कुवलयानन्द पृ० २०, २१

अप्पयदीक्षित का यह प्रयत्न सफल नहीं कहा जा सकता। अप्पय-दीक्षित 'दृगब्ज' में 'मयूरव्यंसकादि' समास के अनुसार अब्ज की प्रधानता मानते हैं और कहते हैं कि वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगित्व अब्ज का ही दिखाया गया है, परन्तु साथ में वे यह भी कहते हैं कि अब्ज वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगी नहीं हो सकता। यह परस्पर विरोध है। यदि अब्ज का वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगित्व दिखाया गया है तो उसे वैसा होना चाहिए और यदि ऐसा नहीं है तो इसका

यही अर्थ है कि अब्ज का वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगित्व नहीं दिखाया गया है। यह कहना कि अब्ज स्वतः वीक्षणक्रिया के प्रति उपयोगी न हो सकने के कारण दृक् के रूप में परिणत होकर वैसा हो जाएगा उचित नहीं। प्रथम तो अब्ज की दृक् मे परिणति मानना उचित नहीं। हमने पहले 'दृगब्ज' में मयूरव्यंसकादि समास के अनुसार दृक् की अब्ज में परिणति मानी है, तो क्या अब उलटे उस अब्ज की दृक् में परिणति मानकर हम इस पूर्व प्रक्रिया के विपरीत जाएं। दूसरे यदि यह परिणति मानें भी तो हमे कहना होगा कि अब्ज दृक् मे परिणत होकर वीक्षणक्रिया का उपयोगी हो गया। परन्तु क्या हमें ऐसी प्रतीति होती है? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। हम उपर्युक्त उदाहरण में वीक्षणक्रिया से दृक् का सम्बन्ध जोड़ते हैं कमल का सम्बन्ध नहीं जोड़ते। यह अवश्य है कि यह दृक् कमल के ताद्रूप्य को लिए हुए है और फलस्वरूप इससे वीक्षणक्रिया में चारुता आ जाती है। कमल का वीक्षण के साथ सम्बन्ध सम्भव न होने के कारण उसे नेत्र के रूप में परिणत करके वीक्षण के साथ उसका सम्बन्ध दिखाने के इस जटिल प्रयत्न से तो यही अच्छा है कि कमल के ताद्रूप्य से युक्त नेत्र का हम सीधे ही वीक्षणक्रिया से सम्बन्ध मान लें।

नेत्र के वीक्षणक्रिया के साथ सम्बन्ध का अप्पयदीक्षित परिहार कर सके हों ऐसी बात भी नहीं। उन्हें भी कमल का नेत्र में परिणाम मानना पड़ा। और जब कमल का नेत्ररूप में परिणाम हो गया तो उस नेत्र का वीक्षण क्रिया से स्वतः सम्बन्ध हो गया। अतः अप्पयदीक्षित जिसका परिहार चाहते थे वही बात घूम फिर कर उन्हें माननी पड़ी।

कतिपय आलंकारिकों ने उपर्युक्त श्लोक की अन्य प्रकार से व्याख्या की है। वे 'दृगब्ज' में मयूरव्यंसकादि समास न मानकर उपमित समास मानते हैं। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'[1]

---

१. पाणिनि— २।१।५६

के अनुसार वे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि उपमित समास में साधारण-धर्म का निर्देश न होना चाहिए। परन्तु इस साधारणधर्म से तात्पर्य जिस किसी साधारणधर्म से न होकर सादृश्य के निमित्तभूत साधारणधर्म से है। उपर्युक्त उदाहरण में दृक् तथा अब्ज के सादृश्य का निमित्त 'प्रसन्नत्व' न होकर रामणीयकत्व आदि है। अतः प्रसन्नेन शब्द का सन्निवेश 'दृगब्ज' के उपमित समास होने में बाधक नहीं। उपमित समास होने के कारण दृक् का सम्बन्ध वीक्षण से स्थापित किया जा सकता है।[1]

इस प्रकार ये विद्वान् भी वीक्षण का सम्बन्ध नेत्र से ही स्थापित करते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में हम कोई समास मानें इतना निश्चित है कि यहां वीक्षणक्रिया के साथ सम्बन्ध नेत्र का दिखाया गया है कमल का नहीं।

परिणाम के अन्य उदाहरणों में भी जहां उपमान का प्रकृत अर्थ से सीधा सम्बन्ध नहीं बैठता वहां उपमान की उपमेय के रूप में परिणति मानकर उसका प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा यह उचित होगा कि सीधे उपमेय का प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध मान लिया जाए। रूपक में उपमेय का प्रकृत अर्थ से सीधा सम्बन्ध निषिद्ध हो यह कोई नियम नही। रूपक के लिए केवल एक वस्तु आवश्यक है और वह है ताद्रूप्य। ताद्रूप्य उन दो वस्तुओं के पृथक् अस्तित्व को मानकर चलता है जिनमें ताद्रूप्य है। अतः ताद्रूप्य में इनमें से किसी एक का सम्बन्ध प्रकृत अर्थ के साथ स्थापित किया जा सकता है। उपमेय के प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध के निषेध की स्थिति तो तब आती है जब उपमेय का उपमान में सर्वथा विलय हो जाता है और फलतः ताद्रूप्य ताद्रूप्य न रहकर सर्वथा अभेद में परिणत

---

१. "तत्र न्यायपञ्चाननादयः—उपमैवेयं भवितुमर्हति। न च प्रसन्नत्वरूपधर्म-प्रयोगस्तद्बाधकः, तदतिरिक्तरमणीयत्वादिधर्मनिमित्तकसादृश्यस्य विवक्षितत्वात्। उपमानिमित्तधर्मप्रयोग एव उपमितसमासनिषेधस्य 'भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः इत्याद्यनुरोधेन स्वीकारादित्याहुः॥"

—अलंकारकौस्तुभ पृ० १६१

हो जाता है। रूपक में अनेक विद्वानों को प्रकृत अर्थ के साथ उपमान के समान उपमेय का भी सीधा सम्बन्ध स्वीकार है।[1]

१. "केचित्तु"..................एवं च परिणामद्वयात्मकमिदं रूपकमेव भवितुमर्हति। विषयतावच्छेदकविषयितावच्छेदकान्यतरपुरस्कारेण निश्चीयमानविषयिविषयान्यतरत्वस्य तल्लक्षणत्वात्..........' इति वदन्ति।"

—रसगंगाधर पृष्ठ २३४

उल्लेख

रुय्यक, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि ने उल्लेख का निरूपण किया है। इन आलंकारिकों की इस अलंकार की परिभाषाएं प्रायः समान हैं:—

"एकस्यापि निमित्तवशादनेकधाग्रहणमुल्लेखः" —सर्वस्व सू० १९

"क्वचिद्भेदाद्ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥"

—साहित्यदर्पण १० । ३७

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण उल्लेख अलंकार होता है। ग्रहण का अर्थ ज्ञान है। अतः एक वस्तु का अनेक प्रकार से ज्ञान ही इस अलंकार का स्वरूप है। एक वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान होने के दो कारण हैं—ग्रहीतृभेद तथा विषयभेद।

ग्रहीता वस्तु को अपने ज्ञान का विषय बनाता है। वस्तु के साथ उसके गुण अथवा धर्म अभिन्न रूप से जुड़े हुए रहते हैं और इन गुणों के रूप में ही वह वस्तु ग्रहीता के ज्ञान का विषय बनती है। ग्रहीता के लिए यह सम्भव नहीं कि वह वस्तु के समस्त सम्भव गुणों को अपने ज्ञान का विषय बना ले। अतः वह वस्तु के केवल उसी अथवा उन्हीं धर्मों को अपने ज्ञान का विषय बनाता है जो उसके चित्त पर सबसे अधिक प्रभाव डालते हैं। व्यक्तियों के चित्त की अवस्थाओं में भेद होता है। अतः ज्ञान का विषय बनने वाले गुणों में भेद स्वाभाविक है।[1]

'नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापगे—
त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसंघैरपि।
हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसङ्गैरियं

---

१. "यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधितः॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३४

तनोतु मम शं तनोः सपदि शन्तनोरङ्गना ॥'

—रसगंगाधर पृ० ३५९

यहां गंगा ज्ञान का विषय है। उसमें वरगतिप्रदान आदि अनेक गुण हैं। दर्शकों को अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार इनमें से किसी एक के रूप में गंगा के दर्शन होते हैं।[1]

अनेक प्रकार के ज्ञान का दूसरा कारण है विषयभेद, आश्रयभेद आदि। यहां विभिन्न वस्तुओं के सम्पर्क में आने के कारण प्रस्तुत वस्तु के विभिन्न गुणों का प्रस्फुटन होता है। प्रथम कारण में दर्शकों की चित्तवृत्तियों का भेद ज्ञान का विषय बनी हुई प्रस्तुत वस्तु के विभिन्न रूपों का कारण था। यहां ज्ञान का विषय बनी हुई वस्तुएं प्रस्तुत वस्तु की चित्तवृत्तियों के भेद का कारण हैं।

यथा —"दीनव्राते दयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किं च मृद्वी।
राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्तिः।"

—रसगंगाधर पृ० ३६२

यदि प्रस्तुत वस्तु अचेतन है तो हम उसमें चित्तवृत्तिभेद न कहकर केवल स्वरूपभेद कहेंगे।

कतिपय आलंकारिकों ने विषय का अर्थ प्रस्तुत वस्तु के अवयव अथवा धर्म भी लिया है। निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

"अकृशं कुचयोः कृशं वलग्ने विपुलं चक्षुषि विस्तृतं नितम्बे।"

—चित्रमीमांसा पृ० ८१

एक वस्तु में अनेक प्रकार के ज्ञान के इन दो कारणों के आधार पर उल्लेख के उपर्युक्त दो भेद माने गए हैं। इन भेदों के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इनके लिए सादृश्यमूलक होना अनिवार्य नहीं। इनके लिए केवल एक बात अनिवार्य है और वह है एक वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान। यह अनेक प्रकार का

---

१. "अत्र च लिप्सारुचिभ्यां निमित्ताभ्यामस्त्यनेकग्रहीतृकवरगतिप्रदानत्वाद्यनेकप्रकारकग्रहणसमुदायो गंगाविषयकरतिभावोपस्कारकः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ३५६

ज्ञान बिना सादृश्य के भी सम्भव है। जब दर्शकों की चित्तवृत्ति के भेद के अनुसार अथवा विषयभेद के अनुसार प्रस्तुत वस्तु में विभिन्न धर्मों के दर्शन होते हैं और ज्ञान की प्रक्रिया इन्हीं धर्मों के दर्शन तक सीमित रहती है तब यह ज्ञान सादृश्य के अन्तर्गत नहीं आता। उपर्युक्त उदाहरणों में यही बात है। इस प्रकार के ज्ञान से युक्त उल्लेख को अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ ने शुद्ध उल्लेख कहा है।[1]

उल्लेख में ज्ञान की प्रक्रिया सदा वस्तु के गुणदर्शन तक ही सीमित रहे ऐसी बात नहीं। वह प्रायः इससे आगे भी बढ़ती है और ज्ञान के विषय बने हुए गुणों से युक्त अन्य वस्तुओं के साथ प्रस्तुत वस्तु का सादृश्य, तादात्म्य आदि भी स्थापित करती है। ज्ञानप्रक्रिया का यह क्षेत्र सादृश्य के अन्तर्गत आता है। सादृश्य के जिस प्रकार ताद्रूप्य, अभेद आदि अनेक स्वरूप होते हैं उसी प्रकार यहां भी उसके ये रूप सम्भव हैं। सादृश्य के इन रूपों से मिलकर उल्लेख संकीर्ण अलंकार का रूप धारण करता है। इस अवस्था में उल्लेख में चमत्कार के दो हेतु होते हैं—एक तो स्वयं उल्लेख का स्वरूप और दूसरा सादृश्य का स्वरूप।

"स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्द्रुः कालः शत्रुभिरैक्षि सः।"

—चित्रमीमांसा पृ० ७८

यहां स्त्रियों, याचक आदि को अपनी चित्तवृत्ति के भेद के अनुसार प्रस्तुत राजा में विभिन्न गुण दिखाई देते हैं और इन गुणों के आधार पर वे काम आदि का राजा से अभेद स्थापित करते हैं। इस प्रकार यहां चमत्कार के दो हेतु हैं—एक वस्तु में दर्शकों की चित्तवृत्ति के भेद के अनुसार अनेक प्रकार का ज्ञान तथा अभेद-प्रतीति। प्रथम को लेकर उल्लेख बनता है तथा द्वितीय को लेकर अतिशयोक्ति। इस प्रकार यहां उल्लेख तथा अतिशयोक्ति का संकर है।

कतिपय आलंकारिक उपर्युक्त उदाहरण में चमत्कार के द्वितीय हेतु को अभेदप्रतीति न मानकर ताद्रूप्यप्रतीति मानते हैं। इस

---

१. 'शुद्ध एवात्रायमुल्लेखालंकारः, रूपकाद्यमिश्रणात्।'

—रसगंगाधर पृष्ठ ३५६

प्रकार उनके अनुसार यहां उल्लेख का अतिशयोक्ति के साथ संकर न होकर रूपक के साथ संकर है। उपर्युक्त उदाहरण से मिलते जुलते निम्नलिखित उदाहरण पर उनकी व्याख्याओं से यह स्पष्ट है:—

"यस्तपोवनमिति मुनिभिः, यमनगरमिति शत्रुभिः, वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः............अगृह्यत।"

"तत्र यदि यमनगरत्वादीनामुपरञ्जकतामात्रेणान्वयस्तदा रूपकसंकरः"

—चित्रमीमांसा पृ० ७९

"केचिदाहुः 'वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः...............' इह रूपकालंकारयोगः।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५३५

आलङ्कारिकों का यह मत समीचीन नहीं। ताद्रूप्यप्रतीति के लिए आवश्यक है कि दर्शक को ताद्रूप्य के द्वारा सम्बद्ध वस्तुओं का पृथक् अस्तित्व प्रतीत हो। यहां ऐसी बात नहीं। यहां शरणागतों को श्रीकण्ठ-जनपद की प्रतीति न होकर केवल वज्रपञ्जर की प्रतीति होती है। शरणागत श्रीकण्ठजनपद तथा वज्रपञ्जर की पृथक् अनुभूति करके उनमें ताद्रूप्य स्थापित करें ऐसी बात नहीं अपितु उन्हें केवल वज्रपञ्जर की ही अनुभूति होती है और उसी का चित्र उनके सम्मुख आता है। श्रीकण्ठ-जनपद की ओर शब्द के निर्देश से हम यह नही कह सकते कि शरणागतों को उसकी भी प्रतीति होती है। जनपद का निर्देश शरणागतों के लिए नहीं अपितु पाठक के लिए है जिससे उसे एक वस्तु में इन विभिन्न प्रतीतियों का द्योतन हो सके। उपर्युक्त उदाहरण में वज्रपञ्जर की प्रतीति का सीधा सम्बन्ध शरणागतों से है और उनकी इस प्रतीति का स्वरूप ही चमत्कार का कारण है। अतः उपर्युक्त उदाहरण में ताद्रूप्यप्रतीति की अपेक्षा अभेदप्रतीति मानना उचित है। इसी प्रकार 'स्त्रीभिः कामो.......' इस श्लोक में भी चमत्कार का कारण ताद्रूप्यप्रतीति न होकर अभेदप्रतीति ही है।

उल्लेख की इस संकर अवस्था को प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने स्वीकार किया है।[1] अप्पयदीक्षित भी इसे स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका

---

१. "संकरप्रतीतिस्त्वंगीकृतैव" —सर्वस्व पृष्ठ ४६

"द्विविधश्चायमुल्लेखः—शुद्धोऽलंकारान्तरसंकीर्णश्च"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ७८

जगन्नाथ आदि से थोड़ा सा मतभेद है और वह यह है कि ये अपह्नुति के साथ उल्लेख का संकर स्वीकार नहीं करते —

"यदि 'कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित्सौरभेणाम्बुजं परे ।

वक्त्रं तव वयं ब्रूमः तपसैक्यं गतं द्वयम् ॥'

इत्यपह्नवोदाहरणविशेषेऽतिव्याप्तिः शङ्क्या, तदानीमेकत्रोल्लेखनम् निषेधास्पृष्टत्वेन विशेषणीयम् ।" —चित्रमीमांसा पृ० ७८

दीक्षित का यह मत यथार्थ नहीं । जब उल्लेख का अन्य सादृश्यमूलक अलङ्कारों के साथ संकर हो सकता है तब अपह्नुति के साथ उसका संकर होने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए । इस मत की इस अयथार्थता के कारण ही जगन्नाथ ने इसकी आलोचना की है ।[1]

उल्लेख की इस संकर अवस्था के विषय में विचार करने पर प्रतीत होगा कि जहां तक सादृश्य तत्त्व का सम्बन्ध है उसका कोई निश्चित स्वरूप अलंकार के इस भेद के मूल में नहीं होता किन्तु इस तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों में से एक अथवा अधिक स्वरूप इसके मूल में हो सकते हैं । इस प्रकार उल्लेख की अवस्था में एक अथवा अधिक सादृश्यमूलक अलंकारों का चमत्कार होता है ।

प्रश्न उठता है कि यदि उल्लेख की संकर अवस्था में किसी अथवा किन्हीं सादृश्यमूलक अलंकारों का चमत्कार होता है तो उल्लेख के इस भेद को उन सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत ही क्यों न मान लिया जाए । उल्लेख के द्वारा उत्पन्न अनेक प्रकार का ज्ञान उस सादृश्यमूलक अलंकार के भेद के रूप में हो सकता है । इस प्रकार सादृश्यमूलक अलंकार से उल्लेख का संकर मानने की आवश्यकता नहीं ।

प्रश्न सर्वथा उचित है और इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए । केवल अनेक प्रकार के ज्ञान के आधार पर

---

१. 'द्विविधश्चायमुल्लेखः शुद्धोऽलंकारान्तरसंकीर्णश्च' इत्युक्त्वा "श्रीकण्ठजनपदवर्णने 'यस्तपोवनमिति मुनिभिरगृह्यत' इत्यादौ शुद्धः, 'यमनगरमिति शत्रुभिः, वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः' इत्यादौ भ्रान्तिरूपकादिसंकीर्णः" इति स्वयमेवोक्तत्वात् । इहाप्यपह्नुत्या संकीर्ण उल्लेख इत्यस्य सुवचत्वात् ।

—रसगंगाधर पृष्ठ ३६०

सादृश्यमूलक अलङ्कार से उल्लेख की पृथक्ता सिद्ध करना उचित नहीं। यह अनेक प्रकार का ज्ञान सादृश्यमूलक अलङ्कारों में न होता हो ऐसी बात नहीं। मालोपमा, मालारूपक आदि मे इस प्रकार के ज्ञान का सद्भाव होता है।

इसके उत्तर में उल्लेख के समर्थकों का कहना है कि मालारूपक आदि में अनेक प्रकार का ज्ञान तो होता है परन्तु वहां ग्रहीता अनेक नहीं होते। जगन्नाथ का यही मत है:—

" 'धर्मस्यात्मा भागधेयं क्षमायाः' इत्यादिमालारूपकेऽतिप्रसङ्गवारणायानेकैर्ग्रहीतृभिरित्यविवक्षितबहुत्वकं ग्रहणविशेषणम्।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३५८

जगन्नाथ का यह मत असमीचीन है। जब अनेक प्रकार का ज्ञान अलङ्कारभेद का प्रयोजक नहीं हो सकता तो अनेकग्रहीतृत्व को भी अलङ्कार-भेद का प्रयोजक नहीं मानना चाहिए।

अनेकग्रहीतृत्व भी सादृश्यमूलक अलङ्कारो में देखने को मिलता है। उल्लेख के समर्थक आलङ्कारिकों ने भी यह स्वीकार किया है—

" 'नृत्यत्त्वद्वाजिराजिप्रखरखुरपुटप्रोद्धतैर्धूलिजालै-
रालोकालोकभूमीधरमतुलनिरालोकभावं प्रयाते।
विश्रान्तिं कामयन्ते रजनिरिति धिया भूतले सर्वलोकाः
कोकाः क्रन्दन्ति शोकानलविकलतया किं च नन्दन्त्युलूकाः॥'

अत्र धूलिजालरूपस्यैकस्य वस्तुनोऽनेकैर्लोककोकोलूकैर्ग्रहीतृभिरेकेनैव रजनीत्वरूपेण प्रकारेण ग्रहणमिति तत्रातिप्रसङ्गवारणायानेकप्रकारमिति।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३५८

इससे स्पष्ट है कि जगन्नाथ न तो केवल अनेक प्रकार के ज्ञान को अलङ्कार-भेद का प्रयोजक मानते हैं और न केवल अनेकग्रहीतृत्व को, परन्तु इन दोनों का निर्दिष्ट सम्मिश्रण ही इनके अनुसार अलङ्कार-विभेद का प्रयोजक है।

अप्पयदीक्षित इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। वे इन दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त निमित्तभेद को भी विभेदक कारण मानते हैं। जगन्नाथ तो निमित्त

को वस्तुकथनमात्र मान लेते हैं।[1] अतः उसका अनेक प्रकार के ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है और उसे पृथक् तत्त्व मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु अप्पयदीक्षित निमित्तभेद को विभेदक तत्त्व मानते हैं।[2]

आलङ्कारिकों के उपर्युक्त मत उचित नहीं। उन्हें या तो उल्लेख में विद्यमान प्रत्येक तत्त्व को अलङ्कारभेद का प्रयोजक मानना चाहिए और यदि प्रत्येक तत्त्व को अलङ्कारभेद का प्रयोजक नहीं माना जाता है तो उन तत्त्वों के सम्मिश्रण को भी अलङ्कारभेद का प्रयोजक न मानना चाहिए। यह कैसे सम्भव है कि मालारूपक तथा भ्रान्ति में क्रमशः अनेक प्रकार का ज्ञान तथा अनेकग्रहीतृत्व तो अलङ्कार-विभेद के प्रयोजक नहीं परन्तु वे ही तत्त्व उल्लेख में मिलकर अलङ्कारभेद के प्रयोजक बन जाते हैं।

संकीर्ण उल्लेख के प्रथम भेद में इन तत्त्वों के सम्मिश्रण के कारण मालारूपक आदि अलङ्कारों से आंशिक भेद तो है, इसके द्वितीय भेद में तो यह बात भी नहीं। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः।"—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३५

विश्वनाथ के अनुसार यहां गाम्भीर्य आदि का विषयभेद एक व्यक्ति के अनेक रूपों में ग्रहण करने का प्रयोजक है।[3] अतः यह उल्लेख अलङ्कार है।

---

१. "तेन द्वयोर्बहूनां वा ग्रहणं निमित्तवशादिति तु वस्तुकथनमात्रम्।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ३५८

२. " 'कीर्तौ विस्फूर्तिमत्यां ते मृणालक्षीरशंकिनः।
द्वयेऽपि नागास्तन्वन्ति जिह्वान्तोल्लेखनं मुहुः॥'

इति भ्रान्तिमदुदाहरणे एकस्या एव कीर्तेरनेकेन कुञ्जरभुजङ्गरूपेण ग्रहीत्रा मृणालक्षीररूपत्वाद्यनेकप्रकारेणोल्लेखनमस्तीति तत्रातिव्याप्तिनिरासाय निमित्तभेदादित्युक्तम्। तत्र कीर्तिगतं धावल्यमेकमुल्लेखद्वयेऽपि निमित्तम्। यद्यपि गजभुजङ्गानां स्वस्वप्रियाहारलोभरूपनिमित्तभेदोऽप्यस्ति, तथापि निमित्तभेदादित्यनेनैकनिमित्तविरहो विवक्षित इति तद्व्यावृत्तिः।"
—चित्रमीमांसा पृष्ठ ७८

३. "इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः।"
—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३५

विश्वनाथ का यह मत युक्तिसङ्गत नहीं। यहाँ गाम्भीर्य आदि साधारण-धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इन साधारणधर्मों के आधार पर यहां एक व्यक्ति का समुद्र आदि से तादूरूप्य दिखाया गया है। अतः उपर्युक्त श्लोक मालारूपक का उदाहरण है।

अतः उचित होगा कि संकीर्ण उल्लेख को पृथक् अलङ्कार न मानकर सादृश्यमूलक अलङ्कारों का भेद ही मान लिया जाए।

अपह्नुति

रूपक में उपमेय तथा उपमान की प्रतीति समान रूप से होती है। जिस साधारणधर्म को लक्ष्य करके उपमेय तथा उपमान कवि की दृष्टि के विषय बनते हैं वह उसे उनमें समान रूप से प्रतीत होता है। अतः वह उस साधारणधर्म को उन वस्तुओं का स्वरूप मानकर उनमें तादृूप्य स्थापित करता है। अपह्नुति में कवि को उपमेय में साधारणधर्म के जिस स्वरूप की प्रतीति होती है वह उसे सामान्यतः उपमेय में सम्भव नही दिखाई देता। अतः उस साधारणधर्म को उसकी आश्रयभूत वस्तु के रूप में देखते हुए उसे कहना पड़ता है कि यह अमुक वस्तु नहीं अपितु अन्य वस्तु है। यदि मुख उसका वर्ण्य विषय है तो वह कहेगा—'चन्द्रोऽयम् न मुखम्'। कवि को इस दशा में मुख की प्रतीति न होती हो ऐसी बात नहीं किन्तु केवल इतना होता है कि जिस सौन्दर्य को लक्ष्य करके कवि मुख को अपना विषय बनाता है वह सौन्दर्य उसे मुख-सामान्य में सम्भव नहीं दिखाई देता। इस प्रकार कवि को मुख में मुखत्व की तो प्रतीति होती है परन्तु सौन्दर्य की दृष्टि से उसे प्रतीति केवल चन्द्र की होती है।

उपमेय में साधारणधर्म के सम्भव प्रतीत न होने के दो कारण होते हैं—साधारणधर्म का उत्कर्ष अथवा भौतिक दृष्टि से साधारणधर्म का उपमेय में सम्भव न होना। 'चन्द्रोऽयं न मुखम्' में साधारणधर्म सौन्दर्य का उत्कर्ष है। इस दशा में मुख—सामान्य में सौन्दर्य की सत्ता अवश्य होती है, परन्तु प्रस्तुत सौन्दर्य इतना उत्कृष्ट है कि मुख-सामान्य में उसकी सत्ता सम्भव नहीं।

द्वितीय कारण की अवस्था में उपमेय में परिस्थितिविशेष के कारण ऐसा धर्म आ जाता है जो भौतिक दृष्टि से उसमें सम्भव नहीं।

"नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्कः, सिन्धोरौर्वोऽयमुत्थितः।"

—कुवलयानन्द ११।२७

यहां तीव्रता धर्म के कारण चन्द्रमा का निषेध किया गया है। चन्द्रमा में भौतिक दृष्टि से शीतलता होती है। अतः शीतलता के विपरीत दाहकता उसमें सम्भव नहीं। परन्तु यहां विरहावस्था

के कारण चन्द्रमा में तीव्रता अथवा दाहकता प्रतीत होती है। इस द्वितीय कारण वाली अपह्नुति को अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने हेत्वपह्नुति कहा है:—

"स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुतिः"

—कुवलयानन्द ११। २७

हेत्वपह्नुति में जिस साधारणधर्म की उपमेय में प्रतीति होती है उसका प्रायः उपमेय में वस्तुतः सद्भाव नहीं होता किन्तु उसकी वहां केवल प्रतीति होती है। यह प्रतीति दर्शक की चित्तवृत्ति तथा उस चित्तवृत्ति पर पड़ने वाले उपमेय के प्रभाव पर निर्भर करती है। उपर्युक्त उदाहरण में दर्शक का चित्त विरह से व्याकुल है। अतः चन्द्रमा का दर्शन दर्शक की प्रिय वस्तुओं के स्मरण को उद्दीप्त करके उसकी इस व्याकुलता में वृद्धि करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों के समान अपह्नुति के मूल में भी सादृश्य स्थित है। अपह्नुति मे एक वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु की जो स्थापना की जाती है वह उन दोनों वस्तुओं के सादृश्य को लेकर होती है। इसी बात को लक्ष्य करके अनेक आलङ्कारिकों ने अपनी परिभाषाओं में सादृश्य, तादूप्य अथवा इनके पर्यायवाची शब्दों का सन्निवेश किया है:—

'अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा।
भूतर्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा॥' —भामहालंकार ३। २१

'प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।
साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा॥' —चित्रमीमांसा पृ० ८२

"उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुतिः।" —रसगंगाधर पृ० ३६६

अन्य आलङ्कारिक भी जिन्होंने अपनी परिभाषाओं में इस प्रकार के शब्दों का सन्निवेश नहीं किया है प्रायः इस बात को मानकर चलते हैं कि अपहनुति के मूल में सादृश्य होता है। परन्तु दण्डी का मत इन सबसे भिन्न है। इसके अनुसार अपह्नुति के लिए सादृश्यमूलकता आवश्यक नहीं—

"अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम् ।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्त्रिणामिति ॥" —काव्यादर्श २ । ३०४

भोज ने भी 'औपम्यवती अनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते'[1] कहकर दण्डी का अनुसरण किया है। विश्वनाथ भी अपनी अपह्नुति के द्वितीय भेद में सादृश्यमूलकता नहीं मानते।[2]

दण्डी आदि का यह मत युक्तिसंगत नहीं। प्रथम तो बिना किसी सादृश्य के आधार के केवल एक वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु की स्थापना चमत्कार की जनक नहीं होती और यदि इसमें थोड़ा बहुत चत्मकार होता भी है तो इसे उन सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत रखना उचित नहीं जिनमें चमत्कार का प्रधान कारण सादृश्य का कोई स्वरूप होता है।

कतिपय आलङ्कारिकों के अनुसार अपह्नुति के लिए सादृश्यमूलकता तो आवश्यक है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि निषेध केवल प्रस्तुत का हो। इनके अनुसार उपमेय तथा उपमान में से किसी का भी निषेध हो सकता है। इस सिद्धान्त का अनुसरण करके ये 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' में अपह्नुति अलंकार मानते हैं।[3] अप्पयदीक्षित इसी मत का अनुसरण करके पर्यस्तापह्नुति की सत्ता स्वीकार करते हैं।[4]

---

१. 'अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम् ।
औपम्यवत्यनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते ॥'—सरस्वतीकण्ठाभरण ४ । ४१

२. 'गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्नुतिः ।'—सहित्यदर्पण १०–३८

३. "अत्र 'उपमेयम्' इत्याद्युपलक्षणम् किंचिदपह्नुत्य कस्यचित्प्रदर्शनमपह्नुतिरित्येव लक्षणम् ।……………एवं च 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यादावुपमाननिषेधेऽपि अपह्नुतिरेव ।……………एतेन 'नायं सुधांशुः' इत्यादौ 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते' इत्यादौ च नापह्नुतिः किं तु दृढारोपरूपकमित्यपास्तम् ।" —बालबोधिनी पृ० ६०७

४. "यत्र क्वचिद्वस्तुनि तदीयधर्मनिह्नवः, अन्यत्र वर्णनीये वस्तुनि तस्य धर्मस्यारोपार्थः सा पर्यस्तापह्नुतिः । यथा—चन्द्रे चन्द्रत्वनिह्नवो वर्णनीये मुखे तदारोपार्थः ॥ —कुवलयानन्द पृ० २७, २८

आलंकारिकों का उपर्युक्त मत उचित नहीं। यदि अपह्नुति में उपमेय के समान उपमान का निषेध स्वीकार कर लिया जाए तो भी उपर्युक्त उदाहरण अपह्नुति के अन्तर्गत नहीं आता। अपह्नुति के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—किसी वस्तु का निषेध तथा उसके स्थान पर अन्य वस्तु का आरोप। उपर्युक्त उदाहरण में इन दोनों में से कोई तत्त्व विद्यमान नहीं। वाक्य के प्रथम अंश में 'न' का जो प्रयोग किया गया है उसका सम्बन्ध सुधांशु से नहीं अपितु 'अयम्' से है। यदि 'न' का सम्बन्ध सुधांशु से हो तो वाक्य के उत्तर भाग में सुधांशु की स्थापना असंगत हो जाएगी। वस्तुतः यहां निषेध सुधांशु का न होकर उसके अधिकरण का है। यहां केवल इतना कहा गया है कि सुधांशु यह नहीं अपितु वह है। यह बात नहीं कही गई कि यह सुधांशु नहीं अपितु अन्य वस्तु है। इस प्रकार यहां प्रेयसीमुख का सुधांशु से केवल ताद्रूप्य दिखाया गया है। वाक्य के पूर्वार्ध मे प्रयुक्त 'न' से इस ताद्रूप्य में बल आ जाता है और इसका अर्थ निकलता है कि प्रेयसी का मुख ही सुधांशु है। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में दृढारोपरूपक मानना ही उचित होगा। जगन्नाथ ने इसी मत का समर्थन किया है[1]—

अप्पयदीक्षित ने अपनुहृति के भ्रान्तापह्नुति तथा छेकापह्नुति दो भेद और माने हैं। उनकी भ्रान्तापह्नुति की परिभाषा तथा उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

'भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शंकायां भ्रान्तिवारणे।
तापं करोति सोत्कम्पं ज्वरः किं न सखि स्मरः॥'

—कुवलयानन्द ११। २९

अपह्नुति की सामान्य परिभाषा पर विचार करने से प्रतीत होगा कि उपर्युक्त उदाहरण में अपह्नुति मानना उचित नहीं। अपह्नुति में एक वस्तु का निषेध करके अन्य का उस पर आरोप होता है। उपर्युक्त उदाहरण में यह

---

१. "तस्मात् 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यत्र दृढारोपं रूपकमेव भवितुमर्हति, नापह्नुतिः। उपमेयतोपमानावच्छेदकयोः सामानाधिकरण्यस्य निष्प्रत्यूहं भानात्। तदुक्तं विमर्शिन्याम्—"'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते' अत्र विषस्य निषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषये आरोप्यमाणत्वात् दृढारोपं रूपकमेव, नापह्नुतिः" इति।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ३६६

बात नहीं। यहां न तो ताप का निषेध किया गया है और न ही उसके कारण का अपितु केवल यह कहा गया है कि ताप का कारण ज्वर न होकर स्मर है। यदि यह कहा जाता है कि यहां ज्वर की तापकारिता का निषेध करके उस पर स्मर की तापकारिता का आरोप किया गया है तो भी उचित नहीं। यह तो तब सम्भव है जब तापकारिता वस्तुतः ज्वर की हो परन्तु उसका उत्कर्ष दिखाने के लिए उसका निषेध करके अन्य वस्तु की तापकारिता का उस पर आरोप किया जाए। यहां तापकारिता का कारण ज्वर है ही नहीं, अतः ज्वर की तापकारिता पर अन्य वस्तु की तापकारिता का आरोप सम्भव नहीं। वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरण में सखी की भ्रान्ति ही चमत्कार का कारण है।

छेकापह्नुति की अप्पयदीक्षित की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हैं:—

"छेकापह्नुतिरन्यस्य शंकातस्तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन्मत्पदे लग्नः कान्तः किं? न हि नूपुरः॥"

—कुवलयानन्द ११। ३०

यहां भी अपह्नुति के तत्त्व विद्यमान नहीं। अपह्नुति में जब यह कहा जाता है कि यह मुख नहीं अपितु चन्द्रमा है तब वक्ता का यह तात्पर्य नहीं होता कि श्रोता इसे मुख न समझकर चन्द्रमा समझने लगे, परन्तु उपर्युक्त उदाहरण में नायिका का इन शब्दों के प्रयोग द्वारा यही उद्देश्य है कि सुनने वाली स्त्री को वस्तुतः भ्रान्ति हो जाए। उपर्युक्त उदाहरण में वस्तुतः व्याजोक्ति की परिभाषा 'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्'[1] पूर्णतः चरितार्थ होती है। अतः इसे व्याजोक्ति के अन्तर्गत रखना उचित होगा। अपनी चित्रमीमांसा में अप्पयदीक्षित ने यह बात स्वयं उद्धृत की है।[2]

१. काव्यप्रकाश सू० १८४

२. "ये तु उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिरिति व्याजोक्त्यलंकारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादयः।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ८५

आलंकारिकों ने अपह्नुति का अनेक प्रकार से विभाजन किया है। इस विभाजन के आधार निम्नलिखित तत्त्व हैं:—

आरोप एवं अपह्नव में से किसी एक का पहिले आना अथवा दोनों का साथ आना; वाक्यभेद अथवा वाक्याभेद; अपह्नवसूचक शब्दों का स्वरूप।

प्रथम आधार के अनुसार रुय्यक ने अपह्नुति के तीन प्रकार बताए हैं– अपह्नव आरोप से पूर्व होगा अथवा आरोप के बाद में होगा अथवा दोनों एक साथ होगे। दोनों के एक साथ होने की दशा मे छलादि शब्दों का प्रयोग होगा।[1]

अप्पयदीक्षित ने छलादि के प्रयोग द्वारा उत्पन्न अपह्नुति को कैतवापह्नुति कहा है।[2]

अपह्नवपूर्वक आरोप तथा आरोपपूर्वक अपह्नव में वाक्यभेद होता है तथा छलादि के प्रयोग वाली अपह्नुति में एक वाक्य होता है।[3]

अपह्नवसूचक शब्द तीन प्रकार के माने गए हैं—अपह्नव के साक्षात् निर्देशक न आदि, कपटार्थक छलादि, परिणामार्थक वपुः आदि।[4]

इन आधारों पर अपह्नुति के विभाजन में कोई चमत्कार नहीं होता

---

१. "तस्य च त्रयी बन्धच्छाया:–अपह्नवपूर्वक आरोपः, आरोपपूर्वकोऽपह्नवः, छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देशः।" — सर्वस्व पृष्ठ ४६

२. "कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः।
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात्॥" —कुवलयानन्द ११।३१

३. "पूर्वभेदद्वये वाक्यभेदः। तृतीयभेदे त्वेकवाक्यत्वम्।"—सर्वस्व पृष्ठ ४६

४. "अपह्नुतिश्च द्विविधा शाब्दी चार्थी चेति। शाब्दीत्यस्य शब्देन यत्रासत्यत्वमाह सेत्यर्थः। आर्थीत्यस्य आक्षेपलभ्येत्यर्थः। आर्थी तु बहुभिर्भङ्गीभिर्निबध्यते। तथा हि क्वचित्कपटार्थकशब्दोपादानात् क्वचित्परिणामार्थकशब्दोपादानात् क्वचिच्चान्यथेति।" —बालबोधिनी पृष्ठ ६०७

और न ही इन भेदों का सादृश्य से कोई सम्बन्ध है। अतः इन आधारों पर अपह्नुति का विभाजन उचित नहीं। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने उपमा तथा रूपक के समान अपह्नुति के निरवयवा, सावयवा आदि भेद भी किए हैं।[2]

१. "एवमनेके प्रकाराः सम्भवन्ति। परं तु न ते वैचित्र्यविशेषमावहन्तीत्यगणनीयाः।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ३६७

२. "इयं चानुग्राह्यानुग्राहकभावापन्नावयवकसंघातात्मकतया सावयवा। निरवयवेयं यथा.........।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ३६६

निश्चयालंकार का भ्रान्तिमान् में अन्तर्भाव

विश्वनाथ ने 'अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना' के आधार पर निश्चय नामक एक भिन्न अलङ्कार माना है:—

" 'अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ।'

यथा—

वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते ।

इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुदा किं परिभ्रमसि ॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३८

इस श्लोक में चमत्कार के हेतु पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहां भ्रमर को मुख आदि में कमल आदि की भ्रान्ति ही चमत्कार का कारण है। अतः इसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार का उदाहरण कहना उचित होगा। यह तो विश्वनाथ भी मानते हैं कि यहां भ्रमर को मुख आदि में कमल आदि की भ्रान्ति हुई है, परन्तु फिर भी वे इसे भ्रान्तिमान् का उदाहरण नहीं मानते। वे लिखते हैं:—

'अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्तिः। न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम्। अपितु तथाविधनायकाद्युक्तेरेवेति सहृदयसंवेद्यम्। किं चाविवक्षितेऽपि भ्रमरादेः पतनादौ भ्रान्तौ वा नायिकाचाटूवादिरूपेणैव सम्भवति तथाविधोक्तिः।'

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३८

इससे स्पष्ट है कि विश्वनाथ 'तथाविध उक्ति' को चमत्कार का कारण मानते हैं और नायिका की चाटुकारिता को इस उक्ति का स्वरूप मानते हैं। विश्वनाथ की इस बात से हमारा विरोध नहीं, परन्तु इससे इस अलङ्कार की भ्रान्तिमान् से पृथक्ता सिद्ध हो जाए ऐसी बात नहीं। प्रश्न उठता है कि इस चाटुकारितायुक्त उक्ति का क्या स्वरूप है। इसका उत्तर यही होगा कि यह उक्ति मुख में भ्रमरों की भ्रान्ति बताने के रूप में है। नायक चाहे यह कहे कि हे भ्रमर ! यह कमल नहीं अपितु मुख है अथवा यह कहे कि भ्रमर को मुख में कमल की भ्रान्ति हो रही है, मुख के सौन्दर्यवर्णन की

दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं। यह कहना भी उचित नहीं कि यहां भ्रमर की भ्रान्ति विवक्षित नहीं अतः यह भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं। भ्रमर आदि की भ्रान्ति विवक्षित हो अथवा न हो पाठक को नायिका के सौन्दर्य का ज्ञान भ्रमर की इसी भ्रान्ति के वर्णन से होता है।

उत्प्रेक्षा

उपमादि में सादृश्य के आधार पर जिन वस्तुओं को समीप लाया जाता है उनके अधिकरण की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इन पृथक् अधिकरणों में विद्यमान रहते हुए ही ये वस्तुएं गुणसाम्य के आधार पर समीप लाई जाती हैं। उत्प्रेक्षा में इसके विपरीत केवल एक अधिकरण की प्रतीति होती है। इस एक अधिकरण में एक प्रतीति अन्य प्रतीति का स्थान ले रही प्रतीत होती है। यदि मुख कवि का प्रतिपाद्य विषय है तो उसके अधिकरण में कमल की प्रतीति मुख की प्रतीति का स्थान ले रही होती है। इस प्रकार कमल के द्वारा मुख का निगरण हो रहा होता है। यही मुख की कमल में सम्भावना है।

"बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ३५

यहां पलाशों की सम्भावना वसन्तकृत वनस्थली के नखक्षतों में की गई है। इस सम्भावना में नखक्षतों के अस्तित्व की पृथक् प्रतीति हो और तब सादृश्य के आधार पर पलाशों की इनमें सम्भावना प्रतीत हो ऐसी बात नहीं, परन्तु नखक्षतों का अस्तित्व पलाशों के रूप में ही प्रतीत होता है। ये पलाश ही नखक्षतों का रूप धारण कर रहे प्रतीत होते हैं। पलाशों का अस्तित्व एक प्रकार से विलीन होकर नखक्षतों का रूप धारण कर रहा होता है।

नखक्षतों की प्रतीति अन्यत्र कहीं न होकर सीधे पलाशों के अधिकरण में ही क्यों होती है, इसका कारण है वसन्तादि शब्दों का नखक्षतों के साथ विशेषण के रूप में जुड़ना। इन विशेषणों के कारण निर्दिष्ट नखक्षत इसी रूप में सम्भव हैं। यदि इन विशेषणों का प्रयोग न होता तो नखक्षतों की प्रतीति पृथक् रूप से भी सम्भव थी और इन पृथक् प्रतीत होने वाले नखक्षतों के साथ पलाशों का सादृश्य होता, परन्तु यहां ऐसी बात नहीं।[1]

---

१. "उपमाया यत्र क्वचित्स्थितैरपि नखक्षतैः सह वक्तुं शक्यतया वसन्तनायकसमागतवनस्थलीसम्बन्धित्वस्य विशेषणस्यानपेक्षितत्वादिह तदुपादानं पलाशकुसुमानां नखक्षततादात्म्यसम्भावनायामिवशब्दमवस्थापयति।"— कुवलयानन्द पृष्ठ ३६.३७

कतिपय आलंकारिकों के अनुसार उत्प्रेक्षा के लिए इतना पर्याप्त है कि उसमे उपमान कविकल्पित हो। विश्वेश्वर, चक्रवर्ती आदि का यही मत है।[1] यह मत समीचीन नहीं। उत्प्रेक्षा का आवश्यक अंग सम्भावना है। अतः उपमान के कविकल्पित होते हुए भी यदि उपमेय की उसमें सम्भावना नहीं होती है तो वह उत्प्रेक्षा का उदाहरण नहीं हो सकता।

"स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शंशांकबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः।" —रसगंगाधर पृ० २०६

यहां शशांकबिम्ब से मेरु पर लटकता हुआ सर्प कविकल्पित अवश्य है परन्तु इसकी कल्पना 'अलक' के अधिकरण में न होकर पृथक् रूप से होती है। यहां कपोल से स्तन पर गिरता हुआ अलक इस प्रकार के सर्प का रूप धारण करता हुआ प्रतीत हो ऐसी बात नहीं। अतः यह उत्प्रेक्षा का उदाहरण नहीं।

उत्प्रेक्षा में एक ही अधिकरण में जिस उपमेय तथा उपमान की प्रतीति होती है उनमें उपमान की प्रतीति उत्कट होती है। उत्प्रेक्षा के शब्दार्थ से भी यह स्पष्ट है। उत्प्रेक्षा का अर्थ 'उत्कटा प्रकृष्टस्योपमानस्येक्षा है'[2]। निम्नलिखित उक्ति भी उत्प्रेक्षा में उपमान की उत्कटता सिद्ध करती है:—

"सम्भावनं चोत्कटकोटिकः सन्देहः।.........यस्मिन् संशये कोटिद्वय-मध्ये एकस्याः कोटेः उत्कटत्वं (निश्चितप्रायत्वम्) स एव संशयः सम्भावन-मित्युच्यते।" —बालबोधिनी पृ० ५८४

यहां सम्भावना में एक कोटि की उत्कटता कहना तो ठीक ही है, परन्तु सम्भावना को सन्देह का प्रकार कहना उचित नहीं। सन्देह अयथार्थ

---

१. "यत्र तूपमानतावच्छेदकविशिष्टमुपमानमप्रसिद्धम्, तत्रोत्प्रेक्षैव। तदुक्तं चक्रवर्तिना"—

'यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति।
तदोपमैव येनेवशब्दः सादृश्यवाचकः॥
यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः।
तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः संभावनापरः॥'

२. बालबोधिनी पृ० ५८४

ज्ञान के अन्तर्गत आता है तथा सम्भावना यथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत आती है। सम्भावना में उपमान की उत्कट प्रतीति सदा आहार्य होती है। उस प्रतीति से सम्बद्ध व्यक्ति उसके अनुसार आचरण नहीं करता। सन्देह में उपमान की प्रतीति अनाहार्य भी हो सकती है। अतः सन्देह तथा सम्भावना मे अन्तर है।

रुय्यक ने उपमेय की उपमान में इस सम्भावना को अध्यवसाय की साध्यावस्था कहा है। इस अवस्था में उपमेय उपमान में पूर्णतः परिणत नहीं होता परन्तु परिणत हो रहा होता है। इस प्रकार यहां उपमेय के उपमान में परिणत होने की प्रक्रिया चल रही होती है। इस बात को लक्ष्य करके रुय्यक ने अपनी उत्प्रेक्षा की परिभाषा मे 'व्यापारप्राधान्य' शब्द का सन्निवेश किया है:—

"अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा।" —सर्वस्व सू० २१

अध्यवसाय के लिए यह आवश्यक नहीं कि उपमेय का पूर्ण निगरण हो जाए और उसकी सर्वथा प्रतीति न हो। ऐसा तो केवल अध्यवसाय की सिद्धावस्था में होता है। साध्यावस्था में ऐसी बात नहीं। साध्यावस्था में उपमेय निगीर्यमाण होता है। अतः उसकी प्रतीति सम्भव है। यही कारण है कि उत्प्रेक्षा मे विषयोपादान का निषेध नही।

जगन्नाथ ने रुय्यक के इस मत की आलोचना की है:—

"किं च 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यादौ कुत्राध्यवसायः, विषयस्य जागरूकत्वात्। न च सिद्धेऽध्यवसाये विषयस्य जठरवर्तित्वम्, साध्ये तु निगीर्यमाणत्वात्पृथगुपलब्धिरिति वाच्यम्, साध्याध्यवसाने मानाभावात्। अन्यथा रूपकादेरप्यध्यवसानगर्भत्वापत्तेः।" —रसगंगाधर पृ० ४००

जगन्नाथ का यह मत उचित नहीं। उत्प्रेक्षा में विषय के निर्देशमात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि वहां अध्यवसाय की प्रक्रिया नहीं। विषयोपादान की अवस्था में भी अध्यवसाय सम्भव है। आवश्यकता केवल इतने की है कि विषय का अधःकरण होना चाहिए।[1]

---

१. "विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते॥" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४८

जगन्नाथ का यह कथन कि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय मानने से रूपक में भी अध्यवसाय मानना पड़ेगा उचित नहीं। रूपक में दो वस्तुओं के अस्तित्व की पृथक् प्रतीति होती है और तब उनमें गुणों के आधार पर ताद्रूप्य स्थापित किया जाता है। मुख को जब कमल कहा जाता है तो पृथक् रूप से प्रतीत कमल से मुख के ताद्रूप्य के आधार पर ऐसा कहा जाता है। यह नहीं कि मुख निगीर्ण होकर कमल का रूप धारण करे। यदि रूपक में अध्यवसाय माना जाता है तो प्रतीति केवल कमल की होनी चाहिए। रूपक में मुख को स्पष्टतः कमल कहा जाता है। अतः यदि यहां निगरणप्रक्रिया हो तो मुख की सत्ता कमल में विलीन हो जानी चाहिए और मुख की प्रतीति न होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। उत्प्रेक्षा में उपमेय की उपमान मे केवल सम्भावना की जाती है, अतः निगरण-प्रक्रिया के होते हुए भी वहां उपमेय की प्रतीति सम्भव है।

उत्प्रेक्षा में दोनों प्रतीतियों का आश्रय केवल एक होता है। उस आश्रय में एक प्रतीति निगीर्ण होकर अन्य को स्थान दे रही होती है। 'बालेन्दुवक्राणि..................'उदाहरण से यह स्पष्ट है। यहां उसी आश्रय में पलाशों की प्रतीति नखक्षतों की प्रतीति में परिणत हो रही होती है। रूपक में इसके विपरीत मुख तथा कमल की प्रतीति के आश्रय पृथक् होते हैं। रूपक में मुख में कमल की जो प्रतीति होती है वह पृथक् अस्तित्व की प्रतीति वाले कमल के साथ मुख के ताद्रूप्य के फलस्वरूप होती है। मुख स्वयं निगीर्ण होकर कमल का रूप धारण नहीं करता।

उत्प्रेक्षा में विषय की विषयी में सम्भावना के लिए विषय का उपादान आवश्यक है अथवा नहीं इस विषय को लेकर आलंकारिकों में मतभेद है। रुय्यक के अनुसार विषय का उपादान आवश्यक है।[1] मम्मट, विश्वनाथ आदि के अनुसार इसका उपादान आवश्यक नहीं। विषयानुपादान की अवस्था में भी उत्प्रेक्षा सम्भव है।[2] उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय

१. "न च विषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम्। तस्योत्प्रेक्षाधारत्वेन प्रस्तुतस्याभिधातुमुचितत्वात्।"

—सर्वस्व पृष्ठ ६५

२. प्राचीनों के मत को उद्धृत करते हुए जगन्नाथ लिखते हैं:—

"उत्प्रेक्षायाश्च साध्यवसानत्वाद्विषयस्यानुपादानं संगच्छते।"

—रसगंगाधर पृष्ठ २६०

होता है। विषयानुपादान इस अध्यवसाय के विपरीत न होकर इसके अनुकूल होता है।

अपने इन मतों के आधार पर आलंकारिकों ने 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः' इस श्लोक में उत्प्रेक्षा की विभिन्न प्रकार से व्याख्याएं की हैं।

रुय्यक के अनुसार यहां तमस् विषय है, लेपनकर्तृत्व विषयी है तथा तमोव्यापन निमित्त है।[1] मम्मटादि के अनुसार यहां तमोव्यापन विषय है तथा लेपन विषयी है।[2]

इन दोनों मतों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि मम्मट आदि का मत उचित है। उपर्युक्त उदाहरण में कवि का वर्ण्य विषय अन्धकार का प्रसार है। कवि की दृष्टि के सामने अन्धकार की एक विशेष अवस्था है। यह उसकी प्रस्तुत अवस्था है। अतः अन्धकार की यह अवस्था ही कवि के सामने आती है और इसमें वह लेपन की सम्भावना करता है।

सम्भावना के लिए सादृश्य की आवश्यकता होती है। यहां यह सादृश्य विद्यमान है। यह 'सकलवस्तुसान्द्रमलिनीकरण'[3] के रूप में है। यह मलिनीकरण तमःप्रसार तथा लेपन दोनों मे विद्यमान है।

यह कहना कि यहां तमोव्यापन का निर्देश नहीं, अतः उसकी लेपन में सम्भावना नहीं हो सकती उचित नही। यहां निर्देश केवल तमस् का अवश्य है परन्तु उसका 'लिम्पति' क्रिया से सम्बन्ध जोड़ा गया है। अतः प्रतीति केवल तमस् की न होकर तमोव्यापार की होती है। 'अन्धकार मानो लीप रहा है' इस वाक्य से प्रतीति यह होती है कि अन्धकार जो कार्य कर रहा है वह मानो लेपन है।

१. "अत्र लेपनवर्षणक्रिये तमोनभोगतत्वेनोत्प्रेक्ष्येते।" —सर्वस्व पृष्ठ ५६

२. "इत्यादौ व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम्।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५८७

३. "तमोव्यापनस्य नभःप्रभृतिभूपर्यन्तसकलवस्तुसान्द्रमलिनीकरणेन निमित्तेन तमःकर्तृकलेपनतादात्म्योत्प्रेक्षा।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ३३

तमस् की लेपनकर्तृत्व में सम्भावना मानने के लिए भी यह आवश्यक है कि तमस् के व्यापार की लेपनव्यापार में सम्भावना हो। जब तक इन दोनों व्यापारों में सादृश्य की प्रतीति नहीं होगी तब तक इनके कर्ताओं मे सादृश्य सम्भव नहीं और फलतः उनमे से एक की अन्य मे सम्भावना सम्भव नहीं। अतः तमस् की लेपन- कर्तृत्व में सम्भावना मानने की अपेक्षा तमोव्यापन की लेपन में सम्भावना मानना उचित है।

विषय की विषयी मे सम्भावना सदा अभेदसंसर्ग के द्वारा होती है अथवा उनमें और कोई भी सम्बन्ध सम्भव है इस विषय को लेकर आलङ्कारिकों में मतभेद है। प्राचीन आलङ्कारिक प्रथम मत के पक्ष में हैं तथा नव्य आलङ्कारिक द्वितीय मत के पक्ष में हैं। प्राचीन आलङ्कारिकों के अनुसार एक धर्मी की अन्य धर्मी में सम्भावना हो सकती है अथवा एक धर्म की अन्य धर्म में सम्भावना हो सकती है क्योंकि दोनों में अभेद संसर्ग सम्भव है। इनके अनुसार धर्म की धर्मी मे सम्भावना सम्भव नहीं क्योंकि इन दोनों में समवाय आदि सम्बन्ध हो सकता है, अभेदसम्बन्ध नहीं हो सकता। नव्य आलङ्कारिकों के अनुसार एक धर्म की धर्मी मे भी सम्भावना हो सकती है। जब एक धर्मी की अन्य धर्मी में सम्भावना होती है तब उसे धर्म्युत्प्रेक्षा कहते हैं और जब धर्म की धर्मी में उत्प्रेक्षा होती है तब उसे ये धर्मोत्प्रेक्षा कहते हैं। रसगंगाधरकार ने इन मतों का उल्लेख किया है।[1]

"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥" रघुवंश

द्वितीय मत के अनुसार यहां मौन के हेतु के रूप में विश्लेष दुःख की उत्प्रेक्षा नूपुर में की गई है।[2] नूपुर निःशब्द है। उसका निःशब्दत्व ही

१. "अत्र च प्राचामर्वाचां चानेकधा दर्शनं व्यवस्थितम्। तत्र प्राचामित्थम्- सर्वत्राभेदेनैव विषयिणो विषये उत्प्रेक्षणम्, न संबंधान्तरेण।.........तत्र विचार्यते- न सर्वत्राभेदेनैवोत्प्रेक्षणम् इति नियमे किञ्चिदस्ति प्रमाणम्, लक्ष्येषु भेदेनाप्युत्प्रेक्षणस्य दर्शनात्।" —रसगंगाधर पृष्ठ ३६०—३६३

२. "अत्रापि मौनहेतुत्वेन नूपुरे विश्लेषदुःखमुत्प्रेक्ष्यते। तत्र निश्चलत्वनिमित्तक- निःशब्दत्वाध्यवसितं मौनं निमित्तम्, विश्लेषदुःखसमानाधिकरणत्वे सति नूपुर- वृत्तित्वात्।" —रसगंगाधर पृष्ठ ३६८

उसका मौन है। मौन का कारण कवि को विश्लेषदु:ख प्रतीत होता है। अत: वह कहता है कि नूपुर मानो विश्लेषदु:ख के कारण मौन है। इस प्रकार विश्लेषदु:ख उसे मौन के हेतु के रूप में नूपुर में प्रतीत होता है। विश्लेषदु:ख नूपुर का धर्म है। अत: उनमे अभेदसंसर्ग न होकर समवाय-सम्बन्ध है।

प्रथम मत के अनुसार यहां निश्चलता से उत्पन्न मौन की सम्भावना दु:ख से उत्पन्न मौन में की गई है। नूपुर नि:शब्द है। उसका यह नि:शब्दत्व ही उसका मौन है। यह मौन निश्चलता से उत्पन्न हुआ है। कवि यह सम्भावना करता है कि यह मौन दु:ख से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार निश्चलत्वनिमित्तक मौन की वह दु:खहेतुक मौन में सम्भावना करता है। इन दोनों में तादात्म्य-सम्बन्ध है। अत: यहां अभेद-संसर्ग है। अप्पय-दीक्षित का यही मत है।[1]

इन मतों की समीक्षा करने पर प्रतीत होगा कि द्वितीय मत उचित नहीं। इस मत के अनुसार विश्लेषदु:ख की सम्भावना नूपुर में की गई है। यह युक्तिसंगत नहीं। सम्भावना एक वस्तु की अन्य वस्तु में की जाती है और यह दोनों के सादृश्य के आधार पर होती है। उपमा में जिस प्रकार एक वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य होता है तथा रूपक में एक वस्तु का अन्य वस्तु से ताद्रूप्य होता है ठीक उसी प्रकार उत्प्रेक्षा में एक वस्तु की अन्य वस्तु में सम्भावना होती है। उपमा में मुख कमल के समान होता है, रूपक में वह कमल के तद्रूप होता है तथा उत्प्रेक्षा में वह मानो कमल होता है, परन्तु उपर्युक्त उदाहरण में वि:श्लेषदु:ख मानो नूपुर नहीं होता। हम केवल इतना कह सकते हैं कि विश्लेषदु:ख मानो नूपुर में है। परन्तु इतना कहने से विश्लेष-दु:ख की सम्भावना नूपुर में नहीं हो सकती। यदि इतने से

---

१. " 'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्, चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य' इत्यादिहेतुफलोत्प्रेक्षोदाहरणयोस्तावद्विश्लेषदु:खललाटाक्षरदर्शनादिधर्मो हेतुतया फलतया वा नोत्प्रेक्ष्यते। किं तु नूपुरयुगादिधर्मिकं यन्निश्चलत्वकण्टकसंश्लेषादि-निमित्तकं मौनव्यापाटनादिकं तदेव दु:खहेतुकमौनललाटाक्षरदर्शनार्थव्यापा-टनादितादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते।"

—चित्रमीमांसा पृष्ठ ६३

विश्लेषदुःख की सम्भावना नूपुर में मानी जाती है तो कमल के सौन्दर्य का सद्भाव मुख में देखकर हमें कहना चाहिए कि मुख सौन्दर्य के समान है। परन्तु यह उचित नहीं। अतः हम कहते हैं कि मुख कमल के समान सुन्दर है। विश्लेषदुःख एक धर्म है। इसकी प्रतीति हमें नूपुर के धर्म के रूप में इसलिए होती है क्योंकि हम नूपुर के वास्तविक धर्म की इस धर्म में सम्भावना करते हैं। जब तक नूपुर के वास्तविक धर्म की अन्य धर्म में सम्भावना नहीं होती तब तक उस अन्य धर्म की प्रतीति नूपुर में नहीं हो सकती।

प्रथम मत अवश्य उचित है परन्तु इसके आधार पर उपर्युक्त श्लोक में किया गया उत्प्रेक्षाविवेचन उचित नहीं। यहां निश्चलत्वनिमित्तक मौन की सम्भावना दुःखहेतुक मौन में मानी गई है। यह उचित नहीं। सम्भावना एक वस्तु की अन्य वस्तु में हुआ करती है। अतः मौन की सम्भावना मौन में नहीं हो सकती। यह कहना उचित नहीं कि दोनों मौन भिन्न हैं अतः उनमें से एक की सम्भावना अन्य में हो सकती है। हमें प्रतीति एक ही मौन की होती है दो की नहीं। यह बात प्रथम मत के समर्थकों ने भी स्वीकार की है:—

"अवश्यं च द्विविधस्यापि मौनादेस्तादात्म्येनाध्यवसाय आस्थेयः।"

अतः मौन में उत्प्रेक्षा न होकर अतिशयोक्ति है। नूपुर का निःशब्दत्व मौन के द्वारा यहां निगीर्ण हो गया है। इस प्रकार यहां अध्यवसाय साध्य न होकर सिद्ध है। अतः यह अतिशयोक्ति का विषय है।

दूसरे 'इव' का प्रयोग मौन के साथ न होकर विश्लेषदुःख के साथ है। उत्प्रेक्षा में इव का प्रयोग जिस शब्द के बाद होता है वही उत्प्रेक्ष्य होता है।[1]

इसके अतिरिक्त मौन में सम्भावना मानने से हमें अन्य निमित्त ढूंढना पड़ेगा। मौन यहां निमित्त हो नहीं सकता क्योंकि वह तो यहां विषय बन गया है। यह कहना कि एककालप्रभवत्व निमित्त बन जाएगा उचित नहीं। यह अवश्य है कि निश्चलताजन्य निःशब्दत्व

---

१. "उत्प्रेक्षायामिवशब्दान्वितस्योत्प्रेक्ष्यताया उत्सर्गसिद्धत्वात्।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ३६८

अथवा मौन तथा विश्लेषदुःखजन्य मौन एक समय में उत्पन्न हैं। इस प्रकार एककालप्रभवत्व उनमें साधारणधर्म है। परन्तु यह साधारणधर्म चमत्कारयुक्त नहीं, अतः यह सम्भावना का निमित्त नहीं हो सकता। उपमादि में भी सादृश्य के लिए चमत्कारी धर्म की आवश्यकता होती है। यही बात उत्प्रेक्षा पर लागू होती है।[1]

अतः निःशब्दत्व अथवा मौन की सम्भावना मौन में न मानकर निश्चलता हेतु की सम्भावना विश्लेषदुःख हेतु में मानना उचित होगा। नूपुर के मौन का कारण निश्चलता है। यह निश्चलता उसमें सीता के चरणों से अलग होने के कारण आई है। अतः सीता के चरणों से असम्बन्ध को भी हम नूपुर के मौन का कारण कह सकते हैं। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि इस मौन का कारण विश्लेषदुःख है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त भी विद्यमान है। यह निमित्त मौन है। निःशब्दत्व अथवा मौन निश्चलता तथा विश्लेषदुःख में समान रूप से विद्यमान है। दूसरे इस प्रकार की उत्प्रेक्षा कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। कवि जड नूपुर को चेतन प्राणी के रूप में देखता है। जड नूपुर में चरणविश्लेष अथवा निश्चलता हो सकती है, चरणविश्लेष की अनुभूति नहीं हो सकती परन्तु नूपुर को चेतन समझने के कारण कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह चरणविश्लेष मानो उसकी चरणविश्लेष की अनुभूति है। अतः वह उत्प्रेक्षा करता है कि चरणविश्लेष मानो चरणविश्लेषःदु ख है।

चरणविश्लेष अथवा निश्चलता की सम्भावना विश्लेषदुःख में मानने से वे दोष भी उत्पन्न नहीं होते जो निश्चलताजन्य मौन की सम्भावना विश्लेषदुःखजन्य मौन में मानने से उत्पन्न होते हैं। यह कहना भी उचित नहीं कि चरणविश्लेष अथवा निश्चलता का यहां पृथक् निर्देश न होने के कारण उनका विश्लेषदुःख के द्वारा निगरण मानना उचित होगा, अतः उनकी अन्यत्र सम्भावना सम्भव नहीं। चरणविश्लेष का यहां पृथक् निर्देश अवश्य नहीं, परन्तु उसकी विषय के रूप में प्रतीति न हो ऐसी बात नहीं। इस प्रतीति का

---

१. "यद्यप्येककालप्रभवत्वादिरस्ति साधारणो धर्मो निमित्तम्। तथापि तस्याचमत्कारित्वादुपमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वात्।"—रसगंगाधर पृष्ठ ३६८

कारण है विश्लेषदुःख में सम्भावना की प्रतीति। सम्भावना जिस वस्तु में होती है उसकी प्रतीति में उस वस्तु की प्रतीति भी जुड़ी रहती है जो सम्भावना का विषय होती है। प्रस्तुत उदाहरण में सम्भावना सूचक 'इव' शब्द का स्पष्ट निर्देश है। अतः हमें उस उत्प्रेक्ष्य वस्तु का सीधे ही ज्ञान हो जाएगा जिसके साथ इव शब्द संयुक्त है और इसका उत्प्रेक्ष्य वस्तु के रूप में ज्ञान होने के कारण उस विषय की भी प्रतीति साथ में होती रहेगी जिसकी सम्भावना इस उत्प्रेक्ष्य वस्तु में की गई है।

जहां सम्भावनासूचक इवादि शब्दों का निर्देश नहीं होता वहां भी उत्प्रेक्षा सम्भव है। इस उत्प्रेक्षा को गम्योत्प्रेक्षा[1] कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में यदि इव शब्द को उड़ा दें तो यह गम्योत्प्रेक्षा हो जाएगी।

प्रश्न उठ सकता है कि प्रस्तुत उदाहरण में इव का लोप कर देने पर उत्प्रेक्षा मानने का क्या आधार है। उस दशा में तो हम सीधा यह कह सकते हैं कि नूपुर विश्लेषदुःख के कारण मौन है। मानो विश्लेषदुःख के कारण मौन है ऐसा अर्थ करके उत्प्रेक्षा मानने की क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर यह है कि नूपुर जड वस्तु है। उसमें विश्लेषदुःख की अनुभूति सम्भव नहीं। अतः हमें यही अर्थ करना होगा कि नूपुर मानो विश्लेषदुःख के कारण मौन है। इसी तर्क को आधार मानकर आलङ्कारिकों ने 'तन्वंग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम्। हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया' इस उदाहरण में गम्योत्प्रेक्षा स्वीकार की है।[2]

प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसी बात है तो मौन में भी उत्प्रेक्षा माननी चाहिए। नूपुर में मौन सम्भव नहीं, अतः निःशब्दत्व की मौन में सम्भावना मानना उचित होगा।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—

यहां मौन की अनुभूति का सम्बन्ध केवल कवि से है नूपुर से नहीं। नूपुर में मौन इसीलिए बताया गया है क्योंकि कवि नूपुर के निःशब्दत्व को

---

१. "प्रतीयमानायां पुनरिवाद्यप्रयोगः" —सर्वस्व पृष्ठ ५५

२. "इह तु स्तनयोर्लज्जाया असम्भवाल्लज्जयेवेत्युत्प्रेक्षयैवेति।" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४१

मौन के रूप में देखता है और वैसा अनुभव करता है। नूपुर को मौन की अनुभूति हो और वह उसके अनुसार चेष्टा करे ऐसी बात नहीं। इसके विपरीत विश्लेषदुःख की अनुभूति का सम्बन्ध स्वयं नूपुर से दिखाया गया है और वह उसके परिणामस्वरूप मौन बताया गया है। अतः सम्भावना केवल विश्लेषदुःख में मानना उचित होगा मौन में मानना उचित न होगा।

रुय्यक, विश्वनाथ आदि अर्वाचीन आलङ्कारिकों ने उत्प्रेक्षा के अनेकों भेदोपभेद किए हैं। इन भेदों के आधार निम्नलिखित हैं:—

उत्प्रेक्षावाचक शब्द का उपादान अथवा अनुपादान, उत्प्रेक्ष्य वस्तु का जाति गुण क्रिया तथा द्रव्य में से किसी एक प्रकार का होना, उत्प्रेक्ष्य वस्तु का भावस्वरूप अथवा अभावस्वरूप होना, उत्प्रेक्षानिमित्त का गुण अथवा क्रिया के रूप मे होना,[१] उत्प्रेक्ष्य वस्तु का स्वरूप, हेतु तथा फल में से किसी एक रूप में होना[२], उत्प्रेक्षानिमित्त की उक्ति अथवा अनुक्ति,[३] प्रस्तुत की उक्ति अथवा अनुक्ति।

इन आधारों के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि द्रव्यादि, भावादि तथा स्वरूपादि के आधार पर उत्प्रेक्षाविभाजन उचित नहीं क्योंकि इनका उत्प्रेक्षा में विद्यमान सादृश्य से कोई सम्बन्ध नहीं। उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों के उपादान अथवा अनुपादान, उत्प्रेक्षानिमित्त की उक्ति अथवा

---

१. भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता॥ ४०
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि॥ ४१
तदष्टधा प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः॥ ४२

साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद

२. "तत्रोक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु ये वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडश भेदास्तेषु च जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादशभेदास्तेषां प्रत्येकं स्वरूपफलहेतुगम्यत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिंशद्भेदाः।" —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४१

३. उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः। —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४२

४. उक्त्यनुक्त्योः प्रत्येकं ता अपि द्विधा। —साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४३

अनुक्ति तथा प्रस्तुत की उक्ति एवं अनुक्ति के आधार पर उत्प्रेक्षा का विभाजन किसी अंश तक समीचीन कहा जा सकता है क्योंकि इन आधारों का सादृश्य के तत्त्व उपमेय उपमान साधारणधर्म तथा वाचक में से किसी एक के साथ सम्बन्ध है।

वाचक शब्द के उपादान अथवा अनुपादान के आधार पर उत्प्रेक्षा के वाच्योत्प्रेक्षा तथा व्यंग्योत्प्रेक्षा नामक जो दो भेद किए गए हैं उनकी ओर संकेत उद्भट ने भी किया है।[1]

अप्पयदीक्षित ने उत्प्रेक्षा के इन भेदोपभेदों की संख्या घटाकर केवल छः तक सीमित कर दी है। इन्होंने वस्तु हेतु तथा फल के आधार पर उत्प्रेक्षा के वस्तूत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा ये तीन भेद करके पुनः उनमें से प्रत्येक के दो भेद किए हैं। वस्तूत्प्रेक्षा के उक्तविषया तथा अनुक्तविषया भेद हैं तथा हेतूत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा में से प्रत्येक के सिद्ध-विषया तथा असिद्धविषया ये दो भेद हैं।[2]

१. साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता॥ —काव्यालङ्कारसारसंग्रह

२. सा च वस्तुहेतुफलात्मतागोचरत्वेन त्रिविधा।.................अत्र आद्या स्वरूपोत्प्रेक्षा उक्तविषया चेति द्विविधा। परे हेतुफलोत्प्रेक्षे सिद्धविषयाऽसिद्धविषया चेति प्रत्येकं द्विविधे। —कुवलयानन्द पृष्ठ ३३

उत्प्रेक्षावयव

भामह, भट्टि तथा वामन ने उत्प्रेक्षावयव नामक एक पृथक् अलङ्कार का निरूपण किया है:—

"श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षान्वितः।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा॥" —भामहालङ्कार ३।४८

वामन ने इसे संसृष्टि के अन्तर्गत रखा है।

इस अलङ्कार का उत्प्रेक्षा से कोई विशेष भेद नहीं। अतः इसका अन्तर्भाव उत्प्रेक्षा में किया जा सकता है। भोज ने ऐसा ही किया है।[1]

१. उत्प्रेक्षावयवो यश्च या चोत्प्रेक्षोपमा मता।
मतं चेति न भिद्यन्ते तान्युत्प्रेक्षास्वरूपतः॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण ४।५१

अतिशयोक्ति

उत्प्रेक्षा में विषय निगीर्यमाण होता है, अतिशयोक्ति मे वह सर्वथा निगीर्ण हो जाता है और केवल विषयी की प्रतीति होती है। 'चन्द्रोऽयम्' इस उदाहरण से यह स्पष्ट हैं। यहां मुख का सर्वथा निगरण हो गया है ओर केवल चन्द्र रह गया है। उत्प्रेक्षा मे निगरण की जो प्रक्रिया चल रही थी वह यहां आकर समाप्त हो जाती है और विषय का निगरण होकर केवल विषयी बच जाता है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा मे अध्यवसाय की जो प्रधानता थी वह यहां अध्यवसित की प्रधानता मे परिणत हो जाती है। यही बात रुय्यक ने कही है:—

"अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः।"[1] —सर्वस्व सू० २२

१. भामह, उद्भट, दण्डी आदि प्राचीन आलङ्कारिकों की परिभाषाएं इनसे भिन्न हैं:—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥—भामहालङ्कार २।८१

विवक्षा वा विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा ॥—काव्यादर्श २।२१४

इन परिभाषाओं के अनुसार लोकातिक्रान्तगोचरता अथवा अतिशय ही अतिशयोक्ति है। इन परिभाषाओं के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि ये परिभाषाएं समीचीन नहीं। अतिशय तो एक ऐसा तत्त्व है जो समस्त अलङ्कारों के मूल में है। अतः इसे अतिशयोक्ति तक ही सीमित रखना उचित नही।

इसके उत्तर में दण्डी कहते हैं कि यह अतिशयोक्ति सब अलङ्कारों के मूल में है। अतः सब अलङ्कारों में इसके कारण अतिशय आ जाएगाः—

अलङ्काराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥—काव्यादर्श २।२२०

दण्डी का यह विचार युक्तियुक्त नहीं। यदि अतिशयोक्ति सब अलङ्कारों के मूल में है तो उसे एक पृथक् अलङ्कार न मानना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि प्रतीति यदि केवल विषयी की होती है तो कवि तदनुसार कार्य क्यों नही करता। उपर्युक्त उदाहरण मे प्रतीति केवल चन्द्र की होती है। अतः कवि को इस प्रतीति के अनुसार कार्य करना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता।

इसका उत्तर यह है कि यह प्रतीति आहार्य होती है।[1] भ्रान्तिमान् के समान अनाहार्य नहीं होती। आहार्य प्रतीति कविकल्पनाजन्य होती है। कवि इसकी कल्पना अपनी इच्छा से करता है। कवि को मुख के स्थान पर चन्द्र की जो प्रतीति होती है उसका कारण यह नहीं कि वह मुख को वस्तुतः चन्द्र समझता है परन्तु यह है कि सौन्दर्य गुण के कारण मुख का चन्द्र से अत्यधिक साम्य उसके सामने चन्द्र का चित्र उपस्थित कर देता है। यह कवि की केवल अनुभूति होती है और इसका वह आनन्द लेता है। यह अनुभूति उसकी व्यावहारिक क्रियाओं का कारण नहीं हो सकती। व्यावहारिक क्रियाओं के लिए तो व्यावहारिक ज्ञान ही चाहिए।

उपर्युक्त उदाहरण में चन्द्रमा की प्रतीति के समय कवि को मुख का व्यावहारिक ज्ञान न हो ऐसी बात नहीं। उसे मुख का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहता है परन्तु काल्पनिक प्रतीति का वह अङ्ग नही बनता।

चन्द्रमा की काल्पनिक प्रतीति मे चन्द्रमा के समस्त सम्भव गुणों की प्रतीति नहीं होती, किन्तु केवल सौन्दर्य गुण ही अपने प्रतीक चन्द्रमा के रूप में कवि के सम्मुख उपस्थित होता है। अतः चन्द्रमा की प्रतीति कवि में केवल उन्हीं चेष्टाओं को उत्पन्न कर सकती है जो सौन्दर्यदर्शन की कार्य हैं। सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य कारणों की अपेक्षा रखने वाली चेष्टाएं इस चन्द्रप्रतीति की कार्य नहीं हो सकतीं।

कतिपय आलङ्कारिकों के अनुसार अतिशयोक्ति में ज्ञान आहार्य न होकर अनाहार्य होता है। उद्योतकार तथा विश्वेश्वर आदि का यही मत है।[2]

---

१. "सारबोधिनीकारादयस्तु—अध्यवसानमप्रकृततादात्म्यारोपः' स च भेद-प्रतिपत्त्यसहकृताहार्यनिश्चयरूपः..............।"—बालबोधिनी पृष्ठ ६२६

२. " '..........सादृश्यातिशयमहिम्ना च बाधबुद्धेः स्थगनादेतन्मतेऽप्य-नाहार्यैव धीरिति दिक्' इत्युद्योते स्पष्टम् ॥"—बालबोधिनी पृष्ठ ६३०

"तत्र मुखादिपदाप्रयोगान्मुखत्वादिवैधर्म्यानुपस्थित्या अनाहार्याभेदबुद्धिः।"

अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ २७७

यह मत समीचीन नहीं। 'चन्द्रोऽयम्' इस उदाहरण में कवि को मुख का व्यावहारिक ज्ञान न रहे ऐसी बात नहीं। यहां केवल इतना होता है कि मुख का यह ज्ञान कविकल्पना का अङ्ग नहीं बनता। यदि मुख का किसी भी रूप में ज्ञान न मान कर केवल चन्द्रमा का ज्ञान माना जाता है तो चन्द्रमा का यह ज्ञान वास्तविक होगा और कवि को तदनुसार कार्य करना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। केवल मुख शब्द के अप्रयोग से यह नहीं कहा जा सकता कि कवि को चन्द्रमा का अनाहार्य अथवा वास्तविक ज्ञान होता है। चन्द्रमाप्रतीति की कल्पनास्थिति में कवि को यह ज्ञान रहता ही है कि यह मुख ही है जो चन्द्रमा के रूप में उसके सामने उपस्थित है। अतः 'मुखं चन्द्रो न' इस प्रकार की जो बाधबुद्धि रूपक में रहती है वह यहां भी विद्यमान है।

अतिशयोक्ति में विषय के सर्वथा निगीर्ण हो जाने के कारण कवि की कल्पनास्थिति में भेद की सर्वथा प्रतीति नहीं होती। इसीलिए सारबोधिनीकार ने अध्यवसाय को भेदप्रतीति से रहित आहार्य निश्चय कहा है।[1] भेदप्रतीति न होने के कारण हम इसे अभेद की अवस्था कह सकते हैं। अभेदावस्था का इतना ही अर्थ है कि इसमें भेद की प्रतीति सर्वथा नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं कि कवि को इस स्थिति में अभेदप्रतीति होती है। अभेदप्रतीति के लिए दो वस्तुओं की आवश्यकता है जिनमें अभेद प्रतीत हो। तरङ्ग तथा जल में हमें अभेदप्रतीति होती है क्योंकि यहां ये दो अभिन्न वस्तुएं हमारे सम्मुख आती हैं। अतिशयोक्ति में यह बात नहीं। यहां केवल विषयी की प्रतीति होती है। यदि विषयी के अतिरिक्त विषय की भी प्रतीति हो और विषयी से उसका अभेद दिखाई दे तब तो हम यहां अभेदप्रतीति मान सकते हैं अन्यथा नहीं। अतः अतिशयोक्ति को अभेदप्रतीति की अवस्था न मानकर भेदाभाव की अवस्था मानना उचित होगा। जगन्नाथ की निम्नलिखित उक्ति इसका समर्थन करती है:—

"विषयितावच्छेदकरूपेण विषयस्यैव भानादभेदसंसर्गस्याप्रसक्तेः।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ४१२

अतिशयोक्ति में यह भेदाभाव सर्वत्र विद्यमान रहता है। 'अपरः पाकशासनः' इस उदाहरण में भी यह विद्यमान है। अप्पयदीक्षित के अनुसार

---

१. "स च भेदप्रतिपत्त्यसहकृताहार्यनिश्चयरूपः।"—बालबोधिनी पृष्ठ ६२६

यहां अभेद न होकर ताद्रूप्य है।[1] दीक्षित का यह मत यथार्थ नहीं। यहां राजा का सर्वथा निगरण हो गया है और उसके स्थान पर केवल इन्द्र की प्रतीति होती है। 'यह दूसरा इन्द्र है' इस प्रयोग से उसके इन्द्र के रूप में प्रतीत होने में कोई अन्तर नहीं आता। दूसरा इन्द्र वनने के लिए भी आवश्यक है कि वह पहले इन्द्र बने। यह कहना उचित नही कि वह प्रसिद्ध इन्द्र नहीं बना अपितु दूसरा इन्द्र बना है, अतः प्रसिद्ध इन्द्र से उसकी भेद-प्रतीति स्वाभाविक है। यहा इन्द्र की प्रसिद्धि अथवा अप्रसिद्धि से तात्पर्य नहीं अपितु इन्द्रत्व से तात्पर्य है। इन्द्र यहां कुछ गुणों के प्रतीक के रूप में व्यवहृत हुआ है और इस रूप मे इन्द्र की प्रतीति यहां राजा के स्थान पर होती है। यदि 'अपरः' को भेद का कारण माना ही जाता है तो प्रश्न उठता है कि यह किस का किससे भेद बताएगा। राजा से इन्द्र का भेद यह बता नहीं सकता क्योंकि राजा का यहां निगरण हो गया है और केवल इन्द्र रह गया है तथा इन्द्र का इन्द्र से भेद सम्भव नही। अतः 'अपरः' शब्द का प्रयोग यहां इन्द्र से राजा के भेद का प्रयोजक नहीं परन्तु भूतल पर इन्द्र की कल्पना में जो सम्भावित विघ्न है उसका निराकरण करने मात्र के लिए है।

आलङ्कारिकों ने अतिशयोक्ति के अनेक भेद माने हैं। मम्मट के अनुसार इसके चार भेद

१. " 'अपरः पाकशासनः' इत्याद्यतिशयोक्तौ 'अपर इव पाकशासनः' इत्याद्युत्प्रेक्षायां च रूपकवदेव प्रसिद्धचन्द्राद्यभेदप्रतिपत्त्यभावेन ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरेव स्यात्।"
—चित्रमीमांसा पृष्ठ ५३

२. उद्भट ने भी इसके चार भेद किए हैं:—

भेदेऽनन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते।
तथा सम्भाव्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिगीः॥

कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात्।
आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत्॥

—काव्यालङ्कारसारसंग्रह २।१२,१३

ये भेद मम्मटकृत भेदों के आधार कहे जा सकते हैं। इसमें प्रथम दो भेद मम्मट के द्वितीय भेद के अन्तर्गत हैं तथा तृतीय एवं चतुर्थ भेद मम्मट के तृतीय एवं चतुर्थ भेदों से मिलते हैं।

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेया अतिशयोक्तिः सा ॥ —काव्यप्रकाश सू० १५३

रुय्यक, विश्वनाथ आदि के अनुसार इसके पांच भेद होते हैं:—

'भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ।
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ॥"—साहित्यदर्पण १०।४६

उद्योतकार के अनुसार मम्मट की अतिशयोक्ति के तृतीय भेद 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' के दो भेद किए जा सकते है। इनमें प्रथम 'असम्बन्धे सम्बन्धः' तथा द्वितीय 'सम्बन्धेऽसम्बन्धः' है।[1] इस प्रकार मम्मट की अतिशयोक्ति के भी पांच भेद हैं।

दीक्षित ने अतिशयोक्ति के प्रथम भेद को रूपकातिशयोक्ति कहा है तथा रूपक से साम्य के आधार पर इसके दो भेद किए हैं:—

अभेदातिशयोक्ति तथा ताद्रूप्यातिशयोक्ति।[2]

दीक्षित का यह मत उचित नहीं। अतिशयोक्ति तथा रूपक में अन्तर है। रूपक में ताद्रूप्य होता है तथा अतिशयोक्ति में अभेद होता है। अतः ताद्रूप्यातिशयोक्ति नामक भेद उचित नहीं। अभेदातिशयोक्ति का भी केवल

---

१. उद्योतकारास्तु "पूर्वार्धे पूर्णेन्दौ कलङ्काभावस्यासम्बन्धे सम्बन्धः कल्पितः, उत्तरार्धे साम्यसम्बन्धसंभवेऽपि तदसम्बन्धः पराभवपदेन सूचितः। एवं च्चासम्बन्धे सम्बन्ध इति द्विविधेयम्। यद्यर्थोक्ताविस्युपलक्षणम् उक्तप्रकारद्वयस्य।"
—बालबोधिनी पृष्ठ ५६२

२. "विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखनं विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहणं विषयनिगरणं तत्पूर्वकं विषयस्य विषयिरूपतयाध्यवसानमाहार्यनिश्चयस्तस्मिन् सति रूपकातिशयोक्तिः।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ३६

"अत्रातिशयोक्तौ रूपकविशेषणं रूपके दर्शितानां विधानामिहापि संभवोऽस्तीत्यतिदेशेन प्रदर्शनार्थम्। तेनात्राप्यभेदातिशयोक्तिस्ताद्रूप्यातिशयोक्तिरिति द्वैविध्यं द्रष्टव्यम्।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ४०

यही अर्थ लिया जा सकता है कि यहां भेद की कोई प्रतीति नहीं होती। यदि अभेदातिशयोक्ति का अर्थ अभेदप्रतीति लिया जाता है तो यह प्रकार भी सम्भव नही, क्योंकि अतिशयोक्ति मे केवल एक वस्तु की प्रतीति होती है परन्तु अभेदप्रतीति के लिए दो वस्तुओं की प्रतीति आवश्यक है।

'कार्यकारणयो: पौर्वापर्यविपर्ययः' अतिशयोक्ति के स्थान पर दीक्षित ने अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, तथा अत्यन्तातिशयोक्ति नामक अतिशयोक्ति के तीन भेद किए हैं।[1] इन तीनों मे कार्य की शीघ्रता बताई जाती है।[2] अतः इन तीनों का अन्तर्भाव 'कार्यकारणयो: पौर्वापर्यविपर्यय.' नामक अतिशयोक्ति के भेद मे किया जा सकता है।

इन भेदों मे कौनसा सामान्य तत्त्व है जिसके आधार पर इन्हें एक अलंकार के अन्तर्गत रखा गया है, इसके उत्तर मे कतिपय आलंकारिकों का कथन है कि इन भेदों में अतिशय की प्रतीति समान रूप से होती है, अतः वे एक अलंकार के अन्तर्गत रखे गए है।[3] वे यह स्वीकार करते है कि अध्यवसान तत्त्व इन सब भेदों में नही, परन्तु इस अतिशय तत्त्व के कारण ही ये भेद एक अलंकार के अन्तर्गत रखे गए हैं।

आलंकारिकों का यह मत युक्तिसंगत नहीं। यदि ये लोग अतिशय को इन भेदों का सामान्य तत्त्व मानते है तो इन्हें अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा अतिशय करनी चाहिए और तब उसके भेदों का निरूपण करना चाहिए। दूसरे अतिशय केवल इन्हीं भेदों के मूल में हो ऐसी बात नहीं। अतिशय तो एक ऐसा तत्त्व है जो प्रायः सभी अलंकारों के

---

१. देखिए कुवलयानन्द पृष्ठ ४५, ४६

२. "एतास्तिस्रोऽप्यतिशयोक्तयः कार्यशैघ्र्यप्रत्यायनार्था: ॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ४७

३. "अतिशयः अतिशयिता प्रसिद्धिमतिक्रान्ता लोकातीता उक्तिः अतिशयोक्तिः। सा चैतेषु परस्परमत्यन्तं विलक्षणेष्वपि चतुर्षु प्रभेदेष्वस्तीति एतेषां प्रभेदानामतिशयोक्तिरिति साधारणं नाम नासंगतम् ॥"

—बालबोधिनी पृष्ठ ६२८

मूल में स्थित है। अतः अतिशयप्रतीति को केवल इन्हीं भेदों तक सीमित करना उचित नहीं।

अतिशयोक्ति के भेदों का निर्धारण उसकी सामान्य परिभाषा अध्यवसान के आधार पर ही होना चाहिए। अनेक आलंकारिकों ने ऐसा किया भी है। रत्नाकर, विमर्शिनीकार आदि ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि यह अध्यवसान सब भेदों में विद्यमान है। नव्य आलंकारिकों ने इसके विपरीत इसी आधार पर केवल प्रथम भेद को छोड़कर अन्य सब भेदों को अतिशयोक्ति के क्षेत्र से निकाल दिया है और उन्हें भिन्न अलंकार माना है।[1]

हमे अब देखना है कि अतिशयोक्ति का यह सामान्य लक्षण अध्यवसान इन भेदों पर लागू होता है या नहीं और यदि होता है तो किस प्रकार होता है। अतिशयोक्ति के प्रथम भेद में तो अध्यवसान होता ही है। 'चन्द्रोऽयम्' इस उदाहरण से यह स्पष्ट है। अतिशयोक्ति के द्वितीय भेद 'अभेदे भेदः' का उदाहरण इस प्रकार है:—

"अन्यत् सौकुमार्यम् अन्यैव च कापि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति॥"

काव्यप्रकाश १०। ४५०

मम्मट ने यहां 'तत्' का निगरण 'अन्यत्' के द्वारा माना है।[2] आलंकारिकों ने अन्यत्व के दो अर्थ किये हैं—अन्यत्वरूपप्रकार अथवा अन्यवस्तुत्व।[3] प्रथम अर्थ के अनुसार वस्तु के प्रस्तुत रूपप्रकार का

---

१. "नव्यास्तु—निगीर्याध्यवसानमेवातिशयोक्तिः। प्रभेदान्तरं त्वनुगतरूपाभावादलंकारान्तरमेव। ननु प्रस्तुतान्यत्वभेदे—भेदेनाभेदस्य, असम्बन्धे सम्बन्ध इति भेदे—सम्बन्धेनासम्बन्धस्य ································ निगरणं रत्नाकरविमर्शिनीकाराद्युक्तप्रकारेण संभवतीति चेत्, न।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ४१८

२. "यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते" —काव्यप्रकाश पृष्ठ ६३०

३. "अन्यत्वेनेति अन्यत्वरूपप्रकारेणेत्यर्थः।" उद्योत—बालबोधिनी पृष्ठ ६३०

"'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वम्' इत्यस्य 'प्रस्तुतस्य अन्यवस्तुत्वेनाध्यवसायः' इत्यप्यर्थः।" उद्योत—बालबोधिनी पृष्ठ ६३१

निगरण उसके अन्य रूपप्रकार के द्वारा होता है तथा द्वितीय अर्थ के अनुसार प्रस्तुत वस्तु का निगरण अन्य वस्तु के द्वारा होता है।

हम 'अन्यत्व' का कोई अर्थ लें हमें यह मानना पड़ेगा कि उपर्युक्त उदाहरण में निगरण सम्भव नही। यहां प्रस्तुत सौकुमार्य का स्पष्ट निर्देश है और हमें उसकी प्रतीति होती है। सौकुमार्य का रूपप्रकार सौकुमार्य से भिन्न नही। अतः उसकी प्रतीति सौकुमार्य के साथ साथ होना स्वाभाविक है । अतः सौकुमार्य अथवा उसके रूपप्रकार का निगरण मानना उचित नहीं। यदि इसका अन्य के द्वारा निगरण माना जाता है तो प्रश्न उठता है कि यह अन्य क्या वस्तु है तथा प्रस्तुत का निगरण करके यह हमारे सम्मुख क्या स्वरूप उपस्थित करती है। स्वतः अन्य हमारे सम्मुख कोई स्वरूप उपस्थित नही कर सकता। यह सौकुमार्य ही है जो अन्य शब्द के साथ जुड़कर हमारे सम्मुख सौकुमार्य का एक विशेष स्वरूप उपस्थित करता है । अतः उपर्युक्त उदाहरण में अतिशयोक्ति अलंकार मानना उचित नहीं । वस्तुतः इस उदाहरण में अतिशयोक्ति अलंकार न होकर असम अलंकार है। 'अन्यत् सौकुमार्यम्' का अर्थ यही है कि यह सौकुमार्य अद्वितीय है। इस सौकुमार्य की अन्य किसी वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती। अतः इसे अन्यत् कहा गया है।

मम्मट द्वारा किए हुए अतिशयोक्ति के 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' भेद को उपमा का भेद मानना उचित होगा।

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयेतैतस्या वदनं लोललोचनम् ॥" —बालबोधिनी पृ० ६३२

यहां लोचनों से युक्त वदन का दो कमलों से युक्त चन्द्रमण्डल के साथ सादृश्य चमत्कार का कारण है। अतः यह उपमा का उदाहरण है। उपमा के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसमें उपमान स्वतः सिद्ध हो। कविकल्पित वस्तु भी उपमान बन सकती है। अतः उपर्युक्त उदाहरण में उपमान के कविकल्पित होने से इसे उपमा के अतिरिक्त अन्य अलंकार नहीं माना जा सकता। कतिपय प्राचीन आलंकारिकों ने इसी बात को

ध्यान में रखकर उपर्युक्त उदाहरण को उपमा का भेद माना है। दण्डी इसे अद्भुतोपमा[1] मानते हैं तथा रुद्रट उत्पाद्योपमा मानते हैं।[2]

अतिशयोक्ति के भेद 'असम्बन्धे सम्बन्धः' का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम्"

—कुवलयानन्द । ३९

वस्तुतः इस उदाहरण में प्रस्तुत विषय प्रासादाग्र तथा विधुमण्डल का असम्बन्ध नहीं अपितु उनका सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध प्रासादाग्र तथा विधुमण्डल के सामीप्य के रूप में है। इस सामीप्य से यह अर्थ नहीं कि प्रासादाग्र तथा विधुमण्डल वस्तुतः समीप हैं, परन्तु इसका अर्थ यह है कि प्रासादाग्र अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विधुमण्डल के समीप है। इस सामीप्य सम्बन्ध का यहां संयोग सम्बन्ध के द्वारा निगरण हो गया है। इस प्रकार यहां सम्बन्ध के एक रूप का निगरण उसके अन्य रूप के द्वारा हुआ है। प्रासाद इतने अधिक उन्नत हैं कि कवि को वे विधुमण्डल का स्पर्श करते प्रतीत होते हैं। इस प्रकार कवि प्रासादाग्र का अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विधुमण्डल से सामीप्य न बताकर उनका संयोग बताता है। सामीप्य तथा संयोग में सादृश्य है। यह दूरी के अभाव के रूप में है। अतः प्रथम का द्वितीय के द्वारा निगरण स्वाभाविक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त उदाहरण के लिए 'असम्बन्धे सम्बन्धः' नामक भिन्न भेद मानना उचित नहीं। अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा से ही काम चल सकता है। अतिशयोक्ति के प्रथम भेद के उदाहरण तथा इस भेद के उदाहरण में केवल इतना अन्तर है कि प्रथम भेद के उदाहरण में जहां एक वस्तु का निगरण

---

१. "यदि किञ्चिद्भवेत् पद्मं सुभ्रु विभ्रान्तलोचनम्।
तत् ते मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्भुतोपमा॥" —काव्यादर्श २। २४

२. "अनुपममेतद्वस्त्विति उपमानं तद्विशेषणं चासत्।
संभाव्य सयद्यर्थं या क्रियते सोपमोत्पाद्या॥"

—काव्यालङ्कार ८। १५

अन्य वस्तु के द्वारा हुआ है वहां इस भेद के उदाहरण में सम्बन्ध के एक प्रकार का निगरण उसके अन्य प्रकार के द्वारा हुआ है। परन्तु यह कोई विशेष अन्तर नही। इससे निगरण के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। अतः यह अन्तर भेद का प्रयोजक नही।

वस्तुतः अतिशयोक्ति में असम्बन्ध का सम्बन्ध के द्वारा अथवा सम्बन्ध का असम्बन्ध के द्वारा निगरण नही होता, परन्तु सम्बन्ध के एक प्रकार का निगरण अन्य प्रकार के द्वारा होता है। इसका कारण दोनों प्रकारों का सादृश्य होता है। निगरण के लिए यह सादृश्य आवश्यक है। सम्बन्ध तथा असम्बन्ध मे अथवा असम्बन्ध तथा सम्बन्ध में सादृश्य न होकर विरोध होता है। अतः उनमें से एक का निगरण अन्य के द्वारा सम्भव नही। अतः 'असम्बन्धे सम्बन्धः' तथा 'सम्बन्धेऽसम्बन्धः' नामक भेद मानना उचित नहीं। आलङ्कारिकों द्वारा इन भेदों के जो उदाहरण दिए गए हैं उन पर यदि अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा लागू होती है तो वे अतिशयोक्ति के अन्तर्गत आ जाएंगे और उनके लिए पृथक्-भेदकल्पना की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, परन्तु यदि अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा उन पर लागू नहीं होती तो उनका अतिशयोक्ति से बहिर्भाव मानना ही उचित होगा। सम्बन्ध के द्वारा असम्बन्ध का अथवा असम्बन्ध के द्वारा सम्बन्ध का निगरण मानकर उन्हें अतिशयोक्ति के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता।

'सौधाग्राणि पुरस्यास्य...............' में देशगत सम्बन्ध का वर्णन था। कभी कभी यह सम्बन्ध देशगत न होकर कालगत होता है।

"सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यं निखिलं चारिमण्डलम्।"

—साहित्यदर्पण पृ० ५५०

यहां प्रस्तुत विषय सिंहासनारोहण तथा अरिमण्डलदमन का कालगत सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध समयगत सामीप्य के रूप में है। इसका निगरण समकालीनत्व के द्वारा हो गया है। समयगत सामीप्य तथा समकालीनत्व में सादृश्य है। यह सादृश्य विलम्बाभाव के रूप मे है। अतः प्रथम का द्वितीय के द्वारा निगरण स्वाभाविक है।

आलङ्कारिकों ने उपर्युक्त श्लोक को 'कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययः' नामक अतिशयोक्ति के भेद का उदाहरण माना है। परन्तु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति के इस भेद को पृथक् मानने की आवश्यकता नही। अतिशयोक्ति के सामान्य लक्षण से ही काम चल जाएगा।

प्रतिवस्तूपमा

उपमादि अलंकारों मे कवि की दृष्टि प्रधानतः उन वस्तुओं पर केन्द्रित रहती है जो एक धर्म के कारण सदृश प्रतीत होती हैं। मुख तथा कमल मे सौन्दर्य के आधार पर जब कवि को सादृश्यप्रतीति होती है तब मुख तथा कमल कवि की दृष्टि का विषय बनते हैं। उसे इनमें सौन्दर्य के भी दर्शन होते हैं, परन्तु यह सौन्दर्य उन वस्तुओं के साथ उनके धर्म के रूप मे जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। प्रतिवस्तूपमा आदि में इसके विपरीत कवि की दृष्टि प्रधानतः साधारणधर्मों पर केन्द्रित रहती है। धर्मियों में सादृश्य की प्रतीति तो कवि को तब होती है जब वह साधारणधर्म से सम्बद्ध धर्मियों में साधारणधर्म के आधार पर सादृश्य की कल्पना करता है।

कवि की दृष्टि का प्रधानतः विषय बनने वाले ये साधारणधर्म दो प्रकार के होते हैं—वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न तथा बिम्बप्रतिबिम्ब-भावापन्न। इनका विवेचन पूर्व किया जा चुका है। साधारणधर्मों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव की अवस्था में प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।

"आपद्गतः खलु महाशयचक्रवर्ती, विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम्।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ताल्लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति॥"

—रसगंगाधर पृ० ४४३

यहां हमारी दृष्टि सीधी साधारणधर्म पर ही केन्द्रित रहती है, उपमेय तथा उपमान पर नहीं। साधारणधर्म यहां विस्तार तथा प्रकटीकरण हैं। वस्तुप्रतिवस्तुभाव के कारण हमें इनमें सीधे सादृश्य की प्रतीति होती है।[1] इनमें सादृश्य के कारण इनके धर्मियों उपमेय महाशयचक्रवर्ती तथा उपमान कालागुरु में भी सादृश्य प्रतीत होता है।

प्रतिवस्तूपमा के लिए उचित है कि साधारणधर्म के सम्पूर्ण चित्र में सादृश्य हो।[2] यदि चित्र के एक अंश में साम्य तथा दूसरे

---

१. विस्तार तथा प्रकटीकरण वस्तुतः एक हैं परन्तु आश्रय के भेद से इनमें भेद मानना आवश्यक है।

२. "साधारणधर्मस्य वस्तुप्रतिवस्तुभावोक्त्या तदितरपदार्थानाम् बिम्बप्रति-बिम्बभावो घटनाया आनुरूप्यं च विवक्षितम्॥" —रसगंगाधर पृष्ठ ४५०

में वैषम्य है तो अभीष्ट प्रतीति नही हो सकती। उपर्युक्त उदाहरण मे साधारणधर्म के सम्पूर्ण चित्र में साम्य है। यहां प्रथम धर्म 'आपत्ति मे उदारभाव का विस्तार' है तथा द्वितीय धर्म 'दहन के मध्य परिमल-प्रकटीकरण' है। इनमे पूर्ण सादृश्य है। विस्तार तथा प्रकटीकरण में तो सादृश्य है ही, आपत्ति तथा दहन में एवं उदारभाव तथा परिमल में भी सादृश्य है। यह सादृश्य बिम्बप्रतिबिम्बभात्र के रूप मे है। इस प्रकार साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर हमें यहां महाशयचक्रवर्ती तथा कालागुरु में सादृश्य की प्रतीति होती है। यदि इस उदाहरण में वस्तुप्रतिवस्तुभाव के अतिरिक्त अंश मे बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव न होता तो सादृश्यप्रतीति मे विघ्न उपस्थित होता।

"खलास्तु कुशलाः स्वीयहितप्रत्यूहकर्मणि।
निपुणाः फणिनः प्राणानपहर्तुं निरागसाम्॥"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ४८९

यहां 'कुशलाः' तथा 'निपुणाः' में वस्तुप्रतिवस्तुभाव अवश्य है परन्तु 'स्वीयहितप्रत्यूहकर्म' तथा 'निरागसाम् प्राणापहरण' में सादृश्य नहीं, अतः अभीष्ट सादृश्यप्रतीति में विघ्न उपस्थित होता है।

आलङ्कारिकों ने इस अलङ्कार का विवेचन प्रधानतः भाषा को लक्ष्य करके किया है, सादृश्य तत्त्व को लक्ष्य करके नहीं किया। यही कारण है कि वे इसकी परिभाषा में वाक्य शब्द का भी सन्निवेश करते हैं:—

"प्रतिवस्तूपमा तु सा
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।"

—काव्यप्रकाश १०। १५४

"वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा।"

सर्वस्व सू० २५

यदि हम सादृश्य की दृष्टि से इस अलङ्कार की परिभाषा करें तो वाक्य आदि तत्त्वों का परिभाषा में सन्निवेश न होना चाहिए। सादृश्य का सम्बन्ध भाषा से नहीं होता अपितु उस अर्थ से होता है जो भाषा द्वारा अभिव्यक्त होता है। यह अर्थ भाषा के अङ्ग पद, वाक्य, समास आदि से अभिव्यक्त अवश्य होता है परन्तु भाषा के ये अङ्ग उस अर्थ के अङ्ग नहीं बनते। अर्थ की प्रतीति हमें वाक्य, समास आदि के रूप में नहीं होती अपितु द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों के रूप में होती है।

'आपद्गतः खलु·······' इस उदाहरण में हमें महाशयचक्रवर्ती तथा कालागुरु मे सादृश्यप्रतीति इनमे विद्यमान गुणों के सादृश्य के आधार पर होती है। सादृश्यप्रतीति के समय यहां चक्रवर्ती तथा कालागुरु तथा इनमें विद्यमान गुण ही हमारी दृष्टि का विषय बनते हैं, वाक्यार्थो का औपम्य हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता। यह औपम्य वाक्यार्थो मे है इसका ज्ञान तो हमे तब होता है जब हम सादृश्यप्रतीति की स्थिति से हटकर भाषा की बनावट पर विचार करते है।

उपर्युक्त उदाहरण मे सादृश्यप्रतीति की प्रक्रिया पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहां सादृश्य से पूर्व समर्थ्यसमर्थकभाव की भी प्रतीति होती है। प्रथम वाक्य यहां समर्थ्य है तथा द्वितीय वाक्य उसका समर्थक है:-

"आपद्गतो महाशयचक्रवर्ती अकृतपूर्वमुदारभावं विस्तारयति, यो महाशयः स आपद्गतोऽपि अकृतपूर्वमुदारभावं विस्तारयति यथा कालागुरु-र्दहनमध्यगतोऽपि लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति।"

जगन्नाथ ने भी यहां इस समर्थ्यसमर्थकभाव को स्वीकार किया है।[1]

इस समर्थ्यसमर्थकभाव के होने पर भी हमे यह मानना पड़ेगा कि यहां पर्यवसान सादृश्यप्रतीति में ही होता है। हम समर्थ्यसमर्थकभाव पर आकर रुक नहीं जाते परन्तु आगे बढ़ते हैं तथा महाशयचक्रवर्ती एवं कालागुरु में सादृश्य का अनुभव करते हैं। महाशयचक्रवर्ती के आचरण का कालागुरु के आचरण द्वारा समर्थन उन दोनों के सादृश्य में ही पर्यवसित होता है।

प्रतिवस्तूपमा के लिए यह समर्थ्यसमर्थकभाव आवश्यक नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में तो समर्थ्यसमर्थकभाव इसलिए है क्योंकि प्रथम वाक्य में हमें कार्यकारणभाव की प्रतीति होती है। महाशयत्व यहां कारण है तथा उदारभाव उसका कार्य है। विपत्ति में व्यक्ति प्रायः उदारभाव प्रकट नहीं करता। परन्तु यहां चक्रवर्ती को ऐसा भाव प्रकट करते हुए दिखाया है। अतः स्वभावतः हमारा ध्यान इसके कारण की ओर जाता है और फलतः

१. "एवमन्वयेन प्रतिवस्तूपमायामपि नियमविशेषस्य प्रकृतवाक्यार्थत्वेऽन्वय-दृष्टान्तेन सामान्यान्वयनियमसिद्धिद्वारा तत्सिद्धिः॥" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४४५

महाशयत्व तथा औदार्य में हमें कार्यकारणभाव की प्रतीति होती है तथा द्वितीय वाक्य के द्वारा इसका समर्थन प्रतीत होता है।

जहां प्रस्तुत वाक्य में कार्यकारणभाव की प्रतीति नही होती वहां समर्थ्यसमर्थकभाव सम्भव नही।

"भैरभ्रे भासते चन्द्रो, भुवि भाति भवान्बुधैः।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ २८६

यहां प्रस्तुत वाक्य 'भुवि भाति भवान्बुधैः' है। इसमें हमें कार्यकारणभाव की प्रतीति नही होती। आप पृथ्वी पर बुद्धिमानों के साथ शोभित हो रहे हैं, यह सुनकर हम शोभित होने के कारण पर विचार नहीं करते। प्रत्येक वस्तु शोभित हो सकती है। शोभित होना कोई ऐसी बात नही जो 'आपद्गतोऽपि उदारभाववान्' के समान अस्वाभाविक हो। अतः इसके लिए हम कारण नहीं ढूंढते। इस प्रकार प्रस्तुत वाक्य में हमे कार्यकारण-भाव की प्रतीति नहीं होती।

अतः स्पष्ट है कि समर्थ्यसमर्थकभाव प्रतिवस्तूपमा के लिए आवश्यक नहीं। जहां समर्थ्यसमर्थकभाव होता है वहां भी पर्यवसान समर्थ्यसमर्थकभाव में न होकर सादृश्य में होता है।

इस अलङ्कार का विवेचन प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने किया है। भामह तथा दण्डी ने इसका पृथक् निरूपण न करके उपमा में ही इसका अन्तर्भाव कर दिया है।

भोज ने प्रतिवस्तूपमा को प्रतिवस्तूक्ति कहा है तथा इसे साम्यालङ्कार का एक भेद कहा है। प्रतिवस्तूक्ति के भोज ने ऋज्वी, वक्रा, पूर्वा, उत्तरा, विधि, निषेध आदि अनेक भेद किए है।[1] विभाजन के इस आधार का सादृश्य से कोई सम्बन्ध नहीं। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने माला तथा अमाला नामक इसके दो भेद किए हैं।[2]

रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ, दीक्षित, जगन्नाथ आदि ने साधर्म्य तथा वैधर्म्य के आधार पर इस अलंकार के भेद किए हैं।[3]

---

१. देखिए सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४३६–४४४

२. "इत्यादिका मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या।" —काव्यप्रकाश पृष्ठ ५३०

३. "न केवलमियं साधर्म्येण यावद्वैधर्म्येणापि दृश्यते।" —सर्वस्व पृष्ठ ७८

विभाजन के इस आधार का भाषा से सम्बन्ध है सादृश्य से नहीं। वैधर्म्य से जो प्रतिवस्तूपमा होती है उसमें साधर्म्यवाली प्रतिवस्तूपमा से केवल इतना भेद है कि साधर्म्य वाली प्रतिवस्तूपमा में वाक्य एक जैसे होते हैं परन्तु वैधर्म्यवाली प्रतिवस्तूपमा के दोनों वाक्यों में से एक विधि वाक्य होता है तथा अन्य निषेध वाक्य होता है। जहां तक साधारणधर्म का प्रश्न है दोनों में एक प्रकार के ही साधारणधर्म विद्यमान रहते हैं। अतः साधारणधर्म के उपादान की दृष्टि से प्रतिवस्तूपमा के इन दोनों प्रकारों में कोई भेद नहीं।

वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुषः।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम्॥

यह वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण है। यहां प्रथम वाक्य में 'पूज्यते' धर्म है तथा द्वितीय में 'महिमानं प्रयाति' धर्म है। सादृश्य का आधार इन धर्मों का सादृश्य ही है, वाक्यों का विधिघटित अथवा निषेध-घटित होना नहीं। जो आलङ्कारिक 'वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमा' को स्वीकार करते हैं वे भी निषेधवाक्य का विधिवाक्य से सादृश्य न दिखाकर निषेध-वाक्य से आक्षेप्य विधिवाक्य का प्रथम विधिवाक्य से सादृश्य दिखाते हैं।[1]

१. "अप्रकृतवाक्यार्थाक्षिप्तस्य स्ववैपरीत्यस्यैवौपम्याश्रयत्वात्।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ४४५

"न हि तुम्बीफल" इति वाक्यार्थेन सह पूर्ववाक्यार्थसङ्गत्यर्थम् 'तुम्बीफलसहितो वीणादण्डो महिमानं प्रयाति' इतिवाक्यार्थ आक्षिप्यते। तेनैव पूर्ववाक्यार्थस्य औपम्यम्—'यथा तुम्बीफलसहितो वीणादण्डो महिमानं याति तथा सङ्गविशेषेण पुरुषः पूज्यते।'

सरला पृष्ठ ४४५

दृष्टान्त

दृष्टान्त में प्रतिवस्तूपमा से केवल इतना भेद है कि प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्म में जहां वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है वहां दृष्टान्त में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव में धर्म भिन्न होते हैं परन्तु उनमें एक सामान्य तत्त्व होता है। इसके कारण वे सदृश होते हैं:—

"अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।

अनधिगतपरिमला हि हरति दृशं मालतीमाला॥

—सहित्यदर्पण पृष्ठ ५५५

यहां 'कर्णेषु मधुधारावमन' तथा नेत्रहरण भिन्न हैं, परन्तु इनमें एक सामान्य तत्त्व है। यह प्रीतिजनन के रूप में है। अतः 'कर्णेषु मधुधारावमन' तथा नेत्रहरण में सादृश्य है।

धर्मों के सदृश होने के कारण धर्मियों में भी सादृश्य हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में सत्कविभणिति तथा मालतीमाला में भी सादृश्य है। इस प्रकार यहां उपमेय तथा उपमान तथा इनके साधारणधर्मों इन सब में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है। मम्मट की परिभाषा इसी को लक्ष्य करके की गई है:—

"दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्"

—काव्यप्रकाश १०।१५५

प्राचीन आलङ्कारिकों में उद्भट तथा रुद्रट ने इस अलङ्कार का विवेचन किया है। भोज ने साम्यालंकार के एक भेद दृष्टान्तोक्ति का निरूपण किया है तथा इसके अनेकों भेद बताए हैं। इसकी परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हैं:—

"तत्रैवादेः प्रयोगेण दृष्टान्तोक्तिं प्रचक्षते"

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३६

"स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।

जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४३०

इस परिभाषा तथा उदाहरण से स्पष्ट है कि यह भेद उपमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

अर्वाचीन आलङ्कारिकों ने प्रतिवस्तूपमा के समान दृष्टान्त के भी साधर्म्य दृष्टान्त तथा वैधर्म्य दृष्टान्त ये दो भेद किए हैं।

विभाजन के इस आधार का निराकरण प्रतिवस्तूपमा के प्रकरण में किया जा चुका है।

निदर्शना का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव

आलंकारिकों ने निदर्शना नामक एक पृथक् अलंकार माना है, परन्तु इसकी परिभाषाओं तथा इसके उदाहरणों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इस अलंकार का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव किया जा सकता है। अतः इसे पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं।

"निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः"[1] मम्मट की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि मम्मट वस्तुओं के असम्भव सम्बन्ध के उपमा में पर्यवसान को निदर्शना मानते हैं। मम्मट ने निदर्शना की एक अन्य परिभाषा भी की है:—

"स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सापरा"[2]—काव्यप्रकाश सू० १५०

इस परिभाषा के अनुसार मम्मट निदर्शना में वस्तुओं का सम्भव सम्बन्ध भी स्वीकार करते हैं। रुय्यक ने परिभाषा में सम्भव तथा असम्भव इन दोनों सम्बन्धों का सन्निवेश किया है:—

"सम्भवतासम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना।"
—सर्वस्व सू० २७

विश्वनाथ की परिभाषा भी इसी के समान है:—

"सम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र विम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना॥"
—साहित्यदर्पण १०।५१

इन परिभाषाओं पर विचार करने से प्रतीत होगा कि ये परिभाषाएं निदर्शना की अन्य अलंकारों से पृथकता नहीं सिद्ध कर सकतीं। निदर्शना जैसा उपमापर्यवसान तो अनेक अलंकारों में होता है। रूपक, अतिशयोक्ति आदि सभी अलंकारों में ऐसा उपमापर्यवसान होता है। निदर्शना के समान इन अलंकारों में भी वस्तुओं का सम्बन्ध असम्भव माना जा सकता है।

---

१. काव्यप्रकाश सू० १४६

२. मम्मट की यह परिभाषा वामन की परिभाषा के समान है:—
"क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम्" —काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४।३।२०

उदाहरण के लिए रूपक को लें। रूपक के उदाहरण 'मुखं चन्द्रः' में मुख चन्द्रमा के समान है। यदि उपर्युक्त उदाहरण में मुख का चन्द्रमा से सम्बन्ध सम्भव माना जाता है और इस प्रकार पर्यवसान औपम्य में न मानकर ताद्रूप्य में माना जाता है तो यह बात निदर्शना के उदाहरण पर भी समान रूप से चरितार्थ होती है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"यद्दातुः सौम्यता सेयं पूर्णेन्दोरकलंकिता" —कुवलयानन्द पृ० ५९

यहां दाता की सौम्यता पर पूर्णेन्दु की अकलंकिता का आरोप है। यह आरोप सम्भव है। अतः यहां पर्यवसान औपम्य में न होकर आरोप अथवा ताद्रूप्य में है।

जगन्नाथ ने निदर्शना की उपर्युक्त परिभाषाओं के सदोषत्व की ओर निर्देश किया है। वे कहते हैं—

"यत्तु तेनैव लक्षणं निर्मितम्—'संभवता असम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानमौपम्यं निदर्शना' इति। तदपि न। रूपकातिशयोक्त्यादिष्वतिव्यापनात्।" —रसगंगाधर पृ० ४६२

जगन्नाथ का यह कथन उचित ही है। परन्तु वे निदर्शना की भिन्न परिभाषा करके इसे स्वतन्त्र अलंकार सिद्ध करने में सफल हुए हों ऐसी बात नहीं। जगन्नाथ की परिभाषा इस प्रकार है.—

"उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना"

—रसगंगाधर पृ० ४५६

जगन्नाथ ने यहां अभेद के साथ आर्थ शब्द का सन्निवेश करके निदर्शना को रूपक से भिन्न सिद्ध किया है। इनके अनुसार रूपक में अभेद शाब्द होता है। अन्वय के प्रथम बोध में ही इसकी प्रतीति हो जाती है। निदर्शना में इसके विपरीत प्राथमिक अन्वयबोध में अभेद की प्रतीति नहीं होती परन्तु अर्थ का अनुसन्धान करने पर बाद में यह प्रतीति होती है।[1]

जगन्नाथ का यह मत युक्तिसंगत नहीं। हमें ताद्रूप्यप्रतीति अर्थ पर विचार करने से ही होती है। शब्दों का श्रवणमात्र ताद्रूप्यप्रतीति नहीं

---

१. 'वाच्यरूपकवारणाय आर्थ इति। आर्थत्वं च प्राथमिकान्वयबोधविषयत्वम्।" —रसगंगाधर पृष्ठ ४५६

करा सकता। रूपक में भी जो ताद्रूप्यप्रतीति होती है वह अर्थ पर विचार करने के फलस्वरूप होती है। अतः शाब्द तथा आर्थ के आधार पर अर्थ का विभाजन उचित नहीं। इसका निरूपण आर्थी उपमा के निराकरण के समय किया जा चुका है। निदर्शना के निम्नलिखित उदाहरण से भी यह स्पष्ट है कि इसे रूपक का उदाहरण मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती:—

"त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्तमज्ञास्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक शोधयन्तः।
विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्तं चिन्तामणिं क्षितिरजःसु गवेषयन्ति।"
—रसगंगाधर पृ० ४५७

यहां शिव के अन्यत्र परिशोधन पर कण्ठस्थ चिन्तामणि के धूलि में गवेषण का आरोप है। इस प्रकार यह रूपक का उदाहरण है। जगन्नाथ के अनुसार यहां शोधनकर्ता तथा गवेषणकर्ता का अभेद है। कर्ताओं के इस अभेद के फलस्वरूप अर्थ पर विचार करने से उनकी क्रियाओं में अभेदप्रतीति होती है। यह अभेदप्रतीति निदर्शनालंकार का विषय है।[1]

जगन्नाथ का यह मत उचित नहीं। स्वतः कर्ताओं का अभेद कोई अर्थ नहीं रखता। कर्ताओं के साथ उनकी क्रियाएं जुड़ी रहती हैं तथा कर्ताओं का अभेद उन क्रियाओं के अभेद के फलस्वरूप ही होता है। वैयाकरण तो इससे भी आगे बढ़ गए हैं। उनके अनुसार प्रधानता क्रिया की होती है। अतः जब क्रियाओं के सद्भाव की दशा में अभेद दिखाया जाता है तब यह अभेद क्रियाओं में ही होता है और यह अभेद शाब्दबोध का विषय होता है। अतः आर्थ अभेद के आधार पर निदर्शना मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

यदि जगन्नाथ अभेद के आर्थत्व के आधार पर पृथक् अलङ्कार की

---

१. "एवं चारोपाध्यवसानमार्गबहिर्भूत आर्थ एवाभेदो निदर्शनाजीवितम्। स च कर्त्राद्यभेदप्रतिपादनद्वारा प्रतिपाद्यते वाक्यार्थनिदर्शनायाम्॥"
—रसगंगाधर पृष्ठ ४६३

२. "अत्र 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति यास्कोक्तरीत्या क्रियाविशेष्यकबोधवादिनां शाब्द एवाभेदारोपः क्रिययोरिति मुखं चन्द्र इत्यादाविव रूपकमुचितम्।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ४६६

कल्पना करते हैं तो उन्हें उन सब स्थानों पर जहां अर्थगम्यत्व विद्यमान रहता है पृथक् अलंकार मानने चाहिएं। परन्तु ऐसी बात नहीं।

"क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥" — रसगंगाधर पृ० ४६३

इस उदाहरण में विषय का उपादान नहीं। यह अर्थगम्य है। यह 'अल्पमत्या सूर्यवंशवर्णकः' के रूप मे है। जगन्नाथ की परिभाषा के अनुसार निदर्शना में विषय तथा विषयी दोनों का उपादान होना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण में यह बात नहीं। अतः इसे निदर्शना का उदाहरण न मानकर ललित का उदाहरण मानना उचित होगा। परन्तु जगन्नाथ इसे निदर्शना का ही उदाहरण मानते हैं:—

"ननु अत्र निदर्शना नैव संगच्छते। विषयिण उपादानेऽपि विषयस्यानुपात्तत्वात्। उभयोपादानं हि तत्रावश्यकम्। अतो ललितालंकार उचित इति चेत्, ललितालंकारनिराकरणावसरे एवैतद्व्यक्तमुपपादयिष्यामः।"
—रसगंगाधर पृ० ४६३

"इह तावदलंकारा. प्रायशः श्रौता आर्थाश्च सम्भवन्ति। तत्र श्रौतेभ्य आर्था न पृथगलंकारत्वेन गण्यन्ते किन्तु पृथग्भेदत्वेन तदलंकारसामान्यलक्षणेन क्रोडीकरणात्।" —रसगंगाधर पृ० ६७६

इस प्रकार जगन्नाथ जिस अर्थगम्यत्व को एक स्थान पर भिन्न अलंकार का प्रयोजक मानते हैं उसे अन्य स्थान पर वैसा नहीं मानते।

आलंकारिकों ने प्रायः निदर्शना के असम्भवन्वस्तुसम्बन्धा तथा सम्भवन्वस्तुसम्बन्धा ये दो भेद किए हैं।[1] असम्भवन्वस्तुसम्बन्धा के उन्होंने

---

१. उद्भट, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि इन दोनों सम्बन्धों को मानते हैं। दीक्षित ने तीन निदर्शनाओं का निरूपण किया है (कुवलयानन्द पृष्ठ ५२-६४)। इनकी प्रथम दो निदर्शनाओं का अन्तर्भाव असंभवन्वस्तुसम्बन्धा के अन्तर्गत किया जा सकता है तथा तृतीय का अन्तर्भाव सम्भवन्वस्तुसम्बन्धा में किया जा सकता है। इस तृतीय निदर्शना की परिभाषा दण्डी की परिभाषा के समान है:—

"अपरां बोधनं प्राहुः क्रिययाऽसत्सदर्थयोः" —कुवलयानन्द १६। ५५

"अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित् तत्सदृशं फलम्।

पुनः दो भेद किए हैं। ये वाक्यार्थनिदर्शना तथा पदार्थनिदर्शना हैं।[1] वाक्यार्थनिदर्शना का उदाहरण 'यद्दातुः सौम्यता सेयं पूर्णेन्दोरकलंकिता' अथवा 'त्वामन्तरात्मनि..................' है। इन उदाहरणों का रूपक में अन्तर्भाव किया जा चुका है।

पदार्थनिदर्शना का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"इन्दुशोभां वहत्यास्यम्।"

इसका अन्तर्भाव उपमा में किया जा सकता है। 'मुख चन्द्रमा की शोभा धारण करता है' इस वाक्य का यही अर्थ है कि मुख चन्द्रमा के समान शोभावाला है। यहां मुख का चन्द्रमा से सादृश्य है। यह सादृश्य साधारणधर्म शोभा के कारण है। 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में जिस प्रकार उपमा है उसी प्रकार यहां भी उपमा है। यह कहना उचित नहीं कि यहां उपमावाचक शब्द का निर्देश नहीं अतः यहां उपमा नहीं हो सकती। यहां भी 'शोभां वहति' के द्वारा साधारणधर्म शोभा तथा औपम्य इन दोनों का बोध होता है।

आलङ्कारिकों ने उपर्युक्त पंक्ति की भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। उनके अनुसार एक वस्तु अन्य वस्तु के धर्म को धारण नहीं कर सकती। अतः इसका अर्थ होगा कि वह उस धर्म के सदृश धर्म को धारण करती है। इस प्रकार पर्यवसान उपमा में होगा।[2]

आलंकारिकों का यह मत समीचीन नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में हमें सीधे ही यह प्रतीति हो जाती है कि मुख चन्द्रमा के समान है। मुख चन्द्रमा की शोभा धारण नहीं कर सकता अतः उस शोभा के सदृश

सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत् स्यान्निदर्शनम्॥"—काव्यादर्श २। ३४८

भामह, दण्डी तथा वामन ने केवल संभवन्वस्तुसम्बन्धा का निरूपण किया है।

१. ये भेद मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, दीक्षित आदि ने किए हैं। विश्वनाथ ने इनका नाम वाक्यार्थनिदर्शना तथा पदार्थनिदर्शना न रखकर एकवाक्यगता तथा अनेकवाक्यगता निदर्शना रखे हैं:—

'असंभवन्वस्तुनिदर्शना त्वेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा।'

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५५६

२. "उभयत्राप्यन्यधर्मस्यान्यत्रासंभवेन तत्सदृशधर्माक्षेपादौपम्ये पर्यवसानम् तुल्यम्।"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ६०

शोभा को धारण करता है इस प्रकार की प्रतीति हमें मुख तथा चन्द्रमा की सादृश्यप्रतीति से पूर्व नहीं होती । यदि इस प्रकार की प्रतीति उपर्युक्त उदाहरण मे मानी जाती है तो 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' में भी यह प्रतीति माननी चाहिए । 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' मे मुख को कमल के समान कहा गया है। इस समानता का आधार साधारणधर्म सौन्दर्य है। मुख का सौन्दर्य तथा कमल का सौन्दर्य वस्तुतः भिन्न हैं। अतः पदार्थी निदर्शना को भिन्न अलंकार मानने वाले आलंकारिकों के तर्क के अनुसार मुख कमल के समान सुन्दर न होना चाहिए । परन्तु यहां मुख को कमल के समान बताया गया है और हमे वैसी प्रतीति होती भी है। मुख तथा कमल के सौन्दर्य वस्तुतः भिन्न होने पर भी हमें अभिन्न प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार यद्यपि एक वस्तु वस्तुतः अन्य वस्तु के धर्म को धारण नही कर सकती परन्तु अलंकारजन्य चमत्कार की स्थिति में हमें इसकी प्रतीति नहीं होती । अलंकारजन्य आहार्य ज्ञान वास्तविक ज्ञान से भिन्न है। अतः वास्तविक ज्ञान के नियम इस पर लागू नहीं हो सकते ।

संभवन्वस्तुसम्बन्धा का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"चूडामणिपदे धत्ते योऽम्बरे रविमागतम् ।
सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः ।।"

—रसगंगाधर पृ० ४६४

यहां आकाश में आए हुए रवि को सिर पर धारण करना आरोप का विषय है तथा सज्जनों का आतिथ्य करना चाहिए इस प्रकार गृहमेधियों को बताना आरोप्यमाण है। इस प्रकार यहां 'शिरसा रविधारणम्' पर 'गृहमेधिकर्मकबोधनम्' का आरोप है। अतः यह रूपक का उदाहरण कहा जा सकता है ।

ललित अलंकार का रूपक में अन्तर्भाव

अप्पयदीक्षित ने ललित नामक एक पृथक् अलंकार का निरूपण किया है। इनके अनुसार इस अलंकार में वर्ण्यवस्तु में वर्ण्य वृत्तान्त का वर्णन न करके उसके प्रतिबिम्बरूप किसी अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन होता है:—

"वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्"

—कुवलयानन्द ६६। १२८

इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥" —रघुवंश १। १

दीक्षित के अनुसार यहां 'अल्पमति से सूर्यवंश के वर्णन का इच्छुक हूँ' यह प्रस्तुत वृत्तान्त है। इसका यहां वर्णन न करके इसके प्रतिबिम्ब-भूत 'उडुप के द्वारा सागर पार करने का इच्छुक हूँ' इस अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन किया गया है। अतः यह ललित अलंकार है।[1]

जगन्नाथ आदि ने इस अलंकार का अन्तर्भाव निदर्शना में किया है। इनके अनुसार निदर्शना में दो अर्थों का आर्थ अभेद होता है।[2] उपर्युक्त उदाहरण में 'अल्पविषयया मत्या सूर्यवंशं वर्णयितुमिच्छुरहम्' तथा 'उडुपेन सागरं तितीर्षुरस्मि' इन दोनों में अभेद है और इससे अर्थ यह निकलता है कि 'मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनस्येच्छा' तथा 'उडुपेन सागर-तरणेच्छा में अभेद है। अतः यह निदर्शना है।

दीक्षित आदि का कहना है कि यहां 'अल्पविषयया मत्या सूर्यवंशं वर्णयितुमिच्छुरहम्' इस अर्थ का उपादान नहीं। निदर्शना

---

१. 'अल्पविषयया मत्या सूर्यवंशं वर्णयितुमिच्छुरहमिति प्रस्तुतवृत्तान्ता-नुपन्यासात्तत्प्रतिबिम्बभूतस्य उडुपेन सागरं तितीर्षुरस्मीत्यप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वर्णनेन.............................ललितालंकारः।'

—कुवलयानन्द पृष्ठ १४६

२. "व्यवहारद्वयवद्धर्म्यभेदप्रतिपादनाच्चितो व्यवहारद्वयाभेदः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ६७६

में दोनों अर्थों का उपादान आवश्यक है। अतः यहां निदर्शना नहीं हो सकती।

जगन्नाथ आदि इसके उत्तर में कहते हैं कि निदर्शना के लिए दोनों अर्थों का शब्दों द्वारा उपादान आवश्यक नहीं। आवश्यकता इतनी ही है कि दोनों अर्थों का प्रतिपादन हो।[1] यह प्रतिपादन जिस प्रकार दोनों के श्रौत अथवा शब्दोपात्त होने की दशा में सम्भव है उस प्रकार यह उन दोनों में से एक के श्रौत तथा अन्य के आर्थ होने पर भी सम्भव है। अतः उपर्युक्त उदाहरण में निदर्शना ही है।

अतः यह स्पष्ट है कि दीक्षित के इस ललित अलंकार का अन्तर्भाव जगन्नाथ की निदर्शना में किया जा सकता है। जगन्नाथ की निदर्शना का अन्तर्भाव हम रूपक में कर चुके हैं। अतः इस ललित का अन्तर्भाव भी रूपक में किया जा सकता है।

१. "तत्र व्यवहारद्वयवद्धर्म्यभेदस्य प्रतिपादनं श्रौतमेवापेक्षितमिति न नियमः। किं तु प्रतिपादनमात्रम्।" —रसगंगाधर

दीपक

दीपक में हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध होता है।[1] यहां प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं में सादृश्य भी होता है, परन्तु यह हमारी दृष्टि का प्रधान विषय नहीं होता। सादृश्यप्रतीति एकधर्माभिसम्बन्ध के फलस्वरूप होती है। उसका यहां स्पष्ट निर्देश नहीं होता। निम्नलिखित परिभाषा तथा उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"प्रकृतानामप्रकृतानां चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्।"[2]

—रसगंगाधर पृ० ४३१

---

१. आलङ्कारिकों को प्रायः यही मत मान्य है। परन्तु दण्डी तथा भोज आदि का मत इससे भिन्न है। इनके अनुसार यदि एक वाक्य में स्थित कोई पद समस्त वाक्यों का उपकारक हो तो दीपक अलङ्कार होता है:—

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपरकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा॥ —काव्यादर्श २। ९७

दण्डी की परिभाषा इसी का अनुकरण है।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इन आलङ्कारिकों के अनुसार दीपक के लिए सादृश्यमूलक होना आवश्यक नहीं। इनके दीपक के निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

'पवनो दक्षिणः पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम्।
स एवानतांगीनां मानभंगाय कल्पते॥' —कव्यादर्श २। ९८

यहां पूर्व वाक्य में स्थित पवन 'सः' के रूप में प्रयुक्त होकर द्वितीय वाक्य का उपकार करता है। परन्तु इससे यहां किसी प्रकार का सादृश्य प्रतीत नहीं होता। अतः इस प्रकार के अलङ्कार सादृश्यमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत नहीं आते।

२. "प्रागवदेवात्राप्यौपम्यस्य गम्यत्वम्" —रसगंगाधर पृष्ठ ४३१

"प्रकृताप्रकृतयोः सजातीयधर्मसम्बन्धस्योपमायां पर्यवसानादिति भावः। सा चोपमा व्यंग्यैव वाचक (इवादिशब्द) विरहात्।"

उद्योत—बालबोधिनी पृ० ६३९

"मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः ।"—कुवलयानन्द १५ । ४८

यहां कलभ तथा महीपति का एक भान धर्म से सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध ही यहां चमत्कार का कारण है। कलभ तथा महीपति में जो सादृश्यप्रतीति होती है वह इस सम्बन्ध के फलस्वरूप होती है। यही कारण है कि दीपक में औपम्य व्यंग्य कहा गया है।

प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का जिस धर्म से सम्बन्ध होता है वह गुण, क्रिया आदि में से कोई भी हो सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में यह क्रिया है। गुण के साथ सम्बन्ध का उदाहरण इस प्रकार है:—

"श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपंक्तिभिः ।
भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः ॥"

—उद्योत—बालबोधिनी पृष्ठ ६४०

एकधर्माभिसम्बन्ध में सम्बन्ध से तात्पर्य शब्दों का व्याकरणगत सम्बन्ध नहीं अपितु शब्दों से अभिव्यक्त होने वाले पदार्थों का समवायादि सम्बन्ध है। उपर्युक्त उदाहरण में यही बात है। यहां कलभ तथा महीपति का जिस भानक्रिया से सम्बन्ध है वह क्रिया इन वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध के द्वारा विद्यमान है। जहां वस्तुओं का सम्बन्ध केवल व्याकरण का विषय होता है वहां दीपक अलंकार मानना उचित नहीं। अतः क्रियाओं के एक कारक से सम्बन्ध के स्थल पर यह अलंकार सम्भव नहीं। निम्नलिखित उदाहरण इसका समर्थक है:—

"स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणाया वधूः शयने ॥"

—काव्यप्रकाश १०।४५८

यहां स्वेदन आदि क्रियाओं का वधू के कर्ता कारक से तथा शयन के अधिकरण कारक से सम्बन्ध है, परन्तु यह सम्बन्ध केवल भाषा अथवा व्याकरण का विषय है। इस सम्बन्ध के द्वारा स्वेदन आदि में वधू तथा शयन का सद्भाव नहीं होता। शयन का तो इन चेष्टाओं से कोई सम्बन्ध ही नहीं। ये चेष्टाएं शयन पर होती हैं केवल इतने से इन चेष्टाओं का एक धर्म से सम्बन्ध नहीं हो सकता। वधू का इन चेष्टाओं से सम्बन्ध अवश्य है। परन्तु वधू यहां धर्मी है और उसकी ये चेष्टाएं उसके धर्म हैं।

यदि एक धर्मी में अनेक धर्म हों तो हम यह नहीं कह सकते कि उन धर्मों का एक धर्म से सम्बन्ध है। मम्मट आदि का मत इससे भिन्न है। उन्होंने उपर्युक्त उदाहरण में दीपक अलंकार माना है। उनके अनुसार अनेक क्रियाओं का एक कारक से सम्बन्ध भी दीपक का लक्षण हो सकता है:—

"सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्"[1] —काव्यप्रकाश १०।१५६

मम्मट का यह मत उचित नहीं। मम्मट द्वारा किया गया दीपक का प्रथम लक्षण 'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतानाम्'[2] तो उपर्युक्त उदाहरण पर लागू नहीं होता। अतः दीपक के इस द्वितीय लक्षण को प्रथम लक्षण से सर्वथा भिन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार दीपक के दो पृथक् लक्षण हो जाएंगे। यह उचित नहीं। प्रत्येक अलंकार का एक सामान्य लक्षण होता है और वह इसके सब भेदों पर लागू होता है।

दूसरे दीपक एक सादृश्यमूलक अलंकार है। अतः इसमें औपम्य का होना आवश्यक है। उद्भट, जगन्नाथ आदि को यही मत मान्य है।[3] मम्मट की द्वितीय परिभाषा के अनुसार दीपक से इस औपम्य तत्त्व का बहिष्कार हो जाएगा। इसी बात को लक्ष्य करके जगन्नाथ ने मम्मट की आलोचना की है।[4]

दीपक में विद्यमान साधारणधर्म में अनुगामिता के साथ साथ बिम्ब-

---

१. इस कारकदीपक को रुद्रट ने भी माना है:—
"यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा॥" —काव्यालंकार

२. काव्यप्रकाश १०।१५६

३. "आदिमध्यान्तविषया प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥"—काव्यालङ्कारसारसंग्रह १।१४
"प्रकृतानामप्रकृतानां चैकधर्मान्वयो दीपकम्।
प्राग्वदेवात्राप्यौपम्यस्य गम्यत्वम्॥" —रसगंगाधर पृष्ठ ४३१

४. "लक्षणद्वयस्याननुगतत्वाच्च। तादृशलक्षणद्वयान्यतरवत्त्वस्य लक्षणत्वे गौरवादुपप्लवप्रसंगाच्च।........किं च दीपकतुल्ययोगितादौ गम्यमानमौपम्यं जीवातुरिति सर्वेषां संमतम्। न चात्र स्वेदनकूणनादीनामेककारकान्वितानामप्यौपम्यं कविसंरम्भगोचरः।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४३४

प्रतिबिम्बभाव भी हो सकता है। दीपक के लिए केवल इतना आवश्यक है कि वहां साधारणधर्म के एक अंश में अनुगामिता होनी चाहिए। समस्त साधारणधर्म में अनुगामिता होना आवश्यक नहीं।

"लता कुसुमभारेण शीलभारेण सुन्दरी।
कविता चार्थभारेण श्रयते काममपि श्रियम्॥" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४३८

यहां 'श्रियम् श्रयते' में अनुगामिता है, परन्तु कुसुम, शील आदि में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।[1]

मम्मट आदि ने दीपक का मालादीपक नामक एक और भेद माना है।[2] इसकी परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हैं:—

"मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्" —काव्यप्रकाश १०।१५७

यथा—संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलम्
तेन त्वं भवता च कीर्तिरमला कीर्त्या च लोकत्रयम्॥

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६४२

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यह उदाहरण दीपक के अन्तर्गत नहीं आता। दीपक में सादृश्य का होना आवश्यक है। यहां ऐसी बात नही। यह कहना उचित नहीं कि यहां कोदण्ड आदि में समासादन धर्म है अतः उनमें सादृश्य है। यहां कोदण्ड आदि के शर, शिरः आदि तक समासादन से यह तात्पर्य नहीं कि कोदण्ड, शर आदि समान हैं अपितु यह तात्पर्य है कि कोदण्ड के द्वारा शरसमासादन तथा शर के द्वारा शिरःसमासादन आदि में से आद्य वस्तु उत्तर वस्तु की उपकारक है। इसी बात को लक्ष्य करके जगन्नाथ ने मालादीपक का परिहार किया है।[3]

---

१. "अत्र बिम्बप्रतिबिम्बतायां न केवलं क्रियारूपमनुगामिमात्रं चमत्कारकारणम् अपितु कुसुमादिबिम्बप्रतिबिम्बकरम्बितम्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४३८

२. दण्डी तथा भोज भी दीपक के इस भेद को मानते हैं। देखिए काव्यादर्श परि० २ श्लो० १०८ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण परि० ४ श्लो० ७८।

३. "वस्तुतस्त्वेतद्दीपकमेव न शक्यं वक्तुम्, सादृश्यसम्पर्काभावात्।"
—रसगङ्गाधर पृष्ठ ४३६

अप्पयदीक्षित ने आवृत्तिदीपक नामक एक अन्य दीपक माना है।[1] इसके इन्होंने तीन भेद किए हैं शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति तथा उभयावृत्ति।[2] शब्दावृत्ति दीपक का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"वर्षत्यम्बुदमालेयं वर्षत्येषा च शर्वरी" —कुवलयानन्द १६।४९

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि इसे दीपक का उदाहरण मानना उचित नहीं। यहां दीपक के आवश्यक तत्त्व एकधर्माभिसम्बन्ध का अभाव है। अम्बुदमाला में जो वर्षणक्रिया है वह शर्वरी की वर्षक्रिया से सर्वथा भिन्न है। पहली क्रिया का अर्थ 'वृष्टि करना' है तो दूसरी का वर्ष के समान आचरण करना है। इस प्रकार दोनों शब्दों में अर्थभेद होने के कारण अम्बुदमाला तथा शर्वरी में एकधर्माभिसम्बन्ध के आधार पर सादृश्य सम्भव नहीं। दूसरे यहां अम्बुदमाला तथा शर्वरी दोनों प्रस्तुत हैं। दीपक में इसके विपरीत प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का सन्निवेश आवश्यक है।

आवृत्तिदीपक के अन्य दो भेदों के उदाहरण इस प्रकार हैं:—

"उन्मीलन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमाः"

—कुवलयानन्द १६।५०

"माद्यन्ति चातकास्तृप्ता माद्यन्ति च शिखावलाः"

—कुवलयानन्द १६।५०

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि यहां वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध अवश्य है, परन्तु कमी केवल इतनी है कि ये वस्तुएं प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत न होकर प्रस्तुत हैं। यदि इन वस्तुओं में से एक अप्रस्तुत हो तो ये दीपक के उदाहरण हो सकते हैं।

कतिपय आलङ्कारिकों के अनुसार दीपक के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं में एक धर्म हो परन्तु यह भी

---

१. दण्डी तथा भोज ने भी यह भेद स्वीकार किया है। देखिए काव्यादर्श २।११६ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण ४।७८

२. "त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम्।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ५३

"दीपकस्यानेकोपकारार्थतया दीपस्थानीयस्य पदस्यार्थस्योभयोर्वाऽऽवृत्तौ त्रिविधमावृत्तिदीपकम्।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ५४

आवश्यक है कि उस धर्म का शब्द द्वारा निर्देश भी केवल एक बार हो।[१]

इन आलङ्कारिकों का यह मत उचित नहीं। दीपक के लिए धर्म का सकृत् निर्देश आवश्यक मानना उचित नहीं। दीपक के लिए आवश्यक केवल एक वस्तु है और वह है प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का एक एकधर्माभिसम्बन्ध। यह एकधर्माभिसम्बन्ध जिस प्रकार धर्म के सकृत निर्देश की अवस्था में सम्भव है उसी प्रकार उसके असकृत् निर्देश की अवस्था में भी सम्भव है। उपर्युक्त उदाहरण में 'माद्यन्ति' का दो बार निर्देश है परन्तु इससे चातक तथा शिखावल में मादनधर्म के आधार पर सादृश्य होने में अन्तर नहीं आता। यहां जो मादन धर्म चातक में है वही शिखावल में है। इस प्रकार दोनों का एक ही मादन धर्म से सम्बन्ध है।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि धर्म के असकृत् निर्देश की अवस्था में दीपक सम्भव है तो प्रतिवस्तूपमा तथा दीपक में भेद का क्या आधार है। प्रतिवस्तूपमा में भी एक सामान्यधर्म का पृथक् पृथक् निर्देश होता है और यही बात दीपक में भी सम्भव है। अतः दोनों अलंकारों में कोई भेद न रहेगा।

इसका उत्तर इस प्रकार है:—प्रतिवस्तूपमा में सामान्यधर्म एक अवश्य होता है, परन्तु आश्रय के भेद से उसमें भेद होता है। "धन्यासि वैदर्भि !............" में समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण एक हैं। परन्तु विभिन्न आश्रयों से सम्बद्ध होने के कारण इनके रूप में कुछ भेद अवश्य है। समाकर्षण का सम्बन्ध वैदर्भी तथा नैषध से है। उत्तरलीकरण का सम्बन्ध चन्द्रिका तथा समुद्र से है। वैदर्भी के द्वारा नैषध का समाकर्षण चन्द्रिका के द्वारा समुद्र के उत्तरलीकरण से भिन्न है। वैदर्भी के द्वारा नल का समाकर्षण दो चेतन प्राणियों का सम्बन्ध है। इसका कोई मूर्त रूप नहीं।

---

१. "सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्" —काव्यप्रकाश १०।१५६

'अत्र सुत्रे सकृत्पदोपादानात् यत्र प्रतिस्वं (प्रत्येकं) भिन्ना धर्माः, एकस्यैव सर्वत्रोपादानं तत्र नातिप्रसंगः।—यथा—

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधापि मधुरैव। तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्"—प्रदीप—बालबोधिनी पृष्ठ ६४२

यह केवल अनुभूति का विषय है। चन्द्रिका तथा समुद्र का सम्बन्ध दो जड पदार्थों का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप समुद्र में उत्पन्न उत्तरली-करण का मूर्तस्वरूप है और यह तरङ्गों के उभार के रूप में हमारी दृष्टि का विषय बनता है। दीपक मे विद्यमान सामान्यधर्म में इस प्रकार का भेद नहीं होता।

तुल्ययोगिता

तुल्ययोगिता में दीपक से केवल इतना अन्तर है कि दीपक में एकधर्माभिसम्बन्ध प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं में होता है परन्तु तुल्ययोगिता में वह प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत वस्तुओं में होता है। यह मत अर्वाचीन आलङ्कारिकों का है। इसका विवेचन पूर्व किया जा चुका है। प्राचीन आलंकारिकों में केवल उद्भट का ऐसा मत है। भामह, दण्डी, वामन तथा भोज का मत इससे भिन्न है। इन्होंने अपनी परिभाषाओं में प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का सन्निवेश नहीं किया है:—

"न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता॥" —भामहालंकार ३।२७

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता॥ —कव्यादर्श २।३३०

इन परिभाषाओं के प्रभाव में आकर दीक्षित ने भी इस प्रकार की तुल्ययोगिता का उल्लेख किया है:—

"गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता।"—कुवलयानन्द १५।४७

इन परिभाषाओं में दो तत्त्व हैं—एकधर्माभिसम्बन्ध तथा उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट वस्तु के साथ सम्बन्ध। इनमें प्रथम तत्त्व से हमारा कोई विरोध नहीं। हम भी तुल्ययोगिता में इस तत्त्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। हमने तुल्ययोगिता में प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का जो सन्निवेश किया है उस पर हमारा कोई आग्रह नहीं और न ही हम इस सन्निवेश को पृथक् अलंकार होने का हेतु बताते हैं। यही कारण है कि हमने दीपक तथा तुल्ययोगिता को एक ही अलंकार के अन्तर्गत माना है।

प्राचीनों की परिभाषा के द्वितीय तत्त्व से हमारा विरोध अवश्य है। किसी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ जो समीकरण होता है वह उनमें विद्यमान किसी साधारणधर्म को लक्ष्य करके होता है और इस साधारणधर्म से उनका सम्बन्ध ही चमत्कार का कारण होता है। उन वस्तुओं में से कुछ का उत्कृष्ट होना कोई अर्थ नहीं रखता। वस्तुओं का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष

उनमें निर्दिष्ट साधारणधर्म के आधार पर होता है और यह साधारणधर्म यहां उन वस्तुओं में से कतिपय में उत्कर्ष तथा कतिपय में अपकर्ष की प्रतीति न कराकर उनमें सादृश्य की प्रतीति कराता है।

अप्पयदीक्षित हित तथा अहित में वृत्ति की तुल्यता नामक तुल्ययोगिता का एक अन्य भेद मानते हैं:—

"हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।
प्रदीयते पराभूतिर्मित्रशात्रवयोस्त्वया॥" —कुवलयानन्द १४।४६

जगन्नाथ भी उपर्युक्त उदाहरण में तुल्ययोगिता मानते हैं, परन्तु उनके अनुसार इसके लिए पृथक् भेद-कल्पना की आवश्यकता नहीं। तुल्ययोगिता की सामान्य परिभाषा से ही काम चल जाएगा।[1]

इन आलंकारिकों के द्वारा उपर्युक्त उदाहरण में तुल्ययोगिता मानना उचित नहीं। तुल्ययोगिता के लिए वस्तुओं का एकधर्माभिसम्बन्ध आवश्यक है। उपर्युक्त उदाहरण में यह बात नहीं। यहां पराभव के दो अर्थ निकलते हैं—उत्कृष्ट भूति तथा पराभव। मित्र के साथ पराभूति का अर्थ उत्कृष्ट भूति लगता है तथा शत्रु के साथ पराभव लगता है। अतः यहां मित्र तथा शत्रु का एक धर्म से सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार की एक तुल्ययोगिता का उल्लेख भोज ने भी किया है:—

अन्ये सुखनिमित्ते च दुःखहेतौ च वस्तुनि।
स्तुतिनिन्दार्थमेवाहुस्तुल्यत्वे तुल्ययोगिताम्॥ —४।५५

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४७५

इस उदाहरण में राम की दो विभिन्न परिस्थितियों में आकारपरिवर्तन के अभाव को लेकर सादृश्य है। अतः यहां तुल्ययोगिता सम्भव है।

१. "'हिताहिते वृत्तितौल्यम्……' इत्यादिना तुल्ययोगितायाः प्रकारान्तरं यत्कुवलयानन्दकृता लक्षितमुदाहृतं च तत्परास्तम्। अस्या अपि 'वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता' इति पूर्वलक्षणाक्रान्तत्वात्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ४२६

सहोक्ति

तुल्ययोगिता आदि से सहोक्ति में केवल इतना भेद है कि तुल्ययोगिता में वस्तुओं का एक धर्म से जो सम्बन्ध होता है वह प्रधान रूप से होता है परन्तु सहोक्ति में कतिपय वस्तुओं का सम्बन्ध प्रधान रूप से तथा कतिपय का गौण रूप से होता है। अतः इस आंशिक भेद के कारण इसे पृथक् अलंकार न मानकर तुल्ययोगिता आदि का भेद मानना उचित होगा। इसका विवेचन पूर्व किया जा चुका है।

सहोक्ति के अलंकारत्व के लिए आलंकारिक प्रायः एक और तत्त्व मानते हैं। यह है इसकी अतिशयोक्तिमूलकता। अतिशयोक्ति के अभाव में वस्तुओं का गुणप्रधानभाव से एकधर्माभिसम्बन्ध चमत्कार का कारण नहीं हो सकता। 'पुत्रेण सह पिता गच्छति' में पुत्र तथा पिता का क्रमशः गौणरूप से तथा प्रधानरूप से एक गमन क्रिया से सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु इस उक्ति के मूल में अतिशयोक्ति नहीं। वस्तुओं का साधारण वर्णनमात्र है। अतः यहां सहोक्ति अलंकार नहीं।[1]

सहोक्ति के मूल में स्थित अतिशयोक्ति के रुय्यक ने प्रथम दो भेद किए हैं। ये कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा तथा अभेदाध्यवसायरूपा हैं। अभेदाध्यवसाय के उन्होंने फिर दो भेद किए हैं। ये श्लेषभित्तिक तथा ..।[2]

विश्वनाथ का भी यही मत है। जगन्नाथ का इनसे कुछ मतभेद है। ये कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक सहोक्ति को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार यह सहोक्ति न होकर अतिशयोक्ति है:—

"'केशैर्वधूनाम्' इत्यादौ पौर्वापर्यविपर्ययानुप्राणिता सहोक्तिरलंकार इति न युक्तम्। अतिशयोरेवात्र चमत्कृत्याधायकत्वेन सहोक्तेर्नाममात्रत्वात्। 'तव कोपोऽरिनाशश्च जायते युगपन्नृप' इत्यस्मादतिशयोक्त्यलंका-

---

१. "पुत्रेण सह पिता गच्छति' इत्यादौ अलंकाराभावात् अतिशयोक्तिमूलिकैव चमत्कारजनिका सहोक्तिरलंकारः।"—बालबोधिनी पृष्ठ ६७३

२. तत्रापि नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः। सा तु कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च। अभेदाध्यवसायश्च श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा।... एतद्विशेषपरिहारेण सहोक्तिमात्रं नालंकारः।—अलंकारसर्वस्व पृष्ठ ८६, ८७

रात् 'तव कोपो अरिनाशेन सहैव नृप जायते' इत्यत्र गुणभावमात्रकृतवैलक्ष-ण्येऽपि विच्छित्तेरविशेषात् तस्यैव चालंकारविभाजकत्वात् ।"

—रसगंगाधर पृ० ४८६

जगन्नाथ का यह मत सर्वथा उचित है। "केशैर्वधूनामथ सर्वकोषैः प्राणैश्च साकं प्रतिभूपतीनाम् । त्वया रणे निष्करुणेन राजंश्चापस्य जीवा चकृषे जवेन—"[1] इस उदाहरण में केश आदि के साथ जीवा का कर्षण क्रिया से सम्बन्ध चमत्कार का कारण नहीं अपितु केशादि के समाकर्षण तथा जीवा के समाकर्षण में विद्यमान कालगत सामीप्य का समकालीनत्व के द्वारा निगरण चमत्कार का कारण है। यदि यहां केश आदि का समा-कर्षण धर्म से सम्बन्ध चमत्कार का कारण हो तो एकधर्माभिसम्बन्ध के आधार पर केशादि तथा जीवा में सादृश्यप्रतीति होनी चाहिए । परन्तु हमें इनमें किसी प्रकार की सादृश्यप्रतीति नहीं होती। अतः यहां एकधर्मा-भिसम्बन्ध के आधार पर सहोक्ति मानना उचित नहीं।

उपर्युक्त उदाहरण में कवि का तात्पर्य यह नहीं कि केशादि तथा जीवा में एक समाकर्षण धर्म है अपितु यह तात्पर्य है कि केशादि का समाकर्षण तथा जीवा का समाकर्षण समकालीन हैं। अतिशयोक्ति में ऐसा ही होता है। 'तव कोपोऽरिनाशश्च जायते युगपन्नृप' इस उदाहरण से यह स्पष्ट है।

केवल सह शब्द के सद्भाव से यह नहीं कहा जा सकता कि यहां सहोक्ति अलंकार है। सह शब्द के द्वारा द्योतित सहभाव यहां केवल गौण है। यह समकालीनता के द्वारा कालगत सामीप्य के निगरण के रूप में अभिव्यक्त अतिशयोक्ति का कारण है। अतः उसी के अन्तर्गत है। जगन्नाथ का यही मत है।[2]

श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूला सहोक्ति का उदाहरण आलंकारिकों ने निम्नलिखित बताया है:—

---

१. रसगंगाधर पृष्ठ ४८१

२. "अपि च सादृश्यप्रयुक्तरूपकादिषु सादृश्यस्य गुणत्वाच्चमत्कृतिविश्रान्ति-धामभ्यो रूपकादिभ्यो यथा न पृथग्व्यपदेशत्वं तथा सहभावोक्त्याविर्भूतायाः कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययात्मिकाया अतिशयोक्तेः सकाशादस्या सहोक्तेरपृथग्भाव एवोचितः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ४८६

"त्वयि कुपिते रिपुमण्डलखण्डनपाण्डित्यसंपदुद्दण्डे ।
गिरिगहनेऽरिवधूनां दिवसैः सह लोचनानि वर्षन्ति ॥"

रसगंगाधर पृ० ४८२

इस उदाहरण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहां लोचनों तथा दिवसों का एक धर्म से सम्बन्ध नहीं। लोचनों का यहां सम्बन्ध वर्षण क्रिया से है तथा दिवसों का सम्बन्ध वर्षवदाचरण क्रिया से है। इस प्रकार लोचनों तथा दिवसों से सम्बद्ध कियाएं भिन्न हैं। यह कहना उचित नहीं कि श्लेष के द्वारा एक शब्द से अभिव्यक्त होने के कारण उनमें एकता है, क्योंकि शब्द की एकता शब्द से निकलने वाले विपरीत अर्थों की एकता का आधार नहीं हो सकती। इस प्रकार आलंकारिकों की श्लेष-भित्तिकाभेदाध्यवसायमूला सहोक्ति पर भी सहोक्ति का सामान्य लक्षण चरितार्थ नहीं होता। अतः इसे सहोक्ति के अन्तर्गत मानना उचित नहीं।

शुद्धाभेदाध्यवसानमूला सहोक्ति का उदाहरण इस प्रकार है:—

"पद्मपत्रैर्नृणां नेत्रैः सह लोकत्रयश्रिया ।
उन्मीलन्तो निमीलन्तो जयन्ति सवितुः कराः ॥"

—रसगंगाधर पृ० ४८२

यहां पद्मपत्र आदि का उन्मीलन तथा निमीलन क्रिया से सम्बन्ध है। यद्यपि पद्मपत्र आदि के आश्रयभेद के कारण उनमें विद्यमान उन्मीलनों तथा निमीलनों में भेद है, परन्तु इनमें एक सामान्य तत्त्व है। यह सामान्य तत्त्व प्रकटत्व तथा अप्रकटत्व के रूप में है। पद्मपत्र का उन्मीलन तथा निमीलन विकास तथा संपुटीभाव रूप में है तथा किरणों का उन्मीलन एवं निमीलन प्रसरण तथा संकुचन रूप में है, परन्तु प्रकटता तथा अप्रकटता इन दोनों प्रकार के उन्मीलनों तथा निमीलनों में समान रूप से विद्यमान है। यही बात अन्य उन्मीलनों तथा निमीलनों के साथ है। इस सामान्य तत्त्व के कारण इन उन्मीलनों तथा निमीलनों में एकता की प्रतीति होती है। अतः यहां पद्मपत्र आदि का एक क्रिया से सम्बन्ध है।[1]

---

१. "अत्रोन्मीलननिमीलनयोः पद्मपत्राद्याश्रयभेदेन भिन्नयोरपि प्रकटत्वाप्रकटत्वाद्येकोपाध्यवच्छिन्नतयाऽभिन्नीकृतयोरुपादानमित्यस्त्येकक्रियासम्बन्धः ।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ४८२–४८३

प्रश्न उठ सकता है कि यदि कार्यकारणविपर्ययमूलक सहोक्ति में सहभाव को गौण मानकर कार्यकारणविपर्ययरूप अतिशयोक्ति को प्रधान माना जाता है तो उपर्युक्त उदाहरण में भी सहभाव को गौण मानकर अभेदाध्यवसाय को प्रधान क्यों नहीं मान लिया जाता।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—अभेदाध्यवसायमूला सहोक्ति में अभेदाध्यवसाय गौण होता है तथा वह सहोक्ति का उपकारक होता है। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि यहां चमत्कार का कारण विभिन्न उन्मीलनों एवं निमीलनों में अभेदाध्यवसाय नहीं, परन्तु इस अभेदाध्यवसाय के फलस्वरूप पद्मपत्र आदि का एक क्रिया से सम्बन्ध ही चमत्कार का कारण है। यहां कवि का उद्देश्य पद्मपत्र आदि का एकधर्म से सम्बन्ध दिखाकर उनमें सादृश्य बताना है। उन्मीलनों तथा निमीलनों में अभेदाध्यवसाय इस सादृश्य में सहायक है।

दूसरे अभेदाध्यवसाय यहां अतिशय के रूप में है। यह अतिशय अनेक अलंकारों के मूल में होता है। 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' इस उपमा के मूल में भी यह अतिशय है। यहां मुख का सौन्दर्य कमल के सौन्दर्य से भिन्न है। परन्तु अभेदाध्यवसाय के द्वारा उन्हें एक कहा गया है और इस प्रकार मुख तथा कमल में सादृश्य सम्भव है। अतः साधारणधर्म में अभेदाध्यवसाय होने के कारण सहोक्ति का निराकरण नहीं किया जा सकता। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

प्रश्न उठ सकता है कि उपर्युक्त उदाहरण में कार्यकारणपौर्वापर्य-विपर्ययमूलक अतिशयोक्ति क्यों नहीं मान ली जाती। यहां सूर्य की किरणों का उन्मीलन तथा निमीलन पद्मपत्र आदि के उन्मीलन तथा निमीलन का कारण है। कारण की सत्ता सदा कार्य से पूर्व होती है।

---

१. "अभेदाध्यवसानमूलायां हि सहोक्तावभेदाध्यवसानेन सहोक्तिरुपस्क्रियते इति न गुणेन प्रधानस्य तिरस्कारः। अपितु प्रधानेन गुणस्येत्युक्तदिशा सावकाशैव सहोक्तिः।" —रसगंगाधर पृष्ठ ४८७

"किं च परस्पराभेदाध्यवसानमात्रमतिशय एव, नातिशयोक्तिः.........। अतिशयमात्रं च प्रायशः साधारणधर्मांशे बहूनामलंकाराणामुपस्कारकम्। न हि 'शोभते चन्द्रवन्मुखम्' इत्यादौ चन्द्रमुखशोभयोर्वस्तुतो भिन्नयोरभेदाध्यवसानमन्तरेणोपमा समुल्लसति।" —रसगंगाधर पृष्ठ ४८७

अतः सूर्य की किरणों का उन्मीलन तथा निमीलन पद्मपत्र आदि के उन्मीलन तथा निमीलन से पूर्व होना चाहिए। परन्तु यहां उनकी समकालीनता बताई गई है। इस प्रकार कार्यकारण के पौर्वापर्य में विपर्यय होने के कारण यहां अतिशयोक्ति मानना उचित होगा।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—सूर्य की किरणों का उन्मीलन तथा निमीलन पद्मपत्रादि के उन्मीलन तथा निमीलन का कारण अवश्य है, परन्तु हमें इनके उन्मीलनों तथा निमीलनों में कालगत भेद लक्षित नहीं होता। काव्य लोक के अनुभव को प्रमाण मानकर चलता है। विज्ञान के सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन इसका प्रतिपाद्य विषय नहीं होता। अतः जब सूर्य की किरणों तथा कमल के विकास का समकालीनत्व कहा जाता है तब हमें कार्यकारण के पौर्वापर्य में कोई विपर्यय प्रतीत नहीं होता। अतः उपर्युक्त उदाहरण में अतिशयोक्ति न मानकर सहोक्ति मानना ही उचित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलंकारिकों के द्वारा अभेदाध्यवसाय के आधार पर सहोक्ति मानना सर्वथा उचित है। परन्तु अभेदाध्यवसाय को अतिशयोक्ति का अनिवार्य अंग नहीं कहा जा सकता। अभेदाध्यवसाय के अभाव में भी सहोक्ति सम्भव है। उपमा साधारणधर्म के अभेदाध्यवसाय अथवा अतिशय के अभाव में सम्भव नहीं इसका यह अर्थ नहीं कि सहोक्ति भी अतिशय के अभाव में सम्भव नहीं। उपमा तथा सहोक्ति में अन्तर है। उपमा में चमत्कार सादृश्य के कारण होता है परन्तु सहोक्ति में वह एकधर्माभिसम्बन्ध के कारण होता है। सादृश्य के लिए आवश्यक है कि जिस साधारणधर्म की दृष्टि से उपमेय का उपमान से सादृश्य दिखाना है उसका उपमान में अतिशय हो, परन्तु एकधर्माभिसम्बन्ध के लिए केवल इतना पर्याप्त है कि वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध हो। यह आवश्यक नहीं कि उनमें से कतिपय वस्तुओं में साधारणधर्म अन्य वस्तुओं के साधारणधर्म की अपेक्षा अतिशयित मात्रा में हो। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"सह दिवसनिशाभिर्दीर्घाः श्वासदण्डाः
सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति।
तव सुभग वियोगे तस्या उद्विग्नायाः सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा।"
—काव्यप्रकाश १०—४९५

यहां मणिवलयों तथा वाष्पधारा से सम्बद्ध गलनक्रिया में अभेदाध्यवसाय नहीं। दोनों दशाओं में गलनक्रिया एक ही है। यह कहना उचित नहीं कि गलन के एकजातीय होते हुए भी व्यक्तिभेद के कारण विभिन्न व्यक्तियों से सम्बद्ध गलनक्रियाओं में भेद है क्योंकि इस प्रकार तो 'लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ' में भी यही बात कही जा सकेगी। साहित्य-दर्पण के टीकाकार रामचन्द्र भट्टाचार्य का यही मत है।[1]

इससे स्पष्ट है कि सहोक्ति के मूल में अतिशयोक्ति अथवा अभेदाध्यवसाय का होना आवश्यक नहीं। हां इतना अवश्य है कि सहोक्ति में वस्तुओं का जिस धर्म से सम्बन्ध हो वह चमत्कारयुक्त हो। इसी लिए अप्पयदीक्षित ने अपनी सहोक्ति की परिभाषा मे सहभाव के साथ जनरञ्जन शब्द का सन्निवेश किया है:—

"सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरञ्जनः।"

—कुवलयानन्द २१। ५८

प्राचीन आलंकारिकों में रुद्रट ने इसका एक अन्य भेद किया है:—

यत्रैककर्तृकानेककर्माश्रिता क्रिया भवति, तत्र चैकं प्रधानमुपमेयाख्यं कर्मापरेण कर्मणोपमानेन सहोच्यते।

यथा—स त्वां बिभर्ति हृदये गुरुभिरसंख्यैर्मनोरथैः सार्धम्।

यहां नायिका तथा मनोरथों का एक भरण क्रिया से सम्बन्ध है। इस प्रकार सहोक्ति की सामान्य परिभाषा इस पर पूर्णतः लागू होती है। अतः इसे पृथक् भेद मानने की आवश्यकता नहीं।

सम्बद्ध वस्तुएं कर्ता हैं अथवा कर्मादि, उनकी क्रियाएं विविक्त हैं अथवा अविविक्त, इस आधार को लेकर भोज ने अतिशयोक्ति के अनेक

---

१. "वस्तुतस्तु यत्र वैचित्र्यमनुभूयते तत्रैवालंकारत्वमंगीकरणीयम्। अन्यथा 'सह मणिवलयेहिं वाष्पधारा गलन्ति' इति काव्यप्रकाशकारदत्तोदाहरणमसंगतम् स्यात्। अत्र स्वस्थानाच्च्यवनरूपं गमनमेकमेव। न च गमनयोरेकजातीयत्वेऽपि व्यक्तिभेदाद्भेद इति वाच्यम्। 'लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ' इत्यादावपि तथाकल्पनस्य संभवात्।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५६१

भेद किए हैं।[1] जगन्नाथ ने भी कर्तृसहोक्ति कर्मसहोक्ति आदि भेद किए हैं।[2] सादृश्यमूलक अलंकारों का इस प्रकार का विभाजन उचित नहीं।

१. "कर्त्रादीनां समावेशः सहान्यैर्यः क्रियादिषु।
विविक्तश्चाविविक्तश्च सहोक्तिः सा निगद्यते।"

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४। ५७

२. "पूर्वा कर्तृसहोक्तिः इयं तु कर्मसहोक्तिः" —रसगंगाधर पृष्ठ ४८२

समासोक्ति

समासोक्ति में हमारा ध्यान प्रधानतः वस्तुओं के व्यवहार पर केन्द्रित रहता है। हमें प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार में अन्य वस्तु के व्यवहार की प्रतीति होती है और इस प्रतीति से उस अन्य वस्तु की अभिव्यक्ति होती है।[1] निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

---

१. यह मत अर्वाचीन आलङ्कारिकों का है। प्राचीन आलङ्कारिकों में इसे केवल उद्भट का समर्थन प्राप्त है। भामह, दण्डी, रुद्रट, वामन तथा भोज के मत भिन्न हैं। इनके मतों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें से कुछ के अनुसार समासोक्ति में एक वस्तु से अन्य वस्तु की प्रतीति होती है तथा दूसरों के अनुसार समासोक्ति में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होती है। प्रथम मत भामह तथा दण्डी का है:—

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥ —भामहालङ्कार २। ७९

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते॥ —काव्यादर्श २। २०५

द्वितीय मत रुद्रट, वामन तथा भोज का है:—

"अनुक्तौ समासोक्तिः" —काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४। ३। ३

"उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः" —कामधेनु पृ० ६३

"यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते।
अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः॥"—सरस्वतीकण्ठाभरण ४। ४६

द्वितीय मत से अर्वाचीनों का विशेष विरोध नहीं। ये भी मानते हैं कि अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति में अलंकार होता है। अन्तर इतना ही है कि ये उसे समासोक्ति न कहकर अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। प्रथम मत से अर्वाचीनों का विरोध अवश्य है। इस मत के अनुसार प्रस्तुत से अप्रस्तुत की अभिव्यक्ति तथा अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति में वैचित्र्यभेद नहीं। अतः इन दोनों दशाओं में भिन्न अलङ्कार न होकर एक ही अलंकार होता है। अर्वाचीन आलंकारिकों के मत का खण्डन करते हुए काव्यादर्श के टीकाकार रंगाचार्यशास्त्री ने यही बात कही है:—

"उत्सारयत्यलकमञ्जरिमञ्जनाभां
वक्षोजकुम्भवसनाञ्चलमुद्धुनोति।
बिम्बाधरं किमपि चुम्बति पङ्कजाक्ष्या
लोलः कपोलतलयोर्विषसजन् समीरः ॥—अलंकारकौस्तुभ पृ० २५२

यहां प्रस्तुत समीर के व्यवहार अलकापसरण आदि में अप्रस्तुत नायक के व्यवहार की प्रतीति होती है तथा इससे नायक की अभिव्यक्ति होती है। उपर्युक्त उदाहरण में अलकापसरण आदि जिन धर्मों का विधान है वे वायु तथा नायक में साधारण हों इतना ही नहीं अपितु नायक के धर्मों के अर्थ में वे अधिक प्रसिद्ध हैं। अतः समीर के धर्मों के रूप में इनका निर्देश होने से वे समीर के धर्मों के रूप में ही हमें प्रतीत हों ऐसी बात नहीं अपितु नायक के धर्मों के रूप में ये हमारी दृष्टि का विषय बनते हैं और इस प्रकार नायक के धर्मों के रूप में इनकी यह प्रतीति ही चमत्कार का कारण होती है। विश्वेश्वर ने इसका समर्थन किया है।[१]

"केचित्तु प्रस्तुतादप्रस्तुतावगतौ समासोक्तिः, अप्रस्तुतात् प्रस्तुतावगतौ च अप्रस्तुतप्रशंसा इति एकस्यैव वैचित्र्यस्य उपन्यासप्रकारभेदे अलंकारद्वयमाहुः परं तन्न रुचिरम्। वैचित्र्यविशेषाभावे ईदृशभेदकरणेऽलंकाराणामानन्त्यापत्तेः।"

यह मत उचित नहीं। समासोक्ति में प्रस्तुत से अप्रस्तुत की जो प्रतीति होती है तथा अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की जो प्रतीति होती है उन दोनों प्रतीतियों में भेद है। समासोक्ति में प्रतीत अप्रस्तुत व्यवहार प्रस्तुत वस्तु का व्यवहार बना हुआ प्रतीत होता है। अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रतीत व्यवहार पृथक् रूप से प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों अलंकारों के मूल में विद्यमान कवि की चित्तवृत्तियों में भी भेद होता है। समासोक्ति में प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार में कवि को अन्य वस्तु के व्यवहार के दर्शन होते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा में उसे प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार के सदृश अन्य वस्तु के व्यवहार की प्रतीति होती है। अतः अर्वाचीनों का मत ही समीचीन है।

१. "इहालकापसारणस्तनवसनापकरणादयो धर्मा मारुतनायकोभयसाधारणाः। समीरपदं तु मारुत एव शक्तम्। अतो नायकप्रसिद्धधर्माणां मारुते समारोपात्तद-वच्छेदकतया अप्रस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः, अतः समीरे नायकव्यवहारारोपेण

प्रश्न उठ सकता है कि यदि समासोक्ति में हमारा ध्यान वस्तुओं के व्यवहार अथवा धर्मों पर केन्द्रित रहता है तो प्रतिवस्तूपमा आदि से इसका कोई भेद न होना चाहिए। प्रतिवस्तूपमा आदि में भी हमारा ध्यान वस्तुओं के साधारणधर्मों पर केन्द्रित रहता है।

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:— प्रतिवस्तूपमा आदि में हमें साधारणधर्मों की प्रतीति पृथक् पृथक् होती है। उनमें आश्रयभेद होता है। समासोक्ति में इसके विपरीत वही आचरण अन्य आचरण के रूप में प्रतीत होता है। उपर्युक्त उदाहरण में वायु का आचरण तथा नायक का आचरण हमारी दृष्टि के पृथक् पृथक् विषय बनें और तब उनमें सादृश्य आदि सम्बन्ध प्रतीत हो ऐसी बात नहीं, परन्तु वायु का आचरण ही नायक के आचरण के रूप में प्रतीत होता है।[1] प्रतिवस्तूपमा के उदाहरण "धन्यासि वैदर्भि !..............." में इसके विपरीत समाकर्षण तथा उत्तरलीकरण की प्रतीति पृथक् पृथक् होती है। वहीं समाकर्षण उत्तरलीकरण नहीं बनता।

समासोक्ति में व्यवहार पर दृष्टि केन्द्रित होने के कारण प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार पर अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार का आरोप ही चमत्कार का कारण होता है, प्रस्तुत वस्तु पर अप्रस्तुत वस्तु का आरोप चमत्कार का कारण नहीं होता। रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित का यही मत है।[2]

चमत्कारः। यद्यप्युक्तधर्माणां मारुतेऽपि सत्त्वेन नायकप्रसिद्धानां तेषां मारुते आरोप इति न युक्तम्, तथापि मारुते स्तनवसनालकादिनालम्बनं विशेषतो न प्रसिद्धम्। चालनहेतुत्वस्यैव तत्र प्रसिद्धेः।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ २५२—२५३

१. "यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिताप्रस्तुतधर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः।" —रसगंगाधर पृष्ठ ४६३

२. "विशेषणसाम्याद्धि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते। अवच्छेदकत्वाच्च व्यवहारसमारोपः, न तु रूपसमारोपः।"

——अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ६२

"ततश्च समासोक्तावप्रस्तुतव्यवहारसमारोपश्चारुताहेतुः न तु रूपक इव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतसमारोपोऽस्ति।" —कुवलयानन्द पृष्ठ ७१

जगन्नाथ का इनसे मतभेद है। जगन्नाथ के अनुसार समासोक्ति में प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत वस्तु का आरोप भी होता है। इनके अनुसार प्रकृत वस्तु के व्यवहार पर अप्रकृत वस्तु के व्यवहार के आरोप से यह स्पष्ट है कि यहां प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत वस्तु का आरोप होता है। अप्रकृत वस्तु के अनुपादान आदि जिन तर्कों को अप्पयदीक्षित ने अपने मत के पक्ष में उपस्थित किया है उनका जगन्नाथ ने विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। जगन्नाथ आरोप के लिए प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों वस्तुओं का उपादान आवश्यक नहीं मानते। इसके लिए उन्होंने रूपकध्वनि का उदाहरण उपस्थित किया है।[1] इनके अनुसार समासोक्ति का रूपक से केवल इतना भेद है कि रूपक में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का उपादान होता है, परन्तु समासोक्ति में अप्रस्तुत का उपादान नहीं होता।

समासोक्ति के उपर्युक्त उदाहरण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित आदि का मत ही समीचीन है। उपर्युक्त उदाहरण में हम वायु के व्यवहार पर नायक के व्यवहार का आरोप करते हैं। वायु का व्यवहार हमारी आंखों के सामने है तथा नायक का व्यवहार पूर्व से ही हमारे ज्ञान का विषय बना हुआ है। हम इनमें से प्रथम पर द्वितीय का आरोप करते हैं और इसी तक सीमित रहते हैं। इसके बाद वायु पर नायक का आरोप करने के लिए आगे नहीं बढते। हम जब वायु के व्यवहार पर नायक के व्यवहार का आरोप कर देते हैं तब नायक वायु से कोई ऐसा पृथक् पदार्थ नहीं रहता जिसका वायु पर आरोप किया जाए। समीर के व्यवहार पर नायक के व्यवहार के आरोप के साथ ही समीर नायक बन जाता है। इस व्यवहार के आरोप से मुख पर चन्द्रमा के आरोप के समान समीर पर नायक का अरोप नहीं होता अपितु नायक का आचरण समीर का एक धर्म बन जाता है। समीर समीर रहते हुए भी नायक हो सकता है और ऐसा उसके व्यवहार पर नायक के व्यवहार के आरोप से होता है।

---

१. "यदप्युच्यते जारादिपदसमभिव्याहारस्य हेतोर्विरहान्न चन्द्रादौ जारत्वारोप इति। तत्र श्रौतारोपे तादृशसमभिव्याहारस्य हेतुत्वम्, नत्वार्थारोपे। अन्यथा रूपकध्वनेरुच्छेदापत्तेः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ५०३

'मुखं चन्द्रः' में इससे भिन्न बात है। यहां चन्द्र मुख से पृथक् पदार्थ है। अतः यहां हम मुख के सौन्दर्य में चन्द्र के सौन्दर्यदर्शन तक ही सीमित नही रहते अपितु इससे आगे बढते हैं तथा मुख पर चन्द्र का आरोप करते हैं।

प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार पर अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार के आरोप के लिए आवश्यक है कि व्यवहार के द्योतक शब्द दोनों व्यवहारों पर समान रूप से घटें। ये शब्द श्लिष्ट अथवा अश्लिष्ट दोनों प्रकार के हो सकते हैं। आलंकारिकों ने इन शब्दों के लिए प्रायः विशेषण शब्द का प्रयोग किया है:—

"विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्ति"

—अलङ्कारसर्वस्व सू० ३१

"विशेषणानां तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्तिनाम्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्वं सा समासोक्तिरिष्यते।" —प्रतापरुद्रयशोभूषण

विशेषण के रूप में प्रयुक्त ये शब्द जहां श्लिष्ट हों वहां आवश्यक है कि श्लिष्ट शब्द से निकलने वाले अर्थों में साम्य हो, क्योंकि केवल शब्दैक्य श्लिष्ट शब्द से निकलने वाले विभिन्न अर्थों के सादृश्य का आधार नहीं हो सकता।

विश्वनाथ ने अपनी समासोक्ति की परिभाषा में विशेषण शब्द के अतिरिक्त कार्य तथा लिंग शब्द का भी प्रयोग किया है—

"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥"

—साहित्यदर्पण १०—५६

विश्वनाथ का यह मत उचित नहीं। विशेषण शब्द प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं के धर्मों का सूचक है। ये धर्म कार्य तथा गुण आदि के रूप में होते हैं। अतः कार्य शब्द का विशेषण शब्द से पृथक् निर्देश उचित नहीं।

विश्वनाथ के द्वारा परिभाषा में 'लिंग' शब्द का सन्निवेश भी उचित नहीं। स्वयं लिंग अप्रस्तुत वस्तु का व्यञ्जक नहीं हो सकता। वह तो इस व्यञ्जकता में व्यवहार की साधारणता का केवल सहकारिमात्र हो सकता है। यदि लिंग अप्रस्तुत का व्यञ्जक हो तो 'निशामुखं चुम्बति

चन्द्रिकैषा' में भी निशा में स्त्रीलिंग का प्रयोग नायिका का व्यञ्जक होना चाहिए। परन्तु ऐसी बात नहीं।[1]

रुय्यक ने विशेषणों के औपम्यगर्भत्व को भी अप्रस्तुत का व्यञ्जक बताकर वहां समासोक्ति स्वीकार की है।[2] इनका औपम्यगर्भत्व का उदाहरण इस प्रकार है:—

"दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा।"

—अलंकारसर्वस्व पृ० ९४

इस उदाहरण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यहां समासोक्ति न होकर एकदेशविवर्तिनी उपमा है। समासोक्ति के लिए आवश्यक है कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं के धर्मो मे साधारणता हो। यहां ऐसी बात नही। यहां प्रस्तुत वस्तु के धर्म दन्तप्रभा आदि है तथा अप्रस्तुत वस्तु के धर्म पुष्प आदि है। इन धर्मो मे केवल सादृश्य है साधारणता नहीं। साधारणता तो तब सम्भव थी जब दन्तप्रभा आदि ही अप्रस्तुत वस्तु के धर्म बनते। यहां दन्तप्रभा आदि का पुष्प आदि से सादृश्य होने के कारण हरिणेक्षणा का लता से सादृश्य व्यंग्य है। अतः यहां समासोक्ति न होकर एकदेशविवर्तिनी उपमा है।

प्रदीप तथा प्रभा में उपर्युक्त उदाहरण मे 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि समासों के दो प्रकार से विग्रह करके एक को हरिणेक्षणा के साथ जोड़ा गया है तथा दूसरे को लता के साथ और इस प्रकार विशेषण-साम्य के आधार पर समासोक्ति अलंकार सिद्ध करने का यत्न किया गया है।[3]

---

१. "व्यञ्जकं हि तत्र मुखचुम्बनादिकमेव स्त्रीत्वादिकं तु सहकारिमात्रम्। ....किं च स्त्रीलिंगादिकं न निरपेक्षं नायिकात्वादिव्यञ्जकम्। 'निशामुखं चुम्बति चन्द्रिकैषा' इत्यादावपि तदापत्तेः।" —अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ २५६

२. "तच्च विशेषणसाम्यं श्लिष्टतया, साधारण्येन औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा।"
—अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ६२

३. "अत्र नायिकाविशेषणत्वस्य 'दन्तप्रभा पुष्पाणीव' इत्युपमितसमासेन सिद्धौ 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैः' इति समासान्तराश्रयणेन लतावृत्तान्तस्य परिस्फूर्ति-रिति समासोक्तिः।" —बालबोधिनी पृष्ठ ६१२

यह मत समीचीन नहीं। विशेषणसाम्य से यह अर्थ नहीं कि वे शब्द दोनों ओर जुड़ते हैं अपितु अर्थ यह है कि उन विशेषणों से अभिव्यक्त अर्थ दोनों ओर जुड़ते है। उपर्युक्त उदाहरण में यह बात नहीं।

अप्पयदीक्षित ने सारूप्य के आधार पर भी समासोक्ति स्वीकार की है:—

"सारूप्यादपि समासोक्तिर्दृश्यते। यथा वा—

'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां

विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।

बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं

निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥'

अत्र वनवर्णने प्रस्तुते तत्सारूप्यात्कुटुम्बिषु धनसंतानादिसमृद्ध्यसमृद्धिविपर्यासं प्राप्तस्य तत्समाश्रयस्य ग्रामनगरादेः वृत्तान्तः प्रतीयते।"

—कुवलयानन्द पृ० ७०

यह मत युक्तिसंगत नहीं। यहां प्रस्तुत वर्णन से अप्रस्तुत वर्णन की व्यक्ति अवश्य होती है परन्तु प्रस्तुत वस्तु के धर्म तथा अप्रस्तुत वस्तु के धर्मों में यहां साधारणता नहीं। प्रस्तुत वन में स्रोतस् आदि जो धर्म हैं वे धर्म अप्रस्तुत ग्रामनगरादि में नहीं है, अपितु इनसे भिन्न धर्म धनसंतान की समृद्धि आदि वहां विद्यमान हैं। अतः यहां समासोक्ति अलंकार नहीं। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरण में ध्वनि मानना उचित होगा। ध्वनि-काव्य मे चमत्कार व्यंग्यार्थ के कारण होता है। यहां भी यही बात है। यहां अप्रस्तुत व्यंग्यार्थ ही चमत्कार का कारण है। हम यह कहकर कि व्यंग्यार्थ यहां अप्रस्तुत है इसे ध्वनिकाव्य से बाहर नहीं कर सकते। व्यंग्यार्थ का प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत होना ध्वनि का अनिवार्य अंग नही। यदि हमें व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है और यही प्रतीति चमत्कार का

---

१. "समासोक्तौ हि प्रकृतवृत्तान्तोऽप्रकृतवृत्तान्ताभेदेन स्थित इति सर्वसंमतम्। त्वयापि च 'प्रकृतधर्मिण्यप्रकृतव्यवहार आरोप्यते' इत्युक्तम्। एवं स्थिते नह्यत्र स्रोतोवृत्तादिविपर्यासो धनसंतानविपर्यासाद्यभेदेन प्रतीयते।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ५१३–५१४

कारण जान पड़ती है तो हमें वहां ध्वनि मानने मे आपत्ति न होनी चाहिए।

प्रश्न उठ सकता है कि समासोक्ति में भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः इसे भी ध्वनि के अन्तर्गत क्यों नहीं मान लिया जाता। इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—समासोक्ति में व्यंग्यार्थ होता अवश्य है परन्तु चमत्कार का प्रधान कारण वह न होकर वाच्यार्थ होता है। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का केवल उपकारक होता है। समासोक्ति के उदाहरण 'उत्सारयत्यलकम्...............' में अप्रस्तुत नायक का व्यवहार स्वतः चमत्कार का कारण नही, परन्तु वह प्रस्तुत वायु के व्यवहार पर आरोपित होकर उसे एक नवीन रूप प्रदान करता है और यह नवीन रूप ही चमत्कार का कारण है। समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार की व्यक्ति होने पर उसे पुनः प्रस्तुत व्यवहार की ओर मुड़ना पड़ता है और तब उस अप्रस्तुत व्यवहार को आत्मसात् करके प्रस्तुत व्यवहार ही हमारे चमत्कार का कारण बनता है। जगन्नाथ ने समासोक्ति में विद्यमान उपर्युक्त प्रक्रिया की ओर संकेत किया है।[1]

समासोक्ति में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत व्यवहारों के लौकिक अथवा शास्त्रीय होने के आधार पर रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने समासोक्ति के भेद किए हैं। ये चार भेद हैं—लौकिक व्यवहार पर लौकिक व्यवहार का, शास्त्रीय पर शास्त्रीय का, लौकिक पर शास्त्रीय का तथा शास्त्रीय पर लौकिक का आरोप।[2]

१. "किं तु प्रकृतवाक्यार्थघटकाः पदार्थास्तादात्म्येनाप्रकृतघटकपदार्थालीढा एव वैशिष्ट्यमनुभवन्तो महावाक्यार्थरूपेण परिणमन्तीति सूक्ष्ममीक्षणीयम्।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ५०६

२. "सेयं लौकिके व्यवहारे लौकिकस्य व्यवहारस्य, शास्त्रीये शास्त्रीयस्यारोपेण, एतद्विपर्ययेण च चतुर्धा।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ५१४

अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुतप्रशंसा में कवि प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार का सादृश्य किसी अन्य वस्तु के व्यवहार से देखता है तथा प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार की अभिव्यक्ति के लिए उस अन्य वस्तु के व्यवहार के वर्णन को ही अपनी अभिव्यञ्जना का माध्यम बनाता है। अतः ऐसी दशा में अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार के वर्णन से सहृदय को सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार की प्रतीति होना स्वाभाविक है। अप्रस्तुतप्रशंसा की निम्नलिखित परिभाषाओं से यह स्पष्ट है:—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया" १० । १५१
"अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेप."

—काव्यप्रकाश पृ० ६१८

"अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते
अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्यादिनियन्त्रिता ।"[1]

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ३१९

१. प्राचीन आलङ्कारिकों में दण्डी तथा भोज की परिभाषाएं इनसे भिन्न हैं। दण्डी के अनुसार अप्रस्तुत की स्तुति के द्वारा प्रस्तुत की निन्दा अप्रस्तुत-प्रशंसा होती है:—

"अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादपक्रान्तेषु या स्तुतिः ।" —काव्यादर्श २ । ३४०

दण्डी के अनुसार अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति समासोक्ति में भी होती है। अतः इनके अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा का समासोक्ति से केवल इतना भेद है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत की जो व्यक्ति होती है वह अप्रस्तुत की स्तुति के द्वारा प्रस्तुत की निन्दा के रूप में होती है। रंगाचार्यशास्त्री की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

"अयमाचार्यदण्डी तु अप्रस्तुताद्वाच्यात् प्रस्तुतस्य प्रतीतौ समासोक्तिः, अप्रस्तुतप्रशंसया प्रस्तुतस्य निन्दा अप्रस्तुतप्रशंसा इति विषयविभागेनालंकारद्वयं स्वीकरोति ।" —काव्यादर्श टीका पृष्ठ २६८, २६६

इस प्रकार दण्डी स्तुति तथा निन्दा को अलङ्कारविभाजन का आधार मानते हैं। यह उचित नहीं। साहश्यमूलक अलंकारों का विभाजन साहश्य

जगन्नाथ के अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा के लिए यह आवश्यक नहीं कि वर्णित व्यवहार अप्रस्तुत हो तथा व्यंग्य व्यवहार प्रस्तुत हो। उनके अनुसार इसके लिए केवल इतना पर्याप्त है कि एक व्यवहार से अन्य व्यवहार की अभिव्यक्ति हो। यह अभिव्यक्ति जिस प्रकार अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार के रूप मे सम्भव है उसी प्रकार प्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूप मे तथा प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत के रूप मे भी सम्भव है।

प्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार की अभिव्यक्ति के समर्थन में जगन्नाथ कहते हैं—

"यत्रात्यन्तमप्रस्तुतेन वाच्येन प्रस्तुतं गम्यते स प्रकारो निगदित एव। यत्र च स्थलविशेषे वृत्तान्तद्वयमपि प्रस्तुतं सोऽप्येकः।"

—रसगंगाधर पृ० ५४२

जगन्नाथ की उपर्युक्त उक्ति पर विरोधी प्रश्न करते हैं कि अप्रस्तुतप्रशंसा की सभी परिभाषाओं में वाच्यार्थ को अप्रस्तुत कहा गया है। उपर्युक्त उक्ति इसके विरोध में पड़ती है। इसके उत्तर में जगन्नाथ कहते हैं कि अप्रस्तुत शब्द का अर्थ मुख्यतात्पर्यविषय से अतिरिक्त अर्थ है। यह

तत्त्व के आधार पर होना चाहिए स्तुति अथवा निन्दा के आधार पर नहीं। यदि इस स्तुति को भेद का प्रयोजक मानना ही है तो वह एक ही अलंकार के विभेद करके सम्भव है।

जगन्नाथ ने भी दण्डी की उपर्युक्त परिभाषा का खण्डन किया है। जगन्नाथ कहते हैं कि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रशंसा का अर्थ वर्णनमात्र है स्तुति नहीं:—

"प्रशंसनम् च वर्णनमात्रम् न तु स्तुतिः" —रसगंगाधर पृष्ठ ५३७

भोज के अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा में सादृश्यमूलकता ही नहीं होती:—

"अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुतिः।

कुतोऽपि हेतोर्वाच्या च प्रत्येतव्या च सोच्यते॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४। ५२

इसकी व्याख्या करते हुए जगद्धर लिखते हैं:—

"अत एव समासोक्तेर्भेदः। तत्र ह्युपमानोपमेयता, अत्र तु निन्दितमर्थान्तरम्, अन्यस्य स्तुतिरिति।"

अतिरिक्त अर्थ अप्रस्तुत के समान प्रस्तुत भी हो सकता है।[1]

जगन्नाथ के उपर्युक्त मत पर विचार करने से प्रतीत होगा कि यह मत उचित नहीं। प्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार के आक्षेप को अलङ्कार की श्रेणी मे न रखकर ध्वनि की श्रेणी मे रखना उचित होगा। जब प्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार की व्यक्ति होती है, तब अभिधा का पर्यवसान प्रस्तुत वाच्यार्थ के द्योतन में ही हो जाता है। प्रस्तुत वाच्यार्थ का बोध कराकर अभिधा आगे नहीं बढती। उसके आगे बढने का प्रश्न तो तब उठे जब वाच्यार्थ अप्रस्तुत हो और फलतः अर्थ की पूर्ति के लिए अभिधा आगे प्रतीत होने वाले अर्थों की ओर उन्मुख हो। यहां वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है। अतः इसी के ज्ञान से पूर्वापर सम्बन्ध ठीक बैठ जाता है और अभिधा को आगे प्रतीत होने वाले अर्थों की ओर उन्मुख नहीं होना पड़ता। इस प्रकार ऐसी दशा में व्यंग्य अर्थ अभिधा से सर्वथा अछूते होते हैं और केवल व्यञ्जना के विषय होते हैं। इन अर्थों का उद्देश्य प्रस्तुत वाच्यार्थ की पूर्ति करना न होकर स्वतन्त्ररूप से अर्थ-सौन्दर्य मे वृद्धि करना होता है। अतः ऐसे स्थलों में अलंकार न मानकर ध्वनि मानना उचित है। लोचनकार का यही मत है।[2]

स्वयं जगन्नाथ भी यह स्वीकार करते हैं कि प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति की दशा में ध्वनि निर्विवाद है।[3]

१. "अथात्र कथमप्रस्तुतप्रशंसा ? वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वेनैतल्लक्षणानालीढत्वादिति चेत्। न। अप्रस्तुतशब्देन हि मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो विवक्षितः। स च क्वचिदत्यन्ताप्रस्तुतः, क्वचित्प्रस्तुतश्चेति न कोऽपि दोषः।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ५४२

२. "अत्राद्योदाहरणयोरन्यापदेशध्वनिमाह लोचनकारः—

अप्रस्तुतप्रशंसायां वाच्यार्थोऽप्रस्तुतत्वादवर्णनीय इति। तत्राभिधायामपर्यवसितायां तेन प्रस्तुतार्थव्यक्तिरलंकारः। इह तु वाच्यस्य प्रस्तुतत्वेन तत्राभिधायां पर्यवसितायामर्थसौन्दर्यबलेनाभिमतार्थव्यक्तिर्ध्वनिरेवेति।"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ६०

३. "अत्यन्ताप्रस्तुतस्य वाच्यतायां तस्मिन्नपर्यवसितया अभिधया प्रतीयमानार्थस्य बलादाकृष्टत्वेन ध्वनित्वं न निर्बाधम्। द्वयोः प्रस्तुतत्वे तु ध्वनित्वं निर्विवादमेव।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ५४३

यदि ऐसी बात है तो जगन्नाथ को प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति की दशा में अलंकार न मानकर ध्वनि माननी चाहिए। यह तो हो नहीं सकता कि इस दशा में अलंकार भी हो तथा ध्वनि भी हो।

दूसरे यदि प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति को अप्रस्तुतप्रशंसा के अन्तर्गत रखा जाता है तो समस्त ध्वनि काव्य अप्रस्तुतप्रशंसा के अन्तर्गत आ जाएगा। जगन्नाथ इसके उत्तर में कहते हैं कि जहां प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति सादृश्यादि निर्दिष्ट प्रकारों में से किसी एक के द्वारा होगी वहां अप्रस्तुतप्रशंसा होगी और जहां यह व्यक्ति इन प्रकारों से अतिरिक्त किसी प्रकार के द्वारा होगी वहां ध्वनि होगी।[1]

जगन्नाथ का यह मत समीचीन नहीं। ध्वनि तथा अलंकार का भेद यही है कि ध्वनि मे चमत्कार व्यंग्यार्थ के कारण होता है तथा अलंकार में वह वाच्यार्थ के कारण होता है। यदि किसी स्थल में चमत्कार व्यंग्यार्थ के कारण है तो हम केवल इस आधार पर कि वह व्यंग्यार्थ सादृश्यादि के द्वारा व्यक्त होता है उस स्थल को ध्वनि से इतर श्रेणी में नहीं रख सकते।

जगन्नाथ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यक्ति को भी अप्रस्तुतप्रशंसा के अन्तर्गत रखते हैं। ऐसा करने के लिए वे अप्रस्तुतप्रशंसा का अर्थ 'अप्रस्तुतस्य प्रशंसा' न करके 'अप्रस्तुतेन प्रशंसा' करते हैं। अप्रस्तुत के द्वारा यह प्रशंसा प्रस्तुत की होती है। प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यक्ति की दशा मे व्यंग्य अप्रस्तुत के द्वारा वाच्य प्रस्तुत की प्रशंसा होती है।[2]

जगन्नाथ का यह मत युक्तिसंगत नहीं। जगन्नाथ प्रशंसा का या तो उत्कर्षाधान अर्थ ले सकते हैं या प्रतीति अर्थ ले सकते है। यदि वे प्रथम अर्थ लेते हैं तो उन्ही के उदाहरणों 'दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डा

१. "न च ध्वनिमात्रस्याप्रस्तुतप्रशंसात्वापत्तिरिति वाच्यम्। अत एव तत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेणेति विशेषणमुपात्तमिति विभावनीयम्।"—रसगंगाधर पृष्ठ ५४२

२. "अप्रस्तुतप्रशंसैवात्रालङ्कारः। अप्रस्तुतस्य प्रशंसेति न तदर्थः। किं त्वप्रस्तुतेनेति। सा चार्थात्प्रस्तुतस्यैव। एवं च वाच्येन व्यक्तेन वा अप्रस्तुतेन वाच्यं व्यक्तं वा प्रस्तुतं यत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेण प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसेति। न तु वाच्येनैव व्यंग्यमेवेति।" —रसगंगाधर पृष्ठ ५४५

करटिनः.....................'आदि पर अप्रस्तुतप्रशंसा की परिभाषा लागू नहीं होती और यदि वे द्वितीय अर्थ लेते है तो 'आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा............'नामक जिस उदाहरण को वे अप्रस्तुतप्रशंसा के अन्तर्गत करना चाहते है वही अप्रस्तुतप्रशंसा के;क्षेत्र से बाहर हो जाता है। नागेशभट्ट की निम्नलिखित उक्ति का यही आशय है:—

"कि चाप्रस्तुतेन प्रस्तुतं प्रशस्यते इत्यस्य कोऽर्थः ? यद्युत्कर्षाधानं तर्हि प्रतीयमानार्थानध्यारोपविषयेषु दिगन्ते श्रूयन्ते इत्याद्युदाहरणेष्वव्याप्तिः। न हि ताटस्थ्येन स्थितोऽप्यर्थो वाच्योत्कर्षक इति युक्तं सहृदयसंमतं वा। यदि प्रतीतिमात्रं तर्हि न प्रकृते।"

—रसगंगाधर पृ० ५४४

अतः अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की व्यक्ति मानना ही उचित है।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि अप्रस्तुतप्रशंसा मे प्रस्तुत का वर्णन न करके अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है तो अतिशयोक्ति से इसका कोई भेद न होना चाहिए। अतिशयोक्ति में भी प्रस्तुत का वर्णन न करके अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है। अतिशयोक्ति के उदाहरण 'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्'[1] मे प्रस्तुत मुखादि का वर्णन न करके अप्रस्तुत कमलादि का वर्णन किया गया है।

इसका उत्तर इस प्रकार है:—अतिशयोक्ति मे अभेदाध्यवसाय अथवा निगरण होता है, अप्रस्तुतप्रशंसा में यह नहीं होता। अतिशयोक्ति में उपमेय का निर्देश न करके जो केवल उपमान का निर्देश किया जाता है वह उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके होता है। उपमेय की सत्ता यहां सर्वथा विलीन होकर उपमान के रूप में परिणत हो जाती है। अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत की सत्ता विलीन होकर अप्रस्तुत के रूप में परिणत नहीं होती। यहां प्रस्तुत अर्थ पृथक् होता है तथा अप्रस्तुत अर्थ पृथक् होता है। कवि यहां प्रस्तुत का वर्णन न करके जो अप्रस्तुत का वर्णन करता है वह इसलिए नहीं कि उसे प्रस्तुत में अप्रस्तुत के दर्शन होते हैं अपितु इसलिए कि प्रस्तुत के सदृश उसे एक अप्रस्तुत अर्थ भी दिखाई देता है। जगन्नाथ ने भी अतिशयोक्ति से

१. काव्यप्रकाश पृष्ठ ६२६

अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद का समर्थन किया है।[1]

अप्रस्तुतप्रशसा की सादृश्यमूलकता के लिए आवश्यक है कि अप्रस्तुत तथा उससे व्यक्त होने वाले प्रस्तुत में सादृश्य सन्बन्ध हो। जहां यह सम्बन्ध सादृश्य के रूप में न होकर अन्य किसी रूप मे होगा वहां हम सादृश्यमूलक अलंकार नहीं मान सकते। अर्वाचीन आलङ्कारिकों ने अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत मे प्राय: तीन प्रकार के सम्बन्ध माने है। ये सारूप्य, सामान्य-विशेषभाव तथा कार्यकारणभाव हैं।[2]

इनमें सारूप्य सम्बन्ध तो सादृश्य के अन्तर्गत है ही, सामान्यविशेपभाव सम्बन्ध को भी सादृश्य के अन्तर्गत मानना उचित होगा। तीसरा सम्वन्ध कार्यकारणभाव सादृश्य के अन्तर्गत नही आता। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के वे भेद जो अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के कार्यकारणभाव सम्बन्ध पर आश्रित हैं सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत नही आते। निम्नलिखित उदाहरण मे यह स्पष्ट है:—

"गच्छामीति मयोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं
त्यक्त्वा तिर्यगवेक्ष्य वाष्पकलुषेनैकेन मां चक्षुषा।
अद्य प्रेम मदर्पितं प्रियसखीवृन्दे त्वया वध्यता—
मित्थं स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः॥"

—साहित्यदर्पण पृ० ५७४

यहां मृगशिशु के प्रति इस प्रकार का भाषण अप्रस्तुत है। इस अप्रस्तुत के द्वारा 'तुम मत जाओ' इस प्रस्तुत अर्थ की व्यक्ति होती है। यह प्रस्तुत अर्थ अप्रस्तुत अर्थ का कार्य है।[3] इस अगमनरूप कार्य तथा

---

१. " 'यस्मिन् खेलति' 'दिगन्ते श्रयन्ते' इत्यादौ वाच्यार्थताटस्थ्येनैव व्यंग्यस्य प्रतीतेः सर्वहृदयसंमतत्वात्। .... किं चाप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुतं व्यंग्यमिति निर्विवादम्। निगीर्याध्यवसाने तु लक्ष्यं स्यात्।"

—रसगंगाधर पृष्ठ ४५६

२. "न चाप्रस्तुतादसम्बन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः, अतिप्रसंगात्। सम्बन्धे तु भवन्ती त्रिविधं संबंधं नातिवर्तते, तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वात्। त्रिविधश्च सम्बन्धः सामान्यविशेषभावः, कार्यकारणभावः, सारूप्यं चेति।"— अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १२२

३. 'अत्र कस्यचिदगमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम्।'—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५७४

इसके कारण उपर्युक्त भाषण में कोई सादृश्य नहीं। अतः उपर्युक्त उदाहरण सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत नहीं आता।

जहां कार्यकारणसम्बन्ध की दशा में अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत में सादृश्य होता भी है वहां चमत्कार का कारण सादृश्य न होकर कार्यकारणभाव ही होता है। निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

"नाथ त्वदङ्घ्रिनखधावनतोयलग्ना—
स्तत्कान्तिलेशकणिका जलधिं प्रविष्टाः।
ता एव तस्य मथनेन घनीभवन्त्यो
नूनं समुद्रनवनीतपदं प्रपन्नाः॥" —कुवलयानन्द पृ० ८५

यहां अप्रस्तुत चन्द्रकान्ति तथा उससे प्रतीत होने वाली उसकी कारणभूत भगवत्पादनखकान्ति में सादृश्य अवश्य है, परन्तु यहां चमत्कार का कारण उनका सादृश्य न होकर उनका कार्यकारणसम्बन्ध है।

अप्पयदीक्षित ने अप्रस्तुतप्रशंसा मे उपर्युक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त सहोत्पत्ति आदि अन्य सम्बन्धों का भी उल्लेख किया है,[1] परन्तु इन सम्बन्धों का सादृश्य से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत इनके विवेचन की आवश्यकता नहीं।

सारूप्य अथवा सादृश्य के मम्मट ने उसके हेतु की दृष्टि से पुनः तीन भेद किए हैं। ये इस प्रकार हैं—श्लेषहेतुक सादृश्य, समासोक्तिहेतुक सादृश्य तथा सादृश्यमात्रः—

"तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः। श्लेषः, समासोक्तिः,
सादृश्यमात्रं वा तुल्यात् तुल्यस्य ह्याक्षेपे हेतुः॥"

—काव्यप्रकाश पृ० ६२२

मम्मटकृत इन भेदों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि समासोक्ति को अप्रस्तुतप्रशंसा में विद्यमान सादृश्य का हेतु मानना उचित नहीं। समासोक्तिजन्य चमत्कार तथा अप्रस्तुतप्रशंसाजन्य चमत्कार में भेद होता है। समासोक्ति में चमत्कार का कारण व्यवहार की साधारणता के कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यक्ति होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा में इसके विपरीत व्यवहारसादृश्य के कारण अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति चमत्कार का

१. "अत्र सहोत्पत्त्यादिकमपि सम्बन्धान्तरमाश्रयणीयमेव॥"

—कुवलयानन्द पृष्ठ ८७

कारण होती है। इस प्रकार दोनों अलंकारों के चमत्कार-हेतुओं में विरोध होने के कारण एक अलंकार को अन्य अलंकार का हेतु मानना उचित नहीं। जगन्नाथ का यही मत है।[1]

यदि समासोक्ति का अर्थ 'विशेषणश्लिष्टता से द्वितीयार्थमात्रप्रतीति' लिया जाता है तो अप्रस्तुतप्रशंसा मे समासोक्तिहेतुकता सम्भव है। जगन्नाथ ने समासोक्ति का यही अर्थ लेकर मम्मट की उक्ति की संगति विठाई है।[2]

मम्मट की उपर्युक्त उक्ति में समासोक्ति का अर्थ 'विशेषणश्लिष्टता के द्वारा द्वितीयार्थप्रतीति' लेने पर उनके द्वारा प्रयुक्त श्लेप का अर्थ विशेषणविशेष्योभयश्लिष्टना के द्वारा द्वितीयार्थप्रतीति ही लिया जा सकता है। आलंकारिकों ने समासोक्ति तथा श्लेष के ये ही अर्थ लेकर अर्थ-संगति बिठाई है:—

"अप्रकृतोक्त्या प्रकृताक्षेपस्थले उक्तयोः श्लेषसमासोक्त्यलंकारयोर-संभवात्। अत्र श्लेषपदं विशेषणविशेष्यवाचिशब्दानां सर्वेपामेवोभयार्थ-बोधकपरम् समासोक्तिपदं च विशेषणमात्रस्योभयार्थबोधकपरमिति वोध्यम्।"
—वालवोधिनी पृ० ६२२

यदि समासोक्ति का अर्थ विशेषणश्लिष्टता लिया जाता है तथा श्लेप का अर्थ विशेषणविशेष्योभयश्लिष्टता लिया जाता है तो समासोक्ति तथा श्लेष का पृथक् पृथक् निर्देश न करके मम्मट द्वारा एक श्लेष का निर्देश ही उचित था। इसी एक श्लेप के अन्तर्गत दोनों प्रकार की श्लिष्टताओं का उल्लेख हो सकता था।

प्रश्न उठ सकता है कि श्लिष्टविशेषणता की दशा में तो अप्रस्तुतप्रशंसा सम्भव है, विशेष्यश्लिष्टता की दशा में वह किस प्रकार सम्भव है। क्योंकि विशेष्य के जहां दो अर्थ निकलेंगे वहां प्रकरण आदि के द्वारा अभिधेय रूप में प्रथम उपस्थिति प्रस्तुत अर्थ की होगी और उससे अप्रस्तुत अर्थ की

---

१. "समासोक्तिरत्रानुग्राहिकेति तु न वक्तव्यम्। तस्याः प्रकृतालङ्कारविरुद्धा-मिस्कात्वेनानुग्राहिकात्वायोगात्।" —रसगंगाधर पृष्ठ ५३८

२. "तस्माच्छ्लिष्टविशेषणोपस्थितद्वितीयार्थमात्रं समासोक्तिरित्यभिप्रायेण यथाक-थञ्चित्संगमनीयम्।" —रसगंगाधर पृष्ठ ५३६

व्यक्ति होगी। अप्रस्तुतप्रशंसा में इसके विपरीत वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है और उससे प्रस्तुत अर्थ की व्यक्ति होती है। हेमचन्द्र का यही मत है।[1]

इस विषय में हमारा कहना है कि: प्रकरण की अनुकूलतामात्र प्रत्येक स्थिति में प्रस्तुत अर्थ की प्रथम उपस्थिति की निर्णायक नही कही जा सकती। वस्तुतः इस अनुकूलतामात्र को हम प्रस्तुत अर्थ की प्रथम उपस्थिति की निर्णायक वहीं कह सकते हैं जहां श्लिष्ट शब्द से निकलने वाले प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत अर्थ समानबलयुक्त हों, अन्यत्र नहीं। उदाहरणतः श्लिष्ट शब्दों से निकलने वाले अर्थो मे से यदि एक यौगिक है तथा अन्य रूढ है तो 'रूढिर्योगाद्बलीयसी' इस सिद्धान्त के अनुसार वहां सबलता रूढ अर्थ की होगी। ऐसी स्थिति में प्रकरण की अनुकूलतामात्र यौगिक अर्थ की प्रथम उपस्थिति की निर्णायक नही कही जा सकती। इस दशा मे यौगिक अर्थ की प्रथम उपस्थिति तभी सम्भव है जब इसे सबल बनाने के लिए अपेक्षित प्रकरणानुकूलता पर्याप्त रूप मे विद्यमान हो। परन्तु यदि ऐसा नहीं होता है तो वहां प्रथम उपस्थिति अप्रस्तुत रूढ अर्थ की ही होगी और उससे व्यक्ति प्रस्तुत यौगिक अर्थ की होगी। इस प्रकार वहां अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होगा। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"पुंस्त्वादपि प्रविचलेत् यदि यद्यधोऽपि यायात् यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन॥"

—काव्यप्रकाश १०।४४३

यहां पुरुषोत्तम शब्द के दो अर्थ हैं—पुरुषों में श्रेष्ठ तथा विष्णु। प्रथम अर्थ यौगिक है तथा द्वितीय योगरूढ है। प्रकरण यहां यौगिक अर्थ के अनुकूल अवश्य है परन्तु वह उसकी प्रथम

---

१. "विशेष्यश्लिष्टता तु अन्योक्तिप्रयोजकता न वाच्या। 'पुंस्त्वादपि प्रविचलेत्.........................' इत्यादौ पुरुषोत्तमशब्दस्यार्थद्वयवाचकत्वेऽपि सत्पुरुषचरितस्य प्रस्तुतत्वादभिधा एकत्र नियन्त्रितेति सत्पुरुष एव वाच्यो न विष्णुः तच्चरितस्याप्रकृतत्वात्।"

—काव्यानुशासन पृष्ठ ३६६

उपस्थिति कराने के लिए पर्याप्त नहीं। इसका कारण यह है कि यहां पुरुषोत्तम शब्द 'केन' शब्द से जुड़ा हुआ है। अतः यह पुरुषोत्तम कोई क्यों न हो होगा यह राजा से अन्य ही। और अन्य होने के नाते इससे प्रसिद्ध अर्थ विष्णु का ही बोध प्रथम होगा। यदि इस पुरुषोत्तम का प्रयोग राजा के लिए होता तथा पुरुषोत्तम से सम्बन्धित 'पुंस्त्वादपि प्रविचलेत् ....' आदि धर्मों का उल्लेख राजा के द्वारा किए हुए आचरणों के रूप में होता तब अन्य बात थी। परन्तु यहां ऐसा नही किया गया है। यहां तो राजा को प्रोत्साहित करने के लिए उसके मन्त्री ने व्यक्ति-विशेष का वर्णन किया है।[1] अतः प्रकरण यहां यौगिक अर्थ को बलवान् बनाने मे समर्थ नही। अथवा इसे हम यों कह सकते हैं कि यहां यौगिक अर्थ को प्रधान बनाने के लिए अपेक्षित प्रकरणानुकूलता पर्याप्त रूप मे विद्यमान नही।

ऐसा होते हुए भी डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी ने उपर्युक्त उदाहरण में योगरूढ अर्थ को प्रधान न मानकर यौगिक अर्थ को प्रधान माना है। उनका कहना है कि उपर्युक्त उदाहरण मे योगरूढ अर्थ की प्रधानता मानने से कई असंगतियां उत्पन्न होंगी। प्रथम तो यह कि शब्दशक्ति-मूलध्वनि के प्रसंग में मम्मट द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित उदाहरण असंगत हो जाएगाः—

'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥'

—काव्यप्रकाश

यहां वारणस्य के दो अर्थ होते हैं—नाशकस्य तथा हस्तिनः। प्रथम अर्थ यौगिक है तथा अन्य अर्थ रूढ है। प्रकरण यौगिक अर्थ के अनुकूल है। डा० चौधरी कहते हैं कि यदि इस प्रकरणानुकूलता की उपेक्षा करके 'रूढिर्योगापहारिणी' इस सिद्धान्त के अनुसार रूढ अर्थ को बलवान् माना जाता है तो यहां प्रथम उपस्थिति अप्रस्तुत अर्थ की माननी होगी और उससे प्रस्तुत अर्थ की व्यक्ति होगी। इस प्रकार यह अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण हो जाएगा। इस

---

१. 'सपत्नाण्हृतं राज्यमुद्धर्तुं कंचिन्नृपमुद्वेजयतस्तन्मन्त्रिण उक्तिरियमिति टीकाकाराः।' — बालबोधिनी

प्रकार मम्मट के द्वारा इसे शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण मानना असङ्गत हो जाएगा, क्योंकि इस ध्वनि मे प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यक्ति होती है।[1]

इसके उत्तर में हमारा कहना है कि उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में अन्तर है। द्वितीय उदाहरण में 'वारणस्य' शब्द जिस 'यस्य' शब्द के साथ जुड़ा हुआ है उसका प्रयोग सीधे ही प्रकृत राजा के लिए हुआ है। अतः यहां 'शत्रुनाशकस्य.........' आदि नृपसम्बन्धी प्रस्तुत अर्थ का प्रथम बोध कराने के लिए अपेक्षित प्रकरणानुकूलता विद्यमान है। प्रथम उदाहरण में ऐसी बात नहीं।

डा० चौधरी के अनुसार 'पुंस्त्वादपि.......' इस उदाहरण में अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार मानने से एक असंगति और उत्पन्न होगी। वह यह है कि 'दुर्गालंघितविग्रहो.......' इस उदाहरण में विश्वनाथ के द्वारा शब्दशक्ति-मूलध्वनि मानना असंगत हो जाएगा। उदाहरण इस प्रकार है:—

दुर्गालंघितविग्रहो मनसिजं सम्मीलयंस्तेजसा,
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विश्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्,
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः॥ —साहित्यदर्पण

डा० चौधरी कहते हैं कि विश्वनाथ ने 'पुंस्त्वादपि...'इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माना है। अतः इसमे अपनाए हुए आधार के अनुसार 'दुर्गालङ्घितविग्रहो.......' में भी उन्हें अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार मानना होगा। परन्तु उन्होंने इसे शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण माना है। इस प्रकार उनके विवेचन में असंगति तथा पूर्वापरविरोध है।[2]

इस विषय में हमारा कहना है कि उपर्युक्त दोनों श्लोकों में अन्तर है। प्रथम श्लोक में जिन दो अर्थों में से किसी एक की उपस्थिति का निर्णय किया जाता है उनमें से एक रूढ है तथा अन्य यौगिक है, द्वितीय श्लोक मे ऐसी बात नहीं। क्योंकि यहां उमा से निकलने वाला एक अर्थ रूढ हो तथा अन्य यौगिक हो ऐसी बात नहीं। डा० चौधरी कहते हैं कि उमा पद गौरी अर्थ में रूढ है। यदि ऐसी बात है तो क्या वे दोनों श्लोकों में समानता

---

१. देखिए काव्यतत्त्वसमीक्षा पृष्ठ १४६
२. देखिए काव्यतत्त्वसमीक्षा पृष्ठ १४६, १४७

दिखाने के लिए अन्य अर्थ को यौगिक मानेंगे ? यदि मानेंगे तो उनका मत समीचीन नहीं कहा जाएगा और यदि नही मानेंगे तो दोनों श्लोकों में साम्य कैसा। दूसरे उमा के गौरी अर्थ को डा० चौधरी जिस प्रकार रूढ मानते हैं उस प्रकार हम भी प्रस्तुत पाठक की दृष्टि से उमा का अर्थ प्रस्तुत राजा की धर्मपत्नी के रूप में रूढ मान सकते है। जिस प्रकार पाठक-सामान्य गौरी अर्थ में उमा पद का बार बार प्रयोग देखकर इस पद को गौरी अर्थ में रूढ समझता है उस प्रकार प्रस्तुत पाठक भी महादेवी अर्थ में उमा का बार बार प्रयोग देखकर इस पद को महादेवी अर्थ में रूढ समझ सकता है। और यह सर्वथा स्वाभाविक है कि इस श्लोक से पूर्व वर्णन में उमा का प्रयोग महादेवी अर्थ मे अनेक बार हुआ हो। ऐसी स्थिति में यही मानना उचित होगा कि उमा पद से निकलने वाले समानबलयुक्त दोनों अर्थों में से प्रकरण आदि की सहायता से उमा पद का अर्थ प्रस्तुत राजा की धर्मपत्नी लिया जाए। यदि उमा पद से निकलने वाले अर्थों में से एक रूढ होता तथा अन्य यौगिक तो भी प्रथम श्लोक से इसका यह स्पष्ट अन्तर है कि यहां उमापति का जिस 'अयम्' शब्द से सम्बन्ध है वह सीधा ही राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है, पूर्व श्लोक मे पुरुषोत्तम शब्द के साथ यह बात नहीं।

पूर्व श्लोक के अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण होने के विरुद्ध डा० चौधरी एक तर्क और उपस्थित करते है। वह यह है कि ध्वनिकार तथा अभिनवगुप्त ने इसी जैसे उदाहरण में शब्दशक्तिमूलध्वनि मानी है। उदाहरण इस प्रकार है:—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।' —ध्वन्यालोक पृष्ठ २४१

इस उदाहरण पर विचार करने से प्रतीत होगा कि 'पुंस्त्वादपि....' इस पूर्व उदाहरण से इसका अन्तर स्पष्ट है। इस उदाहरण में महाकाल का ऋतु के लिए प्रयोग हुआ है यही नहीं अपितु 'ग्रीष्माभिधानः' के रूप में उस ऋतु का स्पष्टतः उल्लेख भी है। अतः यहां महाकाल के रूढ अर्थ के प्रथम उपस्थित होने का प्रश्न नहीं उठता। इस श्लोक की व्याख्या में अभिनव कहते हैं कि यहां ऋतु-वर्णन के प्रस्ताव के कारण माहाकालादि की अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जाती है, अतः यहां 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इस सिद्धान्त का निराकरण हो जाता

है !' इस कथन से स्पष्ट है कि अभिनव ने यह बात इस श्लोक के प्रसङ्ग में कही है। परन्तु डा० चौधरी इसका व्यापक अर्थ लेते हुए कहते है कि अभिनव को यौगिक अर्थ के प्रकरणानुकूल होने की दशा मे रूढ अर्थ की बलवत्ता कहीं भी अभीष्ट नहीं। हमारे विचार से उपर्युक्त कथन के समय अभिनव का यह तात्पर्य नहीं रहा होगा। वस्तुतः प्रकरणानुकूलता के द्वारा 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इस सिद्धान्त का निराकरण प्रकरणानुकूलता के स्वरूपविशेष पर निर्भर करता है। जहां यह स्वरूप-विशेष विद्यमान रहता है वहां इसका (सिद्धान्त का) निराकरण हो जाता है परन्तु जहां यह विद्यमान नहीं रहता वहां इस सिद्धान्त का निराकरण नहीं होता। उपर्युक्त श्लोक में यह स्वरूपविशेष विद्यमान है। अतः वहां इस सिद्धान्त का निराकरण हो जाता है। 'पुंस्त्वादपि···' में यह स्वरूप-विशेष विद्यमान नही। अतः वहां इस सिद्धान्त का निराकरण नहीं होता। ऐसा मानने से अभिनव तथा मम्मट के मतों में सामञ्जस्य बैठ जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्लिष्टविशेष्यता की दशा में अप्रस्तुतप्रशंसा सम्भव है।

कवि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत का वर्णन न करके व्यवहारसादृश्य के आधार पर अप्रस्तुत का वर्णन करता है। कवि जब अप्रस्तुत का वर्णन करता है तब प्रस्तुत का वर्णन उसके ध्यान में रहता है। इस प्रस्तुत वर्णन के ध्यान मे होने के कारण कभी कभी ऐसा होता है कि कवि अप्रस्तुत धर्म मे प्रस्तुत धर्म से थोड़ा सा सादृश्य देखकर सादृश्य के अवशिष्ट अंश की पूर्ति उस पर प्रस्तुत धर्म का रंग चढाकर कर देता है। आलङ्कारिकों ने इसे वाच्यार्थ पर प्रतीयमान अर्थ का अध्यारोप कहा हैः—

"क्वचिदध्यारोपेणैव"—काव्यप्रकाश पृष्ठ ६२६

निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट हैः—

---

१. " महांश्चासौ दिनदैर्ध्यदुरतिवाहतायोगात् कालः समयः। अत्र ऋतुवर्णन-प्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अत एव—'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव।"

—काव्यतत्त्वसमीक्षा पृष्ठ १४७, १४८

"मलिनेऽपि रागपूर्णा विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि ।
त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजनीं त्यजसि ॥"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ५३९

यहां प्रस्तुत अर्थ में मालिन्य दोष के रूप में है तथा राग गुण के रूप में है। इस प्रकार 'मलिनेऽपि रागपूर्णाम्' विशेषण नायक द्वारा नायिका के त्याग के अनौचित्य का समर्थक है। अप्रस्तुत अर्थ में भ्रमर में मालिन्य तथा सरोजिनी में राग अवश्य है परन्तु ये मालिन्य तथा राग दोष तथा गुण के रूप में नहीं। अतः ये भ्रमर द्वारा सरोजिनी के त्यागसम्बन्धी अनौचित्य के समर्थक नहीं। इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के सादृश्य में पूर्णता नहीं। परन्तु यह पूर्णता का अभाव कवि के द्वारा प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत के वर्णन मे बाधक नही बनता। वह इनमें आँशिक सादृश्य देखकर सादृश्य के अवशिष्ट अंश की पूर्ति अप्रस्तुत धर्म पर प्रस्तुत का अध्यारोप करके कर लेता है।[1]

१. अत्र त्यागानौचित्यहेतुत्वेन कमलिन्याः स्तुतिरूपं विशेषणमुपात्तम्। तच्च न संभवति। न हि भ्रमरे श्यामत्वादिर्दोषः, कमलिन्यां शोणत्वादिर्वा गुणः येन स्तुतिः स्यात्। अतो वाच्यार्थस्य प्रतीयमानतादात्म्यं विशेष्यांशे विशेषणांशे चापेक्ष्यते।

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ५३६

प्रस्तुतांकुर का ध्वनि में अन्तर्भाव

अप्पयदीक्षित ने प्रस्तुतांकुर अलंकार का निरूपण किया है। इस अलंकार में प्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति होती है:—

"प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः।
किं भृङ्ग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया ॥"

—कुवलयानन्द २८।६७

वस्तुतः इसे अलंकार न मानकर ध्वनि मानना उचित होगा। इसका विवेचन अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रकरण में किया जा चुका है।

ससन्देह

ससन्देह अलंकार की अवस्था में कवि की चित्तवृत्ति सन्देह का रूप धारण करती है। कवि की इस सन्देहात्मक चित्तवृत्ति तथा लौकिक सन्देहात्मक चित्तवृत्ति में भेद है। लौकिक सन्देहात्मक चित्तवृत्ति अनाहार्य अथवा वास्तविक होती है। कवि की सन्देहात्मक चित्तवृत्ति इसके विपरीत आहार्य अथवा कल्पनाजन्य होती है। इस चित्तवृत्ति की अवस्था में कवि को प्रस्तुत वस्तु का व्यावहारिक ज्ञान न रहे ऐसी बात नहीं। उसे उसका व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहता है, परन्तु उसके किसी धर्म की अभिव्यक्ति के लिए वह उस प्रस्तुत वस्तु का उस धर्म से युक्त अन्य वस्तु के रूप में सन्देह करता है। निम्नलिखित उदाहरण इसका समर्थक है:—

"किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी।
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३१

यहां कवि को प्रस्तुत स्त्री का ज्ञान है। वह वल्लरी तथा लहरिका के रूप में उसका जो सन्देह करता है वह केवल उसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए करता है।

जहां यह सन्देह कवि का न होकर कविनिबद्ध पात्रों का होता है, वहां वह अनाहार्य अथवा वास्तविक भी हो सकता है। पात्रों के इस वास्तविक सन्देह का वर्णन करके कवि अपने भावों को पाठक तक पहुँचाने में सफल होता है:—

"अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः।
... ...
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः॥"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३१

यहां शत्रुसैनिकों का सन्देह वास्तविक है।

इस प्रकार ससन्देह अलंकार में दो प्रकार का ज्ञान सम्भव है—आहार्य तथा अनाहार्य। जगन्नाथ ने इस मत का समर्थन किया है।[1]

---

१. "अयं च क्वचिदनाहार्यः, क्वचिदाहार्यः। यत्र हि कविना परनिष्ठः संशयो निबध्यते प्रायशस्तत्रानाहार्यः।............यत्र च स्वगत एव तत्राऽऽहार्यः।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३५१

सन्देह में प्रस्तुत वस्तु के ऐसे धर्म हमारी दृष्टि के विषय बनते हैं जो अन्य वस्तुओं में साधारणरूप से देखने को मिलते हैं। धर्मों की इस साधारणता के कारण हमें उस वस्तु का उन अन्य वस्तुओं के रूप में सन्देह होता है। सन्देह की अवस्था में प्रस्तुत वस्तुओं का जिन जिन वस्तुओं के रूप में सन्देह होता है उनमें प्रस्तुत वस्तु भी एक हो सकती है। उदाहरणतः यदि स्थाणु की स्थूलता, दीर्घता आदि हमारी दृष्टि का विषय है तो हम इन स्थूलता, दीर्घता आदि धर्मों के आधार पर प्रस्तुत स्थाणु का ऐसी वस्तुओं के रूप में सन्देह करेंगे जिनमें ये धर्म विद्यमान हैं। इन वस्तुओं में स्थाणु भी एक हो सकती है। अतः प्रस्तुत स्थाणु के उपर्युक्त धर्मों के आधार पर हम सन्देह करेंगे कि 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा।' सन्देह की उपर्युक्त स्थिति शुद्ध सन्देह की स्थिति है। इस स्थिति में जो चमत्कार-पूर्ण अभिव्यक्ति होती है वह शुद्ध ससन्देहालंकार होती है।

व्यक्ति इस शुद्ध सन्देह की अवस्था तक ही सीमित नहीं रहता। उसका प्रयत्न इस अवस्था से निकल कर निर्णय की अवस्था तक पहुँचना होता है। इसके लिए वह प्रस्तुत वस्तु तथा अन्य वस्तुओं में वैधर्म्य तत्त्व की खोज करता है। यह वैधर्म्यज्ञान अन्य वस्तुओं का निराकरण करके प्रस्तुत वस्तु के स्वरूपज्ञान में सहायक होता है। यही कारण है कि बौद्धों ने वस्तु के ज्ञान की प्रक्रिया 'अतद्व्यावृत्ति' बताई है। हम प्रत्येक वस्तु के ज्ञान के लिए इस प्रक्रिया की यथार्थता स्वीकार न करें तो भी सन्देह की अवस्था से निर्णय की अवस्था तक पहुँचने के लिए तो इस प्रक्रिया के अवलम्बन की यथार्थता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। इस प्रक्रिया की अवस्था में जिस अलंकार की अभिव्यक्ति होती है वह निश्चयगर्भ ससन्देह कहा गया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः

... ...

समालोक्याजौ त्वाँ विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः।"

—साहित्यदर्पण पृष्ठ ५३१

यहाँ शत्रुसैनिकों को प्रथम राजा का मार्तण्ड आदि के रूप में सन्देह होता है, परन्तु बाद में सप्ततुरग आदि वैधर्म्य-तत्त्वों के ज्ञान के फलस्वरूप इन सन्देहों का क्रमशः निराकरण हो जाता है।

निश्चयगर्भ सन्देह में वस्तुतः निश्चय न होकर एक सन्देह का निराकरण

होता है। उपर्युक्त उदाहरण में प्रतिभटों को यह निश्चय नहीं हुआ है कि यह राजा है, परन्तु उनके केवल इस सन्देह का निराकरण हुआ है कि यह सूर्य आदि है। अथवा हम यह कह सकते हैं कि प्रतिभटों को यह निश्चय हो जाता है कि अमुक वस्तु सूर्य आदि नहीं है। इस प्रकार निश्चयगर्भ सन्देह में वस्तु के स्वरूप का निश्चय न होकर अन्य वस्तु के रूप में उत्पन्न सन्देह का निराकरणमात्र होता है।

सन्देह से निश्चय की ओर उन्मुख यह प्रक्रिया और आगे बढती है और इसका पर्यवसान निश्चय मे होता है। इस अवस्था में अभिव्यक्त अलंकार निश्चयान्त सन्देह कहा गया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥"

—साहित्यदर्पण पृ० ५३१

इस प्रकार ससन्देह अलंकार के तीन भेद होते हैं—शुद्ध, निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त। इनमें प्रथम भेद में वैधर्म्य उक्ति नहीं होती, परन्तु अन्य दो भेदों में वह होती है। आलंकारिकों को प्रायः यही मत मान्य है।

उद्भट का इससे कुछ मतभेद है। उन्होंने निश्चयान्त सन्देह का निरूपण नहीं किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि निश्चयान्त-सन्देह में निश्चयगर्भसन्देह के समान निश्चय प्रतीयमान न होकर वाच्य होता है। मम्मट का यही मत है।[1]

यह अवश्य है कि निश्चयगर्भ सन्देह में निश्चय व्यंग्य होता है तथा निश्चयान्त सन्देह में वह वाच्य होता है। परन्तु इस भेद के आधार पर निश्चयान्त भेद को ससन्देह अलंकार की कोटि से बाहर करना उचित नहीं। ससन्देह अलंकार में चमत्कार का कारण सादृश्य पर आश्रित सन्देह होता है और वह इस निश्चयान्तभेद में भी विद्यमान है। अतः यह ससन्देह अलंकार के अन्तर्गत ही आता है।

ससन्देह अलंकार के मूल में सादृश्य का होना आवश्यक है। जहां सन्देह सादृश्य के कारण उत्पन्न न होकर चिन्ता आदि के कारण उत्पन्न

१. "किं तु निश्चयगर्भे इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन।"

—काव्यप्रकाश पृष्ठ ५८१

होता है वहां यह अलंकार नहीं होता। जगन्नाथ ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

आलंकारिकों द्वारा इस अलंकार की परिभाषा में सादृश्य अथवा इसके पर्यायवाची शब्द का सन्निवेश भी इस बात का प्रमाण है कि सादृश्य इस अलंकार के मूल में है:—

"बुद्धिः सर्वात्मनान्योन्याक्षेपिनानार्थसंश्रया।
सादृश्यमूला वार्थस्पृक् सन्देहालंकृतिर्मता॥" —चित्रमीमांसा पृष्ठ ७३

"विषयो विषयी यत्र सादृश्यात् कविसम्मतात्।
सन्देहगोचरौ स्यातां सन्देहालंकृतिश्च सा॥"
—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृष्ठ २७४

ससन्देह के मूल में विद्यमान यह सादृश्य एक प्रकार अथवा अनेक प्रकार का हो सकता है। जहाँ सादृश्य एक प्रकार का होता है वहाँ एक ही साधारणधर्म प्रस्तुत वस्तु के अनेक वस्तुओं के रूप में सन्देह का कारण होता है। "किं लक्ष्मीरुर्वशी वेयं रम्भा वा मेनकाथ वा"[2] इस उदाहरण में एक ही साधारणधर्म सौन्दर्य लक्ष्मी आदि अनेक विकल्पों का कारण है। जहाँ साधारणधर्म अनेक प्रकार का होता है वहाँ एक साधारणधर्म को लेकर एक वस्तु का सन्देह होता है तथा अन्य साधारणधर्म को लेकर अन्य वस्तु का सन्देह होता है। 'अयं मार्तण्डः किं·········' इस उदाहरण में यही बात है। जगन्नाथ ने साधारणधर्म के इन दोनों प्रकारों को स्वीकार किया है।[3]

सन्देह के मूल में विद्यमान सादृश्य के कारण हम प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तुओं के रूप में देखते हैं। हम जब प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तुओं

---

१. "अधिरोप्य हरस्य हन्त चापं परितापं प्रशमय्य बान्धवानाम्।
परिणेष्यति वा न वा युवायं निरपायम् मिथिलाधिनाथपुत्रीम्॥
अत्र मिथिलास्थजनोक्तौ तच्चिन्ताभिव्यंजके संशयमात्रेऽतिव्याप्तिवारणाय सादृश्यमूलेति।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ३४०

२. चित्रमीमांसा पृष्ठ ७१

३. "अस्मिंश्च संशये नानाकोटिषु क्वचिदेक एव समानो धर्मः। क्वचित् पृथक्।" —रसगङ्गाधर पृष्ठ ३४९

के रूप में देखते हैं तब हमें प्रस्तुत वस्तु की प्रतीति नहीं होती। सन्देह में यह नहीं होता कि प्रस्तुत वस्तु की प्रतीति रहते हुए साम्य के कारण उसकी अन्य रूपों में प्रतीति हो। परन्तु यह होता है कि साम्य के कारण हमें केवल अप्रस्तुत वस्तुओं की प्रतीति होती है। इस प्रकार सन्देह में प्रस्तुत वस्तु का सर्वथा निगरण होता है। अतः यहाँ आरोप न होकर अध्यवसान होता है।

जगन्नाथ का इससे मतभेद है। इन्होंने सन्देह में आरोप तथा अध्यवसान दोनों माने हैं।[1] इनका आरोपमूलक सन्देह का उदाहरण इस प्रकार है:—

"मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषिनिकरैरिति संशयः प्रपेदे॥"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३४२

इस उदाहरण से प्रतीत होता है कि जगन्नाथ ने रघुपति शब्द के द्वारा विषय के निर्देश को आरोप का आधार माना है। रघुपति का ज्ञान केवल कवि तथा पाठक को है ऋषियों को नहीं। इस प्रकार जगन्नाथ ने आरोप का निर्णय कवि तथा पाठक को लक्ष्य करके किया है। परन्तु उपर्युक्त उदाहरण में सन्देह का सीधा सम्बन्ध ऋषियों से है। अतः उनको लक्ष्य करके आरोप अथवा अध्यवसान का निर्णय किया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। जहां तक ऋषियों का सम्बन्ध है उन्हें प्रतीति राम की न होकर केवल 'मरकतमणिमेदिनीधरः' अथवा तमाल की होती है। अतः उनके दृष्टिकोण से यहां आरोप न होकर अध्यवसान है।

कभी कभी ससन्देह में किसी वस्तु का अन्य वस्तुओं में सन्देह न होकर कतिपय वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में सन्देह होता है। रुद्रट ने इस प्रकार के सन्देहों का उल्लेख किया है:—

"गमनमधीतं हंसैस्त्वत्तः सुभगे त्वया नु हंसेभ्यः।"

—काव्यालंकार ८।६६

यहां नायिकागमन तथा हंसगमन में अध्येता कौन है तथा अध्यापक

---

१. "एवमारोपमूलोऽयं संदेहालंकारः। अध्यवसानमूलोऽपि दृश्यते॥"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ ३४२

कौन है, इस विषय में सन्देह है। यह सन्देह नायिकागमन तथा हंसगमन में सादृश्य के कारण है।

ससन्देह अलंकार का उल्लेख प्रायः सभी आलंकारिकों ने किया है। अर्वाचीन आलंकारिकों ने प्रायः इस अलंकार के तीनों भेदों का उल्लेख किया है। प्राचीन आलंकारिकों में ऐसी बात नहीं। भामह की परिभाषा तथा उदाहरण निश्चयगर्भ सन्देह के हैं।[1] भट्टि का उदाहरण भी निश्चयगर्भ सन्देह के अन्तर्गत आता है।[2] दण्डी ने सन्देह का अन्तर्भाव संशयोपमा में किया है। इन्होंने संशयोपमा के अतिरिक्त निर्णयोपमा भी स्वीकार की है:—

"न पद्मस्येन्दुनिग्राह्यस्येन्दुलज्जाकरी द्युतिः।
अतस्त्वन्मुखमेवेदमित्यसौ निर्णयोपमा।" —काव्यादर्श २।२७

यह निर्णयोपमा निश्चयान्तसन्देह कही जा सकती है।

उद्भट ने शुद्ध तथा निश्चयगर्भ इन दो सन्देहों का उल्लेख किया है। वामन की परिभाषा तथा उदाहरण शुद्ध सन्देह के हैं। रुद्रट ने तीनों भेदों का निरूपण किया है। भोज ने सन्देह के अनेक भेदों का उल्लेख किया है। इन्होंने सन्देह के प्रथम एकवस्तुविषय तथा अनेकवस्तुविषय ये दो भेद किए हैं और फिर अनेकवस्तुविषय के शुद्ध तथा मिश्र ये दो भेद किए हैं।[3] एकवस्तुविषय की परिभाषा सन्देह की सामान्य परिभाषा के समान है। अनेकवस्तुविषय की परिभाषा में साधारण अन्तर है:—

"तत्रैकविषयोऽनेको यस्मिन्नेकत्र शंक्यते।
यस्मिन्नेकमनेकत्र सोऽनेकविषयः स्मृतः॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण ४।४२

---

१. "उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा॥"
"किमयं शशी न स दिवा विराजते। कुसुमायुधो न धनुरस्य कौसुमम्॥"

—भामहालङ्कार ३।४३, ४४

२. देखिए भट्टिकाव्य १०।६८

३. "अर्थयोरतिसादृश्याद्यत्र दोलायते मनः।
तमेकानेकविषयं कवयः संशयं विदुः॥" —सरस्वतीकण्ठाभरण ४।४१
अनेकवस्तुविषयो द्विधा शुद्धो मिश्रश्च। —सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४४६

इस सन्देह में एक वस्तु का अनेक स्थानों पर सन्देह होता है। सन्देह के उदाहरण 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' में हमें एक वस्तु मे स्थाणु तथा पुरुष इन दोनों का सन्देह होता है। प्रस्तुत सन्देह मे हमारे सम्मुख दो वस्तुएं होती है और हमे यह निश्चय नही होना कि इन दोनों में पुरुष कौनसा है। इस सन्देह में हमें यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि इन दो अथवा अधिक वस्तुओं में एक पुरुष अवश्य है। हमें सन्देह केवल यही होता है कि इन वस्तुओं में कौनसी वस्तु पुरुष है। प्रथम सन्देह मे हम सम्मुख स्थित वस्तु के किसी धर्म को लेकर उस वस्तु का उन वस्तुओं मे सन्देह करते है जिनमे वह धर्म है। यहां पुरुष के किसी धर्म को इन दोनों वस्तुओं में देखकर उस पुरुष का दोनों स्थानों पर सन्देह करते है। इसे भोज ने शुद्ध कहा है।

यदि हमें यह ज्ञान है कि सम्मुख स्थित वस्तुओं मे से एक पुरुष है तथा अन्य स्थाणु है तो हम यह सन्देह करते हैं कि इनमे से कौनसी वस्तु पुरुष है तथा कौनसी स्थाणु है। इसे भोज ने मिश्र कहा है।

वितर्कालंकार का सन्देह में अन्तर्भाव

भोज ने वितर्कालंकार का निरूपण किया है:—

"ऊहो वितर्कः सन्देहनिर्णयान्तरधिष्ठितः ।
द्विधासौ निर्णयान्तश्चानिर्णयान्तश्च कीर्त्यते ॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३९

यह अलंकार वितर्क पर आश्रित होता है। वितर्क संशय तथा निर्णय की मध्य अवस्था है। संशय के बाद अनिर्णय की अवस्था में व्यक्ति जो ऊहापोह करता है वही वितर्क है।[1] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥"

—काव्यप्रकाश १० । ४२०

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि अलंकार की दृष्टि से वितर्क को संशय से भिन्न समझना उचित नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में वितर्क के कारण के रूप में संशय विद्यमान है तथा चमत्कार का कारण वितर्क न होकर संशय ही है।[2]

भोज ने वितर्क के जिन भेदों का वर्णन किया है उनका सन्देह मे अन्तर्भाव किया जा सकता है। वितर्क के उन्होंने दो भेद बताए हैं—निर्णयान्त तथा अनिर्णयान्त। निर्णयान्त के पुनः तीन भेद किए हैं—निर्णयान्त तत्त्वानुपाती, निर्णयान्त अतत्त्वानुपाती तथा उभयात्मक। अनिर्णयान्त के इन्होंने

---

१. "संशयोत्तरमनिर्णये ऊहो वितर्कः।"—बालबोधिनी पृष्ठ ५६२

२. "वितर्ककारणत्वेन त्वयाप्यत्र संशयाङ्गीकारेण तस्यैवालंकारत्वात् सतोऽपि वितर्कस्य वर्णनीयोत्कर्षानाधायकत्वेनालंकारत्वाभावाच्च सन्देहेनैव तस्याः उत्कर्षसिद्धेः।"
—बालबोधिनी पृष्ठ ५६२

तीन भेद किए हैं:—मिथ्या, अमिथ्या तथा उभयात्मक।[1] उपर्युक्त श्लोक निर्णयान्त अतत्त्वानुपाती का उदाहरण है। इसका अन्तर्भाव सन्देह मे हो ही गया है। इसी प्रकार अन्य भेदों का भी सन्देह में अन्तर्भाव हो सकता है।

१. "तत्त्वानुपात्यतत्त्वानुपाती यश्चोभयात्मकः।
स निर्णयान्त इतरो मिथ्यामिथ्योभयात्मकः॥"—सरस्वतीकण्ठाभरण ३।४०

भ्रान्तिमान्

भ्रान्तिमान् में चमत्कार का कारण भ्रान्ति होती है। भ्रान्ति मे एक वस्तु को अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। यह सादृश्य, चिन्ता आदि अनेक कारणों से सम्भव है, परन्तु भ्रान्तिमान् के मूल मे विद्यमान भ्रान्ति के लिए आवश्यक है कि यह केवल सादृश्य पर आश्रित होनी चाहिए। चिन्ता आदि पर आश्रित भ्रान्ति भ्रान्तिमान् अलंकार का कारण नही हो सकती। यही कारण है कि निम्नलिखित उदाहरण में भ्रान्तिमान् अलंकार नही माना गया है:—

"संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
संगे सैव तथैव त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।"—साहित्यदर्पण पृ० ५३२

यहां त्रिभुवन में प्रिया की भ्रान्ति सादृश्य के कारण न होकर विरहभावना के अतिशय के कारण है। अतः यहां भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं है। भ्रान्तिमान् की निम्नलिखिति परिभाषाओं से भी यह स्पष्ट है कि इस अलंकार के मूल में सादृश्य का होना आवश्यक है:—

"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः"

—साहित्यदर्पण १०। ३६

"भ्रान्तिमान् अन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने" —काव्यप्रकाश १०–२००

प्रश्न उठ सकता है कि सादृश्य के अतिरिक्त अन्य कारणों पर आश्रित भ्रान्ति को आलंकारिकों ने भ्रान्तिमान् अलंकार का आधार क्यों नहीं माना। आलंकारिकों ने इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है। इसका उत्तर निम्नलिखित हो सकता है:—

सादृश्य पर आश्रित भ्रान्ति के कारण बाह्य होते है तथा सादृश्य से इतर कारणों पर आश्रित भ्रान्ति के कारण आन्तरिक होते हैं। मुख तथा कमल के सादृश्य के कारण भ्रमर को मुख में कमल की जो भ्रान्ति होती है उसके कारण मुख में विद्यमान सौन्दर्य आदि हैं। ये कारण बाह्य हैं। इसके विपरीत उपर्युक्त उदाहरण में विरही को जो भ्रान्ति होती है उसका कारण उसकी मानसिक दशा है। यह एक आन्तरिक कारण है। जब भ्रान्ति के कारण बाह्य होते हैं तब वे भ्रान्ति के विषय में विद्यमान रहते हैं। अतः इस दशा में चमत्कार का कारण भ्रान्ति ही होता है। परन्तु

जब भ्रान्ति के कारण आन्तरिक होते है तब वे भ्रान्ति के विषय में न रहकर दर्शक की चित्तवृत्ति मे रहते है। अतः इस दशा में चमत्कार का कारण भ्रान्ति न होकर दर्शक की चित्तवृत्ति होता है। इस चित्तवृत्ति का ज्ञान वर्णन भ्रान्ति से अवश्य होता है, परन्तु हमारे चमत्कार का विषय भ्रान्ति न होकर वर्णित मानसिक दशा होती है।

भ्रान्तिमान् मे यह भ्रान्ति कवि को न होकर कविनिबद्ध पात्र को होती है। कवि को यह भ्रान्ति नहीं हो सकती। कवि का उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करना होता है। यदि उसे स्वयं उस वस्तु में अन्य वस्तु की भ्रान्ति हो जाए तो वह उस वस्तु का वर्णन पाठक तक कैसे पहुँचा सकता है। अतः भ्रान्ति कविनिबद्ध पात्र को होती है। इस भ्रान्ति का आश्रय लेकर कवि का उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु की सफल अभिव्यञ्जना करना होता है।

प्रश्न उठ सकता है कि ससंदेह में जिस प्रकार कवि का आहार्य सन्देह सम्भव है उस प्रकार भ्रान्ति में कवि की आहार्य भ्रान्ति कैसे सम्भव नही। इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—

सन्देह की अवस्था मे प्रस्तुत वस्तु का जिन वस्तुओं में सन्देह होता है उनमें प्रस्तुत वस्तु भी एक हो सकती है। अत. सन्देह के साथ साथ प्रस्तुत वस्तु का वर्णन सम्भव है। परन्तु भ्रान्ति में प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तु समझ लेने के कारण प्रस्तुत वस्तु का वर्णन सम्भव नहीं। अतः प्रस्तुत वस्तु के वर्णन को अपना उद्देश्य बनाने वाले कवि के साथ भ्रान्ति को जोड़ना उचित नहीं।

संशय की अवस्था में कवि को यह पता होता है कि उसका यह ज्ञान संशयात्मक है। अतः वह इस ज्ञान को वास्तविक समझकर इसे अपनी प्रवृत्ति का आधार नहीं बनाता। इस ज्ञान में यथार्थता की बुद्धि केवल उन्ही धर्मों तक सीमित रहती है जो संशय के दोनों अथवा अधिक पक्षों में सामान्य रूप से विद्यमान हैं। अतः कवि इन्हीं धर्मों को अपने वर्णन का आधार बनाता है। इस प्रकार प्रस्तुत वस्तु के वर्णन के साथ साथ कवि के लिए संशय का आश्रय लेना सम्भव है। भ्रान्ति में ऐसी बात नहीं होती। भ्रान्ति जिस व्यक्ति को होती है वह व्यक्ति अपनी इस भ्रान्ति को भ्रान्ति न समझकर यथार्थज्ञान ही समझता है। अतः यदि कवि को ऐसा ज्ञान हो तो उसके लिए प्रस्तुत वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं।

इस प्रकार भ्रान्ति का सम्बन्ध कवि से न होकर कविनिबद्ध पात्र से होता है। कविनिबद्ध पात्र से सम्बन्ध होने के कारण भ्रान्ति का यह ज्ञान अनाहार्य होता है। जगन्नाथ की निम्नलिखित परिभाषा इसकी समर्थक है:—

"सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्य-प्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्तिः। सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन् वाक्य-संदर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान्।" —रसगंगाधर पृष्ठ ३५३

अनाहार्य ज्ञान प्रवृत्ति का निमित्त होता है। इस ज्ञान की दशा में पात्र प्रस्तुत वस्तु को अन्य वस्तु समझकर उसके अनुसार आचरण करता है।

"कपाले मार्जारः पय इति करांल्लेढि शशिन—
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति॥" —चित्रमीमांसा पृ० ७५

यहां चन्द्रिका प्रस्तुत है तथा मार्जार आदि पात्र हैं। ये पात्र चन्द्रिका को दूध आदि समझकर लेहन आदि के लिए प्रवृत्त होते हैं।[1]

यहां चन्द्रिका में दूध की भ्रान्ति का कारण चन्द्रिका का श्वेत वर्ण है। यह श्वेत वर्ण चन्द्रिका तथा दूध में समान रूप से विद्यमान है। अतः प्रथम की द्वितीय रूप में भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति के बाद मार्जार की दूध के प्रति प्रवृत्ति दूध में विद्यमान माधुर्य आदि गुणों के कारण होती है। आहार्य ज्ञान में ऐसी बात नहीं होती। मुख में जब कमल का आहार्य ज्ञान होता है तब कमल का यह ज्ञान कवि की प्रवृत्ति का कारण नहीं बनता। मुख में कमल की प्रतीति के बाद कवि कमल में विद्यमान गुणों को अपनी प्रवृत्ति का आधार नहीं बनाता। कवि उस मुख की ओर निरन्तर देखता अवश्य है, परन्तु उसकी यह दर्शनक्रिया कमल में विद्यमान गुणों के फलस्वरूप न होकर मुख में विद्यमान सौन्दर्यगुण के कारण होती है। यह सौन्दर्यगुण कमल में भी है, परन्तु कवि की दर्शनक्रिया का कारण कमल का सौन्दर्य न होकर मुख का सौन्दर्य है। कवि की दर्शनक्रिया मुख की ओर कमल की

---

१. "अत्र लेहनादिप्रवृत्तिपर्यन्तोक्तेः स्वारसिक एव विभ्रमः कविप्रतिभया चन्द्रिकोत्कर्षद्योतनाय निबद्धः।" —चित्रमीमांसा पृष्ठ ७५

प्रतीति से पूर्व ही उन्मुख हो जाती है और यह दर्शनक्रिया ही मुख में कमल की प्रतीति का कारण बनती है।

भ्रान्तिमान् में प्रस्तुत वस्तु मे अन्य वस्तु की भ्रान्ति प्रस्तुत वस्तु में विद्यमान ऐसे धर्म के कारण होती है जो अन्य वस्तु मे भी रहता है। प्रस्तुत वस्तु में विद्यमान इस धर्म की सत्ता अन्य अनेक वस्तुओं में सम्भव है। अतः यदि दर्शक अनेक हैं तो उन्हें एक ही वस्तु मे उस धर्म को लेकर क्रमशः अनेक भ्रान्तियां हो सकती हैं। निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है:—

"संकेतकुञ्जगमनं प्रति संचलन्तीमालोक्य सुभ्रू भवती गहनेऽन्धकारे।
चाम्पेयकोरकमयी स्रगिति द्विरेफाः, सौदामिनीति कलयन्तु मुदं मयूराः।"
—रसगंगाधर पृ० ३५३

जगन्नाथ के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में भ्रान्तिमान् न होकर उल्लेख अलकार है। इनके अनुसार भ्रान्तिमान् मे केवल एक भ्रान्ति होनी चाहिए। जहां भ्रान्तियां एक से अधिक होंगी वहां भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं हो सकता।[1]

जगन्नाथ का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। भ्रान्ति के एकत्व तथा अनेकत्व के आधार पर अलंकारभेद की कल्पना उचित नहीं। भ्रान्ति के अनेकत्व से भ्रान्ति का भ्रान्तित्व नष्ट नहीं होता। दूसरे यदि भ्रान्ति की अनेकता को पृथक् अलङ्कार का आधार माना जाता है तो आरोप आदि की अनेकता को भी पृथक् अलङ्कार का आधार मानना पड़ेगा। परन्तु यह उचित नहीं। यही कारण है कि विश्वेश्वर ने जगन्नाथ के उपर्युक्त मत की आलोचना की है।[2]

कभी कभी भिन्न भिन्न वस्तुओं के सम्पर्क में आने के कारण एक ही वस्तु में एक ही दर्शक को अनेक प्रकार की भ्रान्तियां होती हैं। विश्वेश्वर ने इसका उल्लेख किया है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

---

१. "लक्षणे च्चात्रैकत्वं विवक्षितम्। अन्यथा वक्ष्यमाणानेकग्रहीतृकानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रान्तिसमुदायात्मन्युल्लेखेऽतिप्रसंगापत्तेः।"
—रसगंगाधर पृष्ठ ३५४

२. "एतेन-उक्तस्थले उल्लेखालंकारस्वीकारात् भ्रान्तिमत्येकत्वं विवक्षणीयम्-इत्यपास्तम्॥"
—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ ३८६

३. "क्वचिदेकस्मिन्नेवानेकप्रकारको यथा मम"—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ ३८८

"हाराग्रे हीरबुद्ध्यै भुजगपतिफणे दीपरत्नोपलब्ध्यै ।
... ...
पार्वत्याः कलमाने प्रतिफलिततया पातु पीयूषरश्मिः ।।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृ० २८८

यहा भिन्न भिन्न स्थानों के सम्पर्क मे आने के कारण एक ही चन्द्रमा का अनेक प्रकार ग्रहण होता है ।[1]

प्राचीन आलंकारिकों मे भामह, भट्टि, उद्भट तथा वामन ने इस अलंकार का उल्लेख नही किया है । दण्डी ने इसे उपमा का एक भेद कहा है तथा इसका नाम मोहोपमा रखा है:—

"शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया ।
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता ।।" —काव्यादर्श २ । २५

रुद्रट ने इस अलंकार का उल्लेख किया है । भोज ने इसका सविस्तर वर्णन किया है। इन्होंने इसका नाम भ्रान्ति रखा है । इन्होंने भ्रान्ति के अतत्त्वे तत्त्वरूपा तथा तत्त्वे अतत्त्वरूपा ये दो भेद करके इनके पुनः अनेक भेद किए हैं । अतत्त्वे तत्त्वरूपा तथा तत्त्वे अतत्त्वरूपा में वस्तुतः भेद नहीं । दोनों मे 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' ही होती है । अतत्त्वे तत्त्वरूपा के तो शब्दार्थ से ही यह स्पष्ट है कि इसमें अतत् को तत् समझ लिया जाता है । तत्त्वे अतत्त्वरूपा में भी यही बात होती है । जिस वस्तु में भ्रान्ति होती है उसको तत् समझकर भ्रान्ति का विश्लेषण किया जाए तो वह तत्त्वे अतत्त्वरूपा होती है और यदि जिस वस्तु की भ्रान्ति होती है उसको तत् समझकर विश्लेषण किया जाय तो वह अतत्त्वे तत्त्वरूपा होती है । भोज के 'तत्त्वे अतत्त्वरूपा' के निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"स मुग्धमृगो मृगतृष्णिकाभिस्तथा दूनस्त्वदाशाभिः ।
यथा सद्भावमयीष्वपि नदीषु पराङ्मुखो जातः ।।"

—सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ३६५

यहां नदी में मृगतृष्णा की भ्रान्ति हुई है । भोज के अनुसार यहां नदी को नदी न समझकर उससे इतर वस्तु समझा जा रहा है । अतः यहां तत्त्वे अतत्त्वरूपा है ।

---

१. "अत्रैकस्मिंश्चन्द्रे पार्वत्यास्तत्तत्स्थानभेदेनानेकप्रकारकं ज्ञानम् ।"

—अलङ्कारकौस्तुभ पृष्ठ २८८

हम इसकी अन्यरूप से भी व्याख्या कर सकते हैं। नदी मृगतृष्णा नही है। अतः उसे मृगतृष्णा समझना अतत् को तत् समझना है। इस प्रकार इस उदाहरण को भी अतत्त्वे तत्त्वरूपा का उदाहरण कहा जा सकता है।

अतत्त्वे तत्त्वरूपा के भोज ने अबाधिता, बाधिता एवं कारणबाधिता भेद किए है तथा तत्त्वे अतत्त्वरूपा के हानहेतु, उपादानहेतु तथा उपेक्षाहेतु भेद किए हैं --

"अतत्त्वे तत्त्वरूपा या त्रिविधा सापि पठ्यते ।
अबाधिता बाधिता च तथा कारणबाधिता ॥"--३ । ३६

"अतत्त्वरूपा तत्त्वे या सापि त्रैविध्यसिद्धये ।
हानोपादानयोर्हेतुरुपेक्षायाश्च जायते ॥" —सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३७

अबाधिता मे भ्रान्ति बनी रहती है। बाधिता तथा कारणबाधिता में उसका निराकरण हो जाता है। निश्चयान्तसन्देह में जिस प्रकार सन्देह का निराकरण हो जाता है उसी प्रकार यहां भ्रान्ति का निराकरण होता है। हानोपादानादि भेद चमत्कारयुक्त नहीं।

भोज ने भ्रान्तिमान्, भ्रान्तिमाला, भ्रान्तेरतिशय तथा भ्रान्त्यनध्यवसाय का उल्लेख किया है तथा इन्हें भ्रान्ति का ही रूप माना है।[1] अतः इनके पृथक् निरूपण की आवश्यकता नहीं।

१. भ्रान्तिमान्, भ्रान्तिमाला च भ्रान्तेरतिशयश्च यः ।
भ्रान्त्यनध्यवसायश्च भ्रान्तिरेवेति मे मतम् ॥"—सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३८

स्मरण

स्मरण अलंकार में सादृश्य के आधार पर एक वस्तु से अन्य वस्तु का स्मरण चमत्कार का कारण होता है।[1]

प्रश्न उठ सकता है कि स्मरण का आश्रय तो अनेक अलंकारों में लिया जाता है। उपमा को ही लें, इसके उदाहरण 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' मे मुख को देखकर कमल हमारी स्मृति का विषय बनता है तथा स्मृति के विषय बने हुए इस कमल से सम्मुख विद्यमान मुख का सादृश्य प्रतीत होता है। अतः स्मरण के आधार पर पृथक् अलङ्कार मानने की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—उपमा आदि में स्मरण का आश्रय अवश्य लिया जाता है, परन्तु इनमें चमत्कार का कारण स्मरण न होकर सादृश्य आदि होता है । उपर्युक्त उदाहरण में मुख को देखकर कमल का स्मरण अवश्य होता है, परन्तु चमत्कार का कारण कमल का स्मरण न होकर मुख तथा कमल का सादृश्य होता है। स्मरण में इसके विपरीत चमत्कार का कारण स्मरण होता है। उपमा में हमारी दृष्टि सादृश्य पर केन्द्रित रहती है। परन्तु स्मरण में वह स्मर्यमाण वस्तु पर केन्द्रित रहती है।

सादृश्य के आधार पर जिस वस्तु का स्मरण होता है उसके लिए प्रस्तुत वस्तु के सदृश होना आवश्यक है या नहीं इस विषय मे आलङ्कारिकों में मतभेद है। कुछ के अनुसार इस वस्तु का प्रस्तुत वस्तु के समान होना आवश्यक है। निम्नलिखित उक्तियों का यही आशय है:—

---

१. "भोज ने सादृश्य के अतिरिक्त अदृष्ट तथा चिन्ता आदि को भी स्मरणालङ्कार का आधार माना है:—

"सदृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम् ।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नाद्यपि न तद्बहिः ।।"

भोज का यह मत उचित नहीं। ससन्देह तथा भ्रान्तिमान् में जिस प्रकार सादृश्य के अतिरिक्त चिन्ता आदि अन्य कारण चमत्कार के जनक नहीं होते उसी प्रकार वे यहां भी चमत्कार के जनक नहीं कहे जा सकते।

"सदृशानुभवाद्व वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्"—अलङ्कारसर्वस्व सू० १४
"वस्त्वन्तरं सदृशमेव" —अलङ्कारसर्वस्व पृ० ३०

"केचित्तु सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारजन्यं सदृशविषयकमेव स्मरणमलङ्कारः"
—रसगंगाधर पृ० २८७

अन्य आलङ्कारिकों के अनुसार इस वस्तु के लिए प्रस्तुत वस्तु के समान होना आवश्यक नहीं। इनके अनुसार प्रस्तुत वस्तु के सदृश वस्तु से असदृश वस्तु का जो स्मरण होता है वह भी इस अलङ्कार के अन्तर्गत आता है। इस असदृश वस्तु का स्मरण प्रथम दो वस्तुओं के सादृश्य के कारण अवश्य होता है परन्तु यह स्वयं उन वस्तुओं के समान नहीं होती।

"एकीभवत्प्रलयकालपयोधिकल्पमालोक्य संगरगतं कुरुवीरसैन्यम्।
सस्मार तल्पमहिपुंगवकायकान्तं निद्रां च योगकलितां भगवान्मुकुन्दः॥"
—रसगंगाधर पृ० २८७

यहां तल्प तथा निद्रा का स्मरण पयोधि के स्मरण पर आश्रित है तथा पयोधि का स्मरण सेना तथा पयोधि के सादृश्य पर आश्रित है। इस प्रकार तल्प तथा निद्रा का स्मरण किसी न किसी प्रकार सादृश्य पर आश्रित है ही, परन्तु स्वयं तल्प तथा निद्रा का उन वस्तुओं से कोई सादृश्य नहीं जिनके सादृश्य पर इनका स्मरण आश्रित है। जगन्नाथ का यही मत है। वे लिखते हैं:—

"अत्र तल्पनिद्रयोः स्मरणं यद्यपि न तल्पनिद्रासादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यम्, तथापि सैन्यगतपयोधिसादृश्यदर्शनोद्बुद्धपयोधिविषयकसंस्कारजन्यपयोधिस्मरणाधीनत्वाद्भवत्येव यत्किञ्चित्सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यम्।"
—रसगंगाधर पृ० २८७

यहां तल्प तथा निद्रा के स्मरण को स्मरणालङ्कार के अन्तर्गत करने का जगन्नाथ का प्रयत्न सर्वथा उचित है, परन्तु सादृश्य के बाद दर्शन शब्द का सन्निवेश उचित नहीं। जगन्नाथ का विचार है कि हमें प्रथम दो वस्तुओं में सादृश्य का ज्ञान होता है और तब उनके सादृश्यज्ञान के आधार पर प्रथम वस्तु से द्वितीय वस्तु का स्मरण होता है। स्मरणालङ्कार की उनकी निम्नलिखित परिभाषा का यही अर्थ है:—

"सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः ।"

—रसगंगाधर पृ० २८७

परन्तु यह सम्भव नहीं । दो वस्तुओं के सादृश्यज्ञान के लिए आवश्यक है कि प्रथम वस्तु के अतिरिक्त द्वितीय वस्तु की भी उपस्थिति हो । जब तक स्मरण के द्वारा द्वितीय वस्तु की उपस्थिति ही नहीं होगी तब तक दोनों वस्तुओं के सादृश्य का ज्ञान कैसे सम्भव है । यह अवश्य है कि स्मरण के द्वारा द्वितीय वस्तु की उपस्थिति प्रथम वस्तु के साथ उसके सादृश्य के कारण होती है, परन्तु इस सादृश्य का हमे द्वितीय वस्तु के स्मरण से पूर्व ज्ञान नहीं होता । प्रथम वस्तु को देखकर उसके सदृश द्वितीय वस्तु का स्मरण स्वतः हो जाता है । इसके स्मरण के लिए दोनों वस्तुओं के सादृश्यज्ञान की अपेक्षा नहीं ।

यदि जगन्नाथ को उपर्युक्त परिभाषा में ज्ञान शब्द का सन्निवेश करना है तो उन्हें 'सादृश्य' के स्थान पर 'सदृश' अथवा 'सदृश वस्तु' शब्द कर देना चाहिए । ऐसा करने से उपर्युक्त दोष नही होगा । हमें पहले प्रथम सदृश वस्तु का ज्ञान होगा और इससे इसके समान द्वितीय वस्तु का स्मरण हो जाएगा । उसके स्मरण के लिए दोनों वस्तुओं के सादृश्यज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी । रुय्यक आदि ने ऐसा ही किया है:—

"सदृशानुभवाद्व वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्"

—अलङ्कारसर्वस्व सू० १४

"सदृशदर्शनात्स्मरणं स्मृति." —काव्यानुशासन अ० ६ सू० २४

स्मरणालङ्कार में एक अन्य विषय को लेकर भी आलङ्कारिकों में मत-भेद है । वे सब यह तो स्वीकार करते हैं कि इस अलङ्कार में एक वस्तु से अन्य वस्तु का स्मरण होता है परन्तु यह स्मरण प्रथम वस्तु के अनुभव के फलस्वरूप होता है अथवा उसके स्मरण से भी यह सम्भव है इस विषय को लेकर उनमें मतभेद है । रुय्यक आदि के अनुसार इसके लिए प्रथम वस्तु के अनुभव की आवश्यकता है । यही कारण है कि इन्होंने अपनी परिभाषा में अनुभव शब्द का सन्निवेश किया है । जगन्नाथ आदि इसके विपरीत यह मानते हैं कि अनुभव के अतिरिक्त स्मरण से भी काम चल सकता है । इसी-लिए उन्होंने अपनी परिभाषा में ज्ञान शब्द का सन्निवेश किया है । ज्ञान में अनुभव तथा स्मरण दोनों आ जाते हैं ।

कतिपय आलङ्कारिकों ने अपनी परिभाषाओं में अनुभव अथवा ज्ञान शब्द का सन्निवेश न करके दर्शन शब्द का सन्निवेश किया है:—

"यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणम्"

—काव्यप्रकाश १० । १९९

"वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम् ।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ।।"

—रुद्रट-काव्यालङ्कार ८ । १०९

दर्शन अनुभव का प्रकार अवश्य है परन्तु यह अनुभव की अपेक्षा सीमित है। दर्शन नेत्रेन्द्रिय का व्यापार है। अनुभव में इसके अतिरिक्त श्रोत्रादि इन्द्रियों के श्रवणादि व्यापार सम्मिलित है।

इस प्रकार स्मरण की परिभाषाओं में दर्शन, अनुभव अथवा ज्ञान शब्द के सन्निवेश के द्वारा हम स्मरण मे ज्ञान की परिधि का क्रमिक विकास देखते है। इन शब्दों के सन्निवेश के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होगा कि ज्ञान शब्द का सन्निवेश ही उचित है। केवल दर्शन को स्मरण का आधार मानना उचित नहीं क्योंकि दर्शन के अतिरिक्त श्रवण आदि अनुभव के अन्य प्रकार भी स्मरण के कारण होते हैं।

केवल अनुभव को भी स्मरण का आधार मानना उचित नहीं। व्यक्ति सदा किसी वस्तु का अनुभव करके ही तत्सदृश अन्य वस्तु का स्मरण करे ऐसी बात नहीं, अपितु कभी कभी ऐसा भी होता है कि वह किसी वस्तु का स्मरण करके भी तत्सदृश अन्य वस्तु का स्मरण करता है। इसी बात को लक्ष्य करके जगन्नाथ ने रुय्यक की परिभाषा का खण्डन किया है:—

"यदपि 'सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' इत्यलङ्कारसर्वस्व-रत्नाकरयोः स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्, तदपि न। सदृशस्मरणादुद्बुद्धेन संस्कारेण जनिते स्मरणे अव्याप्तेः।" —रसगंगाधर पृ० २९२, २९३

निम्नलिखित उदाहरण में यही बात है,—

'सन्त्येवास्मिञ्जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा—
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
यैरध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
स्मृत्यारूढं भवति किमपि कृष्णाभिधानम् ॥'

—रसगंगाधर पृ० १९३

यहां भगवान् कृष्ण का स्मरण जलधर के अनुभव के कारण न होकर उसके स्मरण के कारण हुआ है।

भामह, भट्टि, दण्डी, उद्भट तथा वामन आदि प्राचीन आलङ्कारिकों ने इस अलङ्कार का उल्लेख नहीं किया है। रुद्रट ने इसका निरूपण किया है। अर्वाचीन आलंकारिकों में प्रायः सभी ने इसका निरूपण किया है।

"रुद्रट के कतिपय अलंकारों का विवेचन"

रुद्रट ने सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि मे कतिपय अन्य अलंकारों का निरूपण किया है। ये मत, उत्तर, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, आक्षेप, प्रत्यनीक, पूर्व, समुच्चय तथा साम्य है।[1] इन अलकारों की परिभाषाओं तथा उदाहरणों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इन अलङ्कारों में से कतिपय का तो अन्य सादृश्यमूलक अलङ्कारो मे अन्तर्भाव किया जा सकता है तथा कतिपय सादृश्यमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत ही नही आते।

मतम् की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है:—

तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम्।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ॥—काव्यालंकार ८। ६९

यथा:—मदिरामदभरपाटलमलिकुलनीलालकालिधम्मिलम्।
तरुणीमुखमिति यदिदं कथयति लोकः समस्तोऽयम् ॥
मन्येऽहमिन्दुरेषः स्फुटमुदयेऽरुणरुचिः स्थितैः पश्चात्।
उदयगिरौ छद्मपरैर्निशातमोभिर्गृहीत इव ॥

—काव्यालंकार ८। ७०, ७१

इस परिभाषा तथा उदाहरण से स्पष्ट है कि मत का अन्तर्भाव उत्प्रेक्षा में किया जा सकता है। उत्प्रेक्षा मे एक वस्तु की अन्य वस्तु में सम्भावना होती है। यहां भी मुख की सम्भावना इन्दु मे की गई है।

उभयन्यास की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है:—

सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः ॥—काव्यालंकार ८। ८५

यथा:—सकलजगत्साधारणविभवा भुवि साधवोऽधुना विरलाः।
सन्ति कियन्तस्तरवः सुस्वादुसुगन्धिचारुफलाः ॥—काव्यालंकार ८।८६

---

१. उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ॥
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः ॥ —काव्यालंकार ८। २, ३

इस परिभाषा तथा उदाहरण से स्पष्ट है कि उभयन्यास का अन्तर्भाव प्रतिवस्तूपमा में किया जा सकता है। प्रतिवस्तूपमा के समान यहां साधुओं तथा वृक्षों के क्रमशः 'विरलाः' तथा 'सन्ति कियन्तः' इन धर्मो मे वस्तु-प्रतिवस्तुभाव विद्यमान है।

समुच्चय की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हैं:—

'सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे ॥'

यथाः—जालेन सरसि मीना हिंस्रैरेणा वने च वागुरया।
संसारे भूतसृजा स्नेहेन नराश्च बध्यन्ते ॥

—काव्यालंकार ८। १०३, १०४

यहां जालादि करणों, सरस् आदि अधिकरणों, हिंस्र आदि कर्ताओं तथा मीनादि कर्मों का एक बन्धन धर्म से सम्बन्ध है। अतः इसका अन्तर्भाव दीपकादि में किया जा सकता है।

साम्य के दो प्रकार बताए हैं। प्रथम प्रकार की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है:—

अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम्।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम् ॥

यथाः—अभिसर रमणं किमिमां दिशमैन्द्रीमाकुलं विलोकयसि।
शशिनः करोति कार्यं सकलं मुखमेव ते मुग्धे ॥

—काव्यालंकार ८। १०५, १०६

यहां मुख का सादृश्य चन्द्र से दिखाया है। 'मुख चन्द्रमा का कार्य करता है' इस वाक्य का अर्थ यही है कि मुख में चन्द्रमा के समान प्रकाशकारित्व नामक गुणविशेष है। अतः इसका अन्तर्भाव उपमा में किया जा सकता है।

साम्य के द्वितीय प्रकार की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हैं:—

सर्वाकारं यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम्।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीत विशेषमन्यत्तत् ॥

यथाः—मृगं मृगाङ्कः सहजं कलङ्कं बिभर्ति तस्यास्तु मुखं कदाचित्।
आहार्यमेवं मृगनाभिपत्रमियानशेषेण तयोर्विशेषः ॥

—काव्यालंकार ८। १०७, १०८

यहां 'इयानशेषेण तयोर्विशेष:' इस प्रयोग मे यह स्पष्ट है कि मुख तथा चन्द्र में केवल एक तत्त्व को छोड़कर अन्य सब तत्त्व समान रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार यहां साधर्म्य एवं वैधर्म्य इन दोनों तत्त्वों के विद्यमान होने से उपमा है। इसका निरूपण दण्डी की अतिशयोपमा का उपमा में अन्तर्भाव करते समय किया जा चुका है।

उत्तर की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार है:—

यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम्॥
यथा:—किं मरणं दारिद्रयं को व्याधिर्जीवितं दरिद्रस्य।
क: स्वर्ग: सन्मित्रं सुकलत्रं सुप्रभु: सुसुत:॥

—काव्यालंकार ८। ७२, ७३

रुद्रट ने वास्तवमूलक उत्तर का भी निरूपण किया है।[1] उस उत्तर से इस उत्तर को पृथक् कोटि में रखने का रुद्रट ने यही कारण बताया है कि इस उत्तर मे औपम्य होता है। 'तत्तुल्यम्' शब्द के परिभाषा मे सन्निवेश से यह स्पष्ट है। अव प्रश्न उठता है कि यहां चमत्कार का कारण इस प्रकार का उत्तर है अथवा औपम्य है। यदि चमत्कार का कारण उत्तर है तो इस आंशिक भेद के होते हुए भी इसे प्रथम उत्तर के अन्तर्गत रखना ही उचित होगा। परन्तु यदि यहां चमत्कार का कारण उत्तर न होकर औपम्य है तो इसे रूपक के अन्तर्गत रखना उचित होगा। आलङ्कारिकों ने प्राय: उत्तर को सादृश्यमूलक नहीं माना है और उपर्युक्त उदाहरण मे भी चमत्कार का कारण सादृश्य न होकर इस प्रकार का उत्तर देना ही है। अत: इसे सादृश्यमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत रखना उचित नहीं।

अर्थान्तरन्यास की परिभाषा निम्नलिखित है:—

धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्धयै।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यास:॥ —काव्यालंकार ८। ७९

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अर्थान्तरन्यास में चमत्कार

---

१. उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र॥ —काव्यालङ्कार ७। ९३

समर्थ्यसमर्थकभाव के कारण होता है। आलङ्कारिकों ने भी अर्थान्तरन्यास में समर्थ्यसमर्थकभाव ही माना है। अतः सादृश्यमूलक अलङ्कारों में इसका सन्निवेश उचित नहीं।

आक्षेप की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हैं:—

वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः॥

यथा:—जनयति संतापमसौ चन्द्रकलाकोमलापि मे चित्रम्।
अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः॥

—काव्यालङ्कार ८। ८९, ९०

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यहां चमत्कार का कारण प्रथम एक बात को कहकर पुनः उसका निषेध करना है। यहां 'जनयति संतापमसौ चन्द्रकलाकोमलापि मे' के लिए पहले चित्रम् शब्द का प्रयोग करके पुनः 'अथवा किमत्र चित्रम्' के द्वारा उसी का निषेध किया गया है। यहां 'जनयति संतापमसौ चन्द्रकलाकोमलापि' तथा 'दहति हिमानी हि भूमिरुहः' मे सादृश्य अवश्य है, परन्तु यह सादृश्य यहां प्रधान न होकर कथित वस्तु के निषेध में सहायकमात्र है। अन्य आलङ्कारिकों ने भी आक्षेप में निषेधजन्य चमत्कार ही स्वीकार किया है। अतः इसे सादृश्यमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत रखना उचित नहीं।

प्रत्यनीक की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हैं:—

वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्॥

यथा:—यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम्।
मम तत्र किमापतितं तपसि सितांशो यदेवं माम्॥

—काव्यालंकार ८। ९२, ९३

इस उदाहरण में चमत्कार का कारण मुख तथा चन्द्र का सादृश्य नहीं अपितु नायिका के मुख का प्रतिकार करने में असमर्थ चन्द्र के द्वारा नायिका से सम्बद्ध नायक का प्रतिकार करना ही चमत्कार का हेतु है। अन्य आलङ्कारिकों ने भी प्रत्यनीक में यही बात मानी है। अतः इसे सादृश्यमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत रखना उचित नहीं।

पूर्व की परिभाषा तथा उदाहरण इस प्रकार हैं:—

यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य ।
अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत्पूर्वम् ॥

यथा—काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्व वियोगिनीवदनम् ।
गलदविरलसलिलभरं पश्चादुपजायते गगनम् ॥

—काव्यालङ्कार ८ । ९७, ९८

इस परिभाषा तथा उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पूर्व अन्य आलङ्कारिकों की कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं ।

वैदिक काल में सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग

उपमा भावों की सफल अभिव्यञ्जना का एक उत्तम साधन है। अतः प्रत्येक समय की कविता में उपमा के दर्शन होना स्वाभाविक है। ऋग्वेद-कालीन कविता में भी यही बात है। इस समय की कविता मे स्थावर तथा जंगम जगत् की अनेक वस्तुओं का उपमान के रूप में प्रयोग हुआ है। स्थावर जगत् में वनस्पति तथा पर्वत आदि आ गए है तथा जंगम जगत् में पशु, पक्षी आदि आ गए हैं।

वैदिक काल प्राकृतिक शक्तियों की उपासना का काल था। अतः इसमें प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक इन्द्र, वरुण आदि का अनेक बार प्रयोग हुआ है:—

"यः एकः वस्वः वरुणः न राजति।" —ऋग्वेद १। ४४। ४

वैदिक काल में यज्ञसम्बन्धी वस्तुओं का उपमान के रूप में अनेक बार प्रयोग देखने को मिलता है:—

"होता इव क्षदसे प्रियम्।" —ऋग्वेद १। २५। १७

इस काल में ऐसी वस्तुएं अनेक बार उपमान के रूप में प्रयुक्त हुई हैं जिनका जीवन से नित्यप्रति का सम्बन्ध है। गौओं का गोष्ठी की ओर जाना, पक्षियों का अपने घोंसलों की ओर जाना आदि ऐसी बातें हैं जिन्हे हम नित्यप्रति देखते हैं। ऋग्वेद मे इनका उपमान के रूप में प्रयोग हुआ है:—

"परा हि मे विऽमन्यवः पतन्ति वस्यःऽइष्टये। वयः न वसतीः उप॥"
—ऋग्वेद १। २५। ४

"परा मे यन्ति धीतयः गावः न गव्यूतीः अनु। इच्छन्तीः उरुचक्षसम्॥"
—ऋग्वेद १। २५। १६

"वि मृलीकाय ते मनः रथी अश्वम् न संदितम्। गीर्भिः वरुण सीमहि॥"
—ऋग्वेद १। २५। ३

ऋग्वेद में अचेतन प्राकृतिक शक्तियों को चेतन के रूप में देखा गया है। उषस्, सूर्य आदि कवि के लिए प्रकृति के विभिन्न रूप न होकर चेतना-युक्त दिव्य शक्तियां हैं। यही कारण है कि उषस्, आदि का सादृश्य चेतन वस्तुओं से दिखाया गया है:—

"सूर्यः देवी उषसम् रोचमानां मर्यः न योषाम् अभि एति पश्चात् ।"

—ऋग्वेद १ । ११५ । २

उषस्-विषयक मन्त्रों मे यह बात विशेषतः देखने को मिलती है । वहां पर उषस् को कन्या, युवती आदि विभिन्न रूपों मे देखा गया है:—

"अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरीणीते अप्सः ।।"

—ऋग्वेद १ । १२४ । ७

"कन्येव तन्वी शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ।।"

—ऋग्वेद १ । १२३ । १०

वैदिक काल मे उपमा का वह संश्लिष्ट चित्र देखने को नही मिलता जो काव्यकाल में मिलता है । परन्तु संश्लिष्ट चित्र का इस समय सर्वथा अभाव हो ऐसी बात नही । ऋग्वेद मे जहां एक क्रिया का सादृश्य अन्य क्रिया से दिखाया गया है, वहां वे क्रियाएं प्रायः दो वस्तुओं से सम्बद्ध दिखाई गई है । इस प्रकार दो वस्तुओं से सम्बद्ध क्रिया का अन्य दो वस्तुओं से सम्बद्ध क्रिया के साथ सादृश्य दिखाकर एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया गया है:—

"परा मे यन्ति धीतयः गावः न गव्यूतीः अनु ।
इच्छन्तीः उरुचक्षसम् ।"

— ऋग्वेद १ । २५ । १६

यहां बुद्धियों का वरुण की ओर जाना उपमेय है तथा गौओं का गोष्ठ की ओर जाना उपमान है । इस प्रकार यहां बुद्धि तथा वरुण इन दो वस्तुओं से सम्बद्ध गमनक्रिया का गौ तथा गोष्ठ इन दो वस्तुओं से सम्बद्ध गमनक्रिया से सादृश्य दिखाया गया है । सम्बन्ध से यहां यह तात्पर्य नहीं कि दोनों वस्तुओं में इस क्रिया का वृत्तित्व है । परन्तु इससे केवल इतना तात्पर्य है कि इन दो वस्तुओं में से एक में क्रिया की वृत्ति है तथा वह क्रिया अन्य वस्तु को लक्ष्य करके हो रही है । उपर्युक्त उदाहरण में बुद्धि तथा गौ में गमनक्रिया का वृत्तित्व है तथा यह क्रिया क्रमशः वरुण तथा गोष्ठ को लक्ष्य करके हो रही है । इस प्रकार यहां प्रधानतः एक क्रिया का सादृश्य अन्य क्रिया से दिखाकर उस क्रिया से सम्बद्ध बुद्धि तथा वरुण का सादृश्य क्रमशः गौ तथा गोष्ठ से दिखाया गया है तथा एक संश्लिष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित किया गया है ।

ऋग्वेद में मालोपमा का भी प्रयोग देखने को मिलता है:—

"न यः वराय मरुतामिव स्वनः सेना इव सृष्टा दिव्या यथा अशनिः।"

—ऋग्वेद १।१४३।५

यहां अग्नि का सादृश्य मरुत्स्वन, सेना तथा वज्र से दिखाकर अग्नि में विद्यमान दुर्वारत्व धर्म का आधिक्य बताया गया है।

ऋग्वेद में उपमा के अतिरिक्त रूपक, अतिशयोक्ति आदि अन्य अलङ्कारों का भी प्रयोग हुआ है:—

"स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।"

—वैदिक साहित्य पृ० १८

यहां वाक् पर वज्र का आरोप किया गया है।

निम्नलिखित मन्त्र में अतिशयोक्ति अलङ्कार है:—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥"

—ऋग्वेद १।१६४।१६

यहां जीवात्मा तथा परमात्मा का दो प्रकार के पक्षियों के द्वारा निगरण हो गया है। जो पक्षी स्वादु पिप्पल को खाता है उसके द्वारा उस जीवात्मा का निगरण हुआ है जो फलों का उपभोग करता है, तथा जो पक्षी फल को नहीं खाता उसके द्वारा उस परमात्मा का निगरण हो गया है जो फलों का उपभोग नहीं करता।

यास्क के अनुसार ऋग्वेद में जहां इन्द्र तथा वृत्र के युद्ध का वर्णन है वहां वस्तुतः युद्ध का वर्णन न होकर वर्षणकर्म का वर्णन है। यास्क के अनुसार वृत्र का अर्थ मेघ है तथा वज्र के द्वारा वृत्र की जो हत्या की जाती है वह ज्योति तथा जल के सम्पर्क में आने के कारण वृष्टि का होना है।[1] इस प्रकार ऐसे स्थलों में इन्द्रवृत्र-युद्ध के बहाने वैज्ञानिक वर्षा का वर्णन है। अतः यहां अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

ऋग्वेद में अन्य अनेक स्थलों पर भी इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग देखने को मिलते हैं। वहां पर अप्रस्तुत का वर्णन करके प्रस्तुत की ओर संकेत किया गया है। अतः वहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

१. "तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।"

—वैदिक साहित्य पृष्ठ २२१

रामायण एवं महाभारत काल

इस काल में उपमानों का क्षेत्र वैदिक काल की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है। स्थावर तथा जंगम जगत् की प्रायः सभी वस्तुएं उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुई हैं। समुद्र, पर्वत, नक्षत्र, पशु, पक्षी आदि सभी उपमान की कोटि में आ गए हैं। इन उपमानों का प्रयोग भिन्न भिन्न साधारणधर्मों को दृष्टि में रखकर हुआ है। गम्भीरता के लिए समुद्र का, स्थिरता के लिए हिमवान् का, अस्थिरता के लिए ग्रीष्मकालीन नदीस्रोत का तथा क्षमा के लिए पृथ्वी का प्रयोग हुआ है। विस्तार के लिए आकाश तथा सागर का, एवं उन्नति के लिए गिरि, मेरुशृंग आदि का प्रयोग हुआ है। वायु तथा गरुड वेग के उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुए है। सौन्दर्य के लिए अनेक उपमानों का प्रयोग हुआ है। इनमे चन्द्र, श्री, कन्दर्प आदि प्रसिद्ध हैं।[1]

ग्रहों मे अनेक ग्रह उपमान के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। चन्द्र तथा सूर्य का प्रयोग प्रायः देखने को मिलता है। इनमें चन्द्र का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में तथा सूर्य का प्रयोग तेज के अर्थ मे हुआ है।[2]

अनेक देवता भी भिन्न भिन्न धर्मों के उपमान के रूप में प्रयुक्त हुए है। विष्णु वीरता के, धनद त्याग के, इन्द्र शक्ति तथा सम्मान के, यम भयंकरता के तथा बृहस्पति बुद्धि के उपमान हैं।[3]

---

१. "समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव।" —बालकाण्ड

"चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे।" —अयोध्याकाण्ड

"तेजसाऽऽदित्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपमः॥" —सुन्दरकाण्ड

आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः। —किष्किन्धाकाण्ड

चैत्यप्रासादमाप्लुत्य मेरुशृंगमिवोन्नतम्। —सुन्दरकाण्ड

सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः। —सुन्दरकाण्ड

जगामाकाशमाविश्य सुपर्णः पवनो यथा। —युद्धकाण्ड

देवताभिस्समा रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी। —बालकाण्ड

२. तेजसाऽऽदित्यसंकाशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम्। —अयोध्याकाण्ड

३. विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः॥ —बालकाण्ड

इन उपमानों के प्रयोग के लिए केवल एक ही वस्तु का ध्यान रखा गया है और वह है उपमेय तथा उपमान की साधारणधर्मता। उपमान की चेतनता अचेतनता, मूर्तता अथवा अमूर्तता का विषय उपमानचयन के विषय के अन्तर्गत नही आता। अतः उसका यहां ध्यान नही रखा गया है। यही कारण है कि हमे यहां चेतन वस्तुओं के अचेतन उपमान तथा अचेतन वस्तुओं के चेतन उपमान देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार मूर्त वस्तुओं के अमूर्त उपमान तथा अमूर्त वस्तुओं के मूर्त उपमान प्रयुक्त हुए हैं:—

"समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव।"

यहां उपमेय राम चेतन है परन्तु उसके उपमान समुद्र तथा हिमवान् अचेतन हैं।

"तेजसा आदित्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः।"

यहां उपमेय राम चेतन वस्तु है, परन्तु उसके उपमान आदित्य तथा पृथिवी अचेतन हैं।

जहां उपमेय तथा उपमान में से एक वस्तु चेतन तथा अन्य अचेतन होती है वहां साधारणधर्म प्रायः एक वस्तु मे प्रधाननः प्रयुक्त होता है तथा अन्य में उसका प्रयोग उपचार से होता है। उपर्युक्त उदाहरणों में गाम्भीर्य, स्थैर्य तथा तेज प्रधानतः अचेतन वस्तुओं के धर्म हैं। अतः समुद्र आदि के साथ इनका प्रयोग प्रधानतः हुआ है तथा राम के साथ गौणतः हुआ है। इसके विपरीत क्षमा प्रधानतः चेतन वस्तु का धर्म है। अतः उपमेय के अर्थ में इसका प्रयोग प्रधानतः हुआ है तथा उपमान पृथिवी के अर्थ मे इसका प्रयोग गौणतः हुआ है।

"प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता।" —सुन्दरकाण्ड

यहां उपमेय मूर्त तथा उपमान अमूर्त है।

इस काल में शरीर के विभिन्न अवयवों के लिए विभिन्न उपमानों का प्रयोग हुआ है। जिन अवयवों के लिए उपमान का प्रयोग हुआ है उनमें नेत्र प्रमुख है। इसकी तुलना प्रायः कमल से की गई है। यथा—

ऋषिभिः पूजितस्सम्यग् यथेन्द्रो विजयी पुरा। —बालकाण्ड

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमागतम्।

व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम्। —अयोध्याकाण्ड

बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपमः। —सुन्दरकाण्ड

राजीवलोचनः, कमलपत्राक्षम्, राजीवताम्राक्षः, कमललोचने, पद्मपत्रनिभेक्षणम् आदि ।[1]

उपमानों का क्षेत्र केवल द्रव्यों तक ही सीमित हो ऐसी बात नहीं, अपितु गुण तथा कर्म भी उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुए हैं:—

"यथाऽमृतस्य संप्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ।
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य च ॥
प्रनष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः ।
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुनेः ।।" —बालकाण्ड

कभी कभी केवल वस्तु उपमान के रूप में प्रयुक्त न होकर अवस्था-विशेष में विद्यमान वह वस्तु उपमान के रूप में प्रयुक्त हुई है। उदाहरणतः केवल अग्नि उपमान के रूप में प्रयुक्त नहीं हुई है अपितु धूंए से रहित अग्नि अथवा जलती हुई अग्नि उपमान के रूप मे प्रयुक्त हुई है:—

"तं दृष्ट्वा भीमसंकाशं ज्वलन्तमिव पावकम् ।" —बालकाण्ड

"प्रजज्वाल रणे भीष्मो विधूम इव पावकः ॥" —भीष्मपर्व

यहां उपमान पावक को उपर्युक्त अवस्थाओं में दिखाने के कारण साधारणधर्म तेज में उत्कर्ष आ गया है। परन्तु उपमान की प्रत्येक अवस्था साधारणधर्म के उत्कर्ष का कारण हो ऐसी बात नहीं। उपमान की कतिपय अवस्थाएं जहां साधारणधर्म में उत्कर्ष लाती हैं वहां उसकी कतिपय अवस्थाएं उसमे अपकर्ष भी ला देती हैं। और कभी कभी तो ऐसा होता है कि उपमान जिस साधारणधर्म की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है उपमान की विशेष अवस्था उस धर्म से सर्वथा विपरीत अर्थ का द्योतन कराती है। उदाहरणतः अग्नि का धर्म तेज है। अतः उपमान के रूप में इसका प्रयोग प्रायः उपमेय के उत्कर्ष का द्योतक है। परन्तु इसी अग्नि के साथ श्मशान शब्द जुड़ जाने से यह अग्नि उपमेय की हेयता की सूचक बन जाती है.—

"लुब्धं महीपतिं न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजाः ।"—अरण्यकाण्ड

इसी प्रकार अग्नि के साथ शाम्यन्, गतार्चिष् शब्दों के जुड़ने से साधारणधर्म तेज में अपकर्ष आ गया है:—

"शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशन. ।" —शान्ति पर्व

"तं तथा पतितं संख्ये .गतार्चिषमिवानलम् ।" —किष्किन्धाकाण्ड

चन्द्रमा की विशेष अवस्थाओं का भी यत्र तत्र उपमान के रूप में प्रयोग हुआ है। उदाहरणतः उपमान के रूप में केवल चन्द्र का प्रयोग न होकर परिपूर्णचन्द्र, प्रतिपच्चन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऐसा करने से साधारणधर्म सौन्दर्य में उत्कर्ष आ गया है। निम्नलिखित उदाहरण इसके परिचायक हैं:—

"अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम् ।" —अयोध्याकाण्ड

"तेजसा आदित्यसंकाशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ।" —अयोध्याकाण्ड

कहीं कहीं एक वस्तु उपमान के रूप में प्रयुक्त न होकर परस्पर-सम्बद्ध अनेक वस्तुएं उपमान के रूप में प्रयुक्त हुई हैं। ये परस्पर-सम्बद्ध अनेक वस्तुएं एक संश्लिष्ट वस्तु के रूप में हैं। जहां उपमान इस प्रकार की संश्लिष्ट वस्तु के रूप में है वहां उपमेय भी इसी प्रकार का है। अतः ऐसी दशा में एक संश्लिष्ट वस्तु का अन्य संश्लिष्ट वस्तु से सादृश्य दिखाया गया है। इस प्रकार के सादृश्यविधान के द्वारा एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है और वह चमत्कार का कारण होता है।

"दशग्रीवो रथस्थस्तु रामं वज्रोपमैः शरैः ।
आजघान महाघोरैः धाराभिरिव तोयदः ।।" —युद्धकाण्ड

यहां रावण के द्वारा शरों का प्रहार उपमेय है तथा मेघ के द्वारा धाराओं का प्रहार (निपातन) उपमान है। ये उपमेय तथा उपमान संश्लिष्ट वस्तुएं हैं। सादृश्यविधान प्रधानतः इन्हीं संश्लिष्ट वस्तुओं में है। इन संश्लिष्ट वस्तुओं के अनेक अंग हैं। उपमेय के अंग रावण, शर तथा प्रहार हैं। रावण कर्ता है, शर साधन है तथा प्रहार क्रिया है। उपमान के अंग मेघ, धारा तथा प्रहार (निपातन) हैं। मेघ कर्ता है, धारा साधन है तथा प्रहार (निपातन) क्रिया है। उपमेय के इन अंगों का भी उपमान के इन अंगों से क्रमशः सादृश्य है, परन्तु यह सादृश्य गौण है तथा प्रधान सादृश्य का कारण है।

कहीं कहीं यह संश्लिष्ट वस्तु सम्बन्धविशेष का रूप धारण करती है। ऐसी दशा में दो वस्तुओं के सम्बन्ध का सादृश्य अन्य दो वस्तुओं के सम्बन्ध से दिखाया गया है:—

"प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलाऽसि मे दृढम् ॥" —युद्धकाण्ड

यहां राम के प्रति सीता के सम्बन्ध का सादृश्य नेत्र के प्रति दीप के सम्बन्ध से दिखाया गया है ।

संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने के लिए अनेक स्थलों पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव का भी आश्रय लिया गया है:—

"ततः प्रदीप्तलांगूलः सविद्युदिव तोयदः ।" —सुन्दरकाण्ड

"अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृंगाविवाचलौ ।" —आदिपर्व

यहां प्रथम उदाहरण में हनुमान् का सादृश्य मेघ से दिखाया गया है। इस सादृश्य का कारण प्रदीप्तलांगूल तथा विद्युत् का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। प्रदीप्तलांगूल तथा विद्युत् भिन्न वस्तुएं हैं। परन्तु इन दोनों में पीत वर्ण तथा दीर्घ आकार साधारणधर्म के रूप में विद्यमान हैं। अतः दोनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव हनुमान् तथा मेघ के सादृश्य का कारण है। इस बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कारण यहां एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है।

इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में गदा तथा शृंग में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा वह एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है।

रामायण तथा महाभारत में यत्र तत्र मालोपमा का भी प्रयोग हुआ है:—

"शोषणं सागरस्येव मन्दरस्येव चालनम् ।
नभसः पतनं चैव शैत्यमग्नेस्तथैव च ।
अश्रद्धेयमहं मन्ये विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ॥" —मौसलपर्व

यहां कृष्णजी का विनाश उपमेय है तथा सागर का शोषण, मन्दराचल का चालन आदि उपमान हैं। साधारणधर्म यहां असम्भाविता है। इस साधारणधर्म की दृष्टि से उपर्युक्त उपमान अत्यन्त उपयुक्त बन पड़े हैं।

"तेजसाऽऽदित्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः ।
बृहस्पतिसमो बुद्धया यशसा वासवोपमः ॥" —सुन्दरकाण्ड

यहां एक ही उपमेय के आदित्य, पृथिवी आदि अनेक उपमान हैं।

पूर्वोक्त उदाहरण से इसमें कुछ अन्तर है। वह यह है कि पूर्व उदाहरण में साधारणधर्म केवल एक है परन्तु यहां वे अनेक हैं।

अनन्वय का निम्नलिखित उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है:—

"गगनं गगनाकारं सागरस्सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥" युद्धकाण्ड

इस उदाहरण की श्रेष्ठता इसी से स्पष्ट है कि अनेक आलंकारिकों ने अनन्वय के उदाहरण के रूप में इसे उद्धृत किया है।

असम अलंकार का निम्नलिखित उदाहरण भी अत्यन्त उत्तम है:—

"न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन।
त्रिषु लोकेषु वै राम न भवेत्सदृशस्त्वया॥" —बालकाण्ड

रामायण तथा महाभारत में रूपक का प्रायः प्रयोग हुआ है। सागर पर वस्त्र का आरोप करके मही को सागराम्बरा कहा गया है। इससे मही का स्त्र्युचित स्वरूप सम्मुख आ उपस्थित होता है। इसी प्रकार शोक पर सागर का आरोप करके शोक की गम्भीरता स्पष्टतः अभिव्यक्त की गई है। निम्नलिखित श्लोक रूपक का सुन्दर उदाहरण है:—

"रामचन्द्रमसं दृष्ट्वा ग्रस्तं रावणराहुणा।
उपगम्याब्रवीद्रामम् अगस्त्यो भगवानृषिः।" —युद्धकाण्ड

यहां राम पर चन्द्रमा का तथा रावण पर राहु का आरोप है।

मालारूपक के उदाहरण भी यत्र तत्र मिलते हैं:—

"राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥" —अयोध्याकाण्ड

यहां राजा पर सत्य, धर्म आदि का आरोप किया गया है।

कहीं कहीं पर धर्म आदि उपमानों के साथ विग्रहवान् आदि शब्द जोड़ दिए गए हैं:—

"रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः.........सत्यपराक्रमः" —अरण्यकाण्ड

ऐसा करने से उस सम्भावित बाधप्रतीति का निराकरण हो जाता है जो मूर्त वस्तु पर अमूर्त के आरोप से सम्भव है।

उत्प्रेक्षा का इन ग्रन्थों में प्रचुर प्रयोग हुआ है:—

"कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्धः प्रदहन्निव चक्षुषा।" —अयोध्याकाण्ड

"इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया।
स्मरद्भिरेव तद्वैरम् इन्द्रियैरेव निर्जितः॥" —युद्धकाण्ड

प्रथम उदाहरण में 'सक्रोधं पश्यन्' विषय है। यह विषय अनुपात्त है। इसकी सम्भावना प्रदहन् में की गई है। द्वितीय उदाहरण में इन्द्रियों के द्वारा रावण के जीते जाने का कारण वस्तुतः रावण की इन्द्रियपरायणता है। परन्तु यहां कारण इन्द्रियों के द्वारा पूर्व वैर के स्मरण को बताया गया है। इस प्रकार यहां एक वस्तु की सम्भावना अन्य वस्तु में की गई है।

कहीं कहीं उपमान के साथ अपर शब्द लगाकर सम्भावना की गई है—

"इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद्धर्म इवापरः.........।" —बालकाण्ड

"सर्वप्रियकरस्तस्य बहिः प्राण इवापरः॥" —बालकाण्ड

इन अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के उदाहरण भी कहीं कहीं मिलते हैं। अतिशयोक्ति का उदाहरण निम्नलिखित है:—

"एष विग्रहवान् धर्मः............" —बालकाण्ड

यहां उपमेय का सर्वथा निगरण हो गया है।

अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण इस प्रकार है:—

"कः कृष्णसर्पमासीनम् आशीविषमनागसम्।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया॥" —अरण्यकाण्ड

यहां प्रस्तुत का वर्णन न करके अप्रस्तुत का वर्णन किया गया है। सन्देह का उदाहरण इस प्रकार है:—

"का त्वं काञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनी।
ह्रीः कीर्तिश्श्रीश्शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने।
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी॥" —अरण्यकाण्ड

"काव्यकाल"

इस काल में उपमानों का क्षेत्र पूर्व की अपेक्षा भी विस्तृत हो गया है। चल तथा अचल जगत् की ऐसी कोई वस्तु नहीं जो किसी न किसी रूप में उपमान के रूप में प्रयुक्त न हुई हो। प्रत्येक वस्तु में अपनी विशेषता होती है। इसी विशेषता को दृष्टिगत करके कवियों ने उस वस्तु को उपमान के रूप में प्रयुक्त किया है। महाकवि कालिदास इसी काल में हुए। उनकी उपमाएं "उपमा कालिदासस्य" की उक्ति से प्रसिद्ध हैं। कालिदास की उपमाओं की इस प्रसिद्धि का कारण उपमानों की उपयुक्तता तथा संश्लिष्ट चित्रण आदि हैं।

उपमानों की उपयुक्तता दो वस्तुओं पर निर्भर करती है—उपमानचयन के क्षेत्र के विस्तार पर तथा कवि की निरीक्षणशक्ति पर। उपमानचयन का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण कवि को अपनी निरीक्षणशक्ति के बल पर उसमें उस धर्म से युक्त उपमान की सहज ही प्राप्ति हो जाती है जिसकी अभिव्यञ्जना वह उपमेय में करना चाहता है। कालिदास में ये दोनों बातें हैं। कालिदास की निरीक्षणशक्ति तो प्रसिद्ध है ही। इसके अतिरिक्त उनके उपमानों का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है।

उपमानों के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए कालिदास ने पदार्थों के समन्वय तथा भावजगत् अथवा विचारजगत् एवं कल्पनाजगत् का आश्रय लिया है। पदार्थों के समन्वय में उन्होंने दो या अधिक वस्तुओं को संयुक्त रूप से उपमान के रूप में प्रयुक्त करके उपमेय का चित्र सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करते समय उन्होंने उपमेय तथा उपमान के रूप में प्रयुक्त वस्तुओं का पृथक् पृथक् रूप से सादृश्य दिखाने के अतिरिक्त उन वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध के सादृश्य को भी ध्यान में रखा है। इस प्रकार उपमेय के समस्त चित्र का सादृश्य उपमान के समस्त चित्र से दिखाया गया है:—

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥"

—कुमारसम्भव १। ४४

यहां ताम्रौष्ठ तथा स्मित का क्रमशः प्रवाल तथा पुष्प अथवा विद्रुम

तथा मुक्ताफल के साथ सादृश्य दिखाने के अतिरिक्त यह भी दिखाया गया है कि ताम्रौष्ठ एवं स्मित में आधाराधेयभाव उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रवाल तथा पुष्प अथवा विद्रुम तथा मुक्ताफल मे हो।

कालिदास के उपमानों का क्षेत्र प्रत्यक्ष जगत् तक ही सीमित नहीं अपितु परोक्ष जगत् भी उसके अन्तर्गत आ गया है। यह परोक्ष जगत् भावों अथवा विचारों का जगत् है। इसमें श्रद्धा, ज्ञान, धर्म उपमान के रूप में प्रयुक्त हुए हैं:—

"बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना।"

—रघुवंश २। १६

यहां गौ का सादृश्य श्रद्धा से दिखाया गया है। यह श्रद्धा परोक्ष जगत् की वस्तु है।

दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि के सिद्धान्त इस भावजगत् अथवा विचार-जगत् के अन्तर्गत आ जाते हैं। बुद्धि की अव्यक्त से उत्पत्ति, स्मृति के द्वारा श्रुति का अनुमरण, राजा के द्वारा रक्षित भूमि के षष्ठांश का ग्रहण आदि विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्त इसी विचारजगत् के अन्तर्गत आते हैं। इनका भी यत्र तत्र उपमान के रूप में प्रयोग हुआ है।

"ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति।"

—रघुवंश १३। ६०

"तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।"

—रघुवंश २। २

"वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥"

—रघुवंश २। ६६

कालिदास उपमानों के चयन के लिए काल्पनिक जगत् की ओर भी उन्मुख हुए हैं। इस जगत् के उपमानों की सत्ता व्यावहारिक जगत् में देखने को नहीं मिलती। ये केवल कविकल्पना की सृष्टि होते हैं:—

"ऐरावतं स्फटिकशैलसोदरम्।" —कुमारसम्भव १४। ५

"तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैः॥" —कुमारसम्भव १०। ६०

उपमानों के क्षेत्र का यह विस्तार उपयुक्त उपमान के चयन में अत्यन्त सहायक हुआ है। उदाहरणतः 'ऐरावतं स्फटिकशैलसोदरम्' में उपमेय ऐरावत में श्वेतता तथा विशालता ये दो धर्म दिखाने अभीष्ट हैं। विशालता-धर्म के लिए शैल के रूप में उपमान लोक में विद्यमान है। शैल मे विशालताधर्म हम प्रत्यक्ष लोक मे देखते हैं। परन्तु श्वेतताधर्म इस लौकिक शैल में नहीं होता। इस धर्म को दिखाने के लिए कवि ने कल्पना का आश्रय लेकर स्फटिक-शैल की सृष्टि की है। इस काल्पनिक स्फटिक-शैल के द्वारा विशालता के साथ साथ उस श्वेतताधर्म की भी अभिव्यक्ति हो जाती है जो लौकिक शैल से सम्भव नहीं।

'तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैः' में तेज की अधिकता दिखाना कवि को अभीष्ट है। तेज के उपमान के रूप में सूर्य लोक मे विद्यमान है। परन्तु एक सूर्य को उपमान के रूप में प्रयुक्त करने से तेज के उस आधिक्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती जो कवि को अभीष्ट है। अतः उसने एक स्थान पर सौ सूर्यों की कल्पना करके उन्हें उपमान के रूप में प्रयुक्त किया है। ऐसा करने से उस तेज की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है जो अन्यथा सम्भव नहीं।

उपमान चयन के लिए भाव-जगत् का आश्रय उपमान की उपयुक्तता के लिए होता है। प्रत्यक्ष जगत् मे साधारणधर्म की यह प्रतीति उपमान की प्रतीति से प्रायः पृथक् होती है। परन्तु भावजगत् में उन दोनों की प्रतीति में भेद नहीं होता। प्रत्यक्ष जगत् मे उपमान से किसी धर्म की अभिव्यक्ति इसलिए होती है क्योंकि उस धर्म की उस उपमान में सत्ता है। भावजगत् में इसके विपरीत धर्म ही उपमान का रूप धारण करता है। उदाहरणतः प्रत्यक्ष जगत् में वीरता, शूरता आदि की अभिव्यक्ति के लिए सिंह आदि का उपमान के रूप में प्रयोग किया जाएगा। परन्तु भाव-जगत् में ये शूरता आदि ही उपमान बन जाएंगे। इस प्रकार प्रथम दशा में जहां यह कहा जाएगा कि वह सिंह के समान है अथवा सिंह है वहां द्वितीय दशा में कह दिया जाएगा कि वह साक्षात् अथवा मूर्तिमान् शौर्य है। प्रथम प्रयोग में उपमान सिंह से शौर्यधर्म की प्रतीति होती है, परन्तु द्वितीय प्रयोग में यह शौर्य ही उपमान बन गया है। इस प्रकार इस द्वितीय प्रयोग में उपमान तथा साधारणधर्म में कोई अन्तर नहीं रहता। कालिदास का निम्नलिखित उदाहरण इसी प्रकार का है:—

"व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः सालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥" —रघुवंश १ । १३

यहां उपमेय में जिस क्षात्र धर्म की अभिव्यक्ति अभीष्ट है उसे ही उपमान बना दिया गया है ।

अचेतन वस्तुओं पर चेतनता का आरोप सादृश्यविधान की उपयुक्तता मे अत्यन्त सहायक हुआ है । कालिदास ने प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं पर चेतनता का आरोप करके उन्हें स्त्री अथवा पुरुष के रूप में देखा है । रात्रि को कालिदास ने स्त्री के रूप मे देखा है तथा चन्द्र को पुरुष के रूप में देखा है । इसी प्रकार लताओं आदि को इन्होंने स्त्री के रूप मे तथा पादप आदि को पुरुष के रूप में देखा है । इस मानवीकरण के द्वारा सादृश्यविधान में अत्यन्त चारुता आ गई है ।

"अंगुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥"
—कुमारसम्भव ८।६३

यहां अचेतन रजनी का चेतन नायिका से तथा अचेतन शशी का चेतन नायक से सादृश्य व्यंग्य है । यह सादृश्य अत्यन्त सुन्दर वन पड़ा है ।

कालिदास ने जहां दो वस्तुओं में सादृश्य दिखाया है वहां वह सादृश्य प्रत्येक सम्भव दृष्टि से घटता है । इससे वह सादृश्य अत्यन्त उपयुक्त तथा सुन्दर बन पड़ा है ।

"तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥"
रघुवंश २ । ७३

यहां राजा दिलीप का सादृश्य नवोदित चन्द्र से दिखाया गया है । यह सादृश्य अनेक प्रकार से घटता है—उत्सुकतापूर्ण दर्शन के द्वारा, शरीर की कृशता के द्वारा तथा सौन्दर्य के द्वारा । इन तीनों धर्मों में से प्रथम दो वाच्य हैं तथा तृतीय व्यंग्य है । यहां प्रधानतः सादृश्य यद्यपि प्रथम साधारणधर्म के कारण ही है, परन्तु अन्तिम दोनों धर्म उसमें सहायक हैं तथा उसके उत्कर्षक है ।

कालिदास ने अपने सादृश्यविधान के द्वारा अनेक स्थलों पर एक

संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया है। इस संश्लिष्ट चित्र के लिए उन्होंने बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव, वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों का सादृश्य आदि अनेक उपाय अपनाए हैं। निम्नलिखित श्लोक साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उत्कृष्ट उदाहरण है:—

"वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥"

—रघुवंश १३। २

यहां अम्बुराशि का सादृश्य आकाश से दिखाया गया है। इसके लिए सेतु तथा छायापथ एवं फेन तथा तारागण के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का आश्रय लिया गया है। सेतु तथा फेन समुद्र के धर्म हैं तथा छायापथ एवं तारागण आकाश के धर्म है। इनमें प्रथम दो धर्मों का क्रमशः अन्तिम दो धर्मों से सादृश्य है। अतः समुद्र तथा आकाश में सादृश्य है। इस सादृश्य के अतिरिक्त स्वच्छता, नीलवर्णता एवं विस्तार के कारण भी समुद्र तथा आकाश मे सादृश्य है। स्वच्छता का तो 'शरत्प्रसन्नम्' विशेषण के रूप में आकाश में निर्देश भी है। इन धर्मों के द्वारा उत्पन्न सादृश्य पूर्व धर्मो से उत्पन्न सादृश्य में सहायक है। इस सादृश्यविधान के द्वारा हमारे सम्मुख संश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है जिसमें समुद्र तथा आकाश का अपने निर्दिष्ट धर्मों के साथ एक चित्र खिच जाता है।

कालिदास ने अनेक स्थलों पर संश्लिष्ट वस्तुओं का सादृश्य दिखाया है। इस सादृश्यविधान के समय संश्लिष्ट वस्तुओं की अंगभूत विभिन्न वस्तुओं का पृथक् पृथक् प्रसिद्ध सादृश्य दिखाना अनिवार्य नहीं। परन्तु कालिदास ने इसका भी ध्यान रखा है। इससे सादृश्यविधान में अत्यन्त चारुता आ गई है।

"तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥"

—रघुवंश २। ३९

यहां प्रधानतः सादृश्य 'एषा गौः मे तृप्त्यै अलम्' तथा 'चान्द्रमसी सुधा सुरद्विषस्तृप्त्यै अलम्' में है। अतः इसका अर्थ है कि यह गौ मेरी तृप्ति के लिए उसी प्रकार पर्याप्त है जिस प्रकार चान्द्रमसी सुधा राहु की तृप्ति के लिए पर्याप्त हो। यहां गौ तथा चन्द्रिका एवं सिंह तथा राहु में विद्यमान

प्रसिद्ध सादृश्य का भी ध्यान रखा गया है। गौ तथा चन्द्रिका में कोमलता प्रसिद्ध साधारणधर्म है एवं सिंह तथा राहु में भयङ्करता प्रसिद्ध साधारणधर्म है। इससे प्रस्तुत प्रधान सादृश्य मे अत्यन्त चारुता आ गई है।

पारस्परिक सम्बन्धों के सादृश्य के उदाहरण भी कालिदास में यत्र तत्र मिलते है। ये सम्बन्ध अनुकूलभाव, प्रतिकूलभाव, कार्यकारणभाव आदि अनेक रूपों में विद्यमान हैं। निम्नलिखित उदाहरण में कार्यकारणभावरूप सम्बन्धों का सादृश्य है:—

"पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति॥"

—रघुवंश १३। ६६

यहां सरयू तथा मानसरोवर के पारस्परिक सम्बन्ध का सादृश्य बुद्धि तथा अव्यक्त के पारस्परिक सम्बन्ध से दिखाया गया है। सरयू मानसरोवर से उत्पन्न होती है। अतः इन दोनों में कार्यकारणसम्बन्ध है। यही बात बुद्धि तथा अव्यक्त के साथ है। अतः सरयू तथा मानस के सम्बन्ध का सादृश्य बुद्धि तथा अव्यक्त के सम्बन्ध से है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त कालिदास में प्रायः वे सभी विशेषताएं मिलती हैं जो वाल्मीकि में है। उपमा की दृष्टि से कालिदास तथा वाल्मीकि में पर्याप्त साम्य है। परन्तु कालिदास इस दृष्टि से वाल्मीकि से आगे वढ गए दिखाई देते हैं। वाल्मीकि ने जहां सीधा साधा वर्णन किया है, कालिदास ने उसे सादृश्यविधान के द्वारा अत्यन्त सुन्दर बना दिया है। वाल्मीकि तथा कालिदास के निम्नलिखित श्लोकों की तुलना से यह स्पष्ट है:—

"असौ सुतनु शैलेन्द्रश्चित्रकूटः प्रकाशते।" —रामायण

"धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपंकः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः॥"

—रघुवंश १३। ४७

वाल्मीकि का चित्रकूट का उपर्युक्त वर्णन अत्यन्त सीधा साधा है। परन्तु कालिदास ने विभिन्न धर्मों से युक्त उसका सादृश्य विभिन्न धर्मों से युक्त ककुद्मान् के साथ बिम्बप्रतिबिम्बभाव के द्वारा दिखाकर उसे अत्यन्त सुन्दर बना दिया है।

इस काल में कालिदास के समान भारवि, माघ आदि ने भी उपमाओं का प्रचुर प्रयोग किया है। इनकी उपमाओं में भी प्रायः वे ही विशेषताएं हैं जो कालिदास की उपमाओं में हैं। परन्तु ये इस दृष्टि से कालिदास के समकक्ष नहीं कहे जा सकते।

इस काल में शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन विस्तार से मिलता है। शरीर के विभिन्न अवयवों एवं क्रियाओं के लिए विभिन्न उपमानों का प्रयोग हुआ है। मुख, नेत्र, भ्रू, दान्त आदि का सादृश्य क्रमशः चन्द्र अथवा कमल, कमल अथवा भृङ्ग, भृङ्गावली, दाडिम आदि से दिखाया गया है। शरीर का कोई अवयव ऐसा नहीं जिसका कोई उपमान न हो।

शरीर के कतिपय अवयवों तथा क्रियाओं का सादृश्य अन्य पशु पक्षियों के उन्हीं अवयवों तथा क्रियाओं से दिखाया गया है। उदाहरणतः नेत्र का सादृश्य मृगनेत्र से, ग्रीवा का सादृश्य कच्छप की ग्रीवा से, वाणी का हंस शुक आदि की वाणी से तथा गमन का हंस हस्ती आदि के गमन से दिखाया गया है। मृगाक्षी, गजगमना कोकिलवाणी आदि शब्दों का इस काल में प्रचुर प्रयोग मिलता है।

अनेक अमूर्त वस्तुओं में वर्णविशेष की कल्पना करके उनका सादृश्य ऐसी मूर्त वस्तुओं से दिखाया गया है जिनमें वह वर्णविशेष विद्यमान है। यश में श्वेतवर्ण की कल्पना करके उसका सादृश्य दुग्ध आदि से दिखाया है। इसी प्रकार अनुराग आदि में रक्त आदि वर्णों की कल्पना करके उनका सादृश्य उस उस वर्ण से युक्त वस्तु से दिखाया है।

इस काल में कतिपय लेखकों ने केवल शब्दसादृश्य के आधार पर उपमा का विधान किया है। इन लेखकों में सुबन्धु आदि गद्यलेखक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वर्षाकाल का विभिन्न वस्तुओं से सादृश्य दिखाते हुए सुबन्धु लिखते हैं:—

"एकदा तु कतिपयमासापगमे काकलीगायन इव समृद्धनिम्नगानदः, सायन्तनसमय इव नर्तितनीलकण्ठः—समाजगाम वर्षासमयः।"

—वासवदत्ता

यहां वर्षासमय का सादृश्य काकलीगायन आदि विभिन्न वस्तुओं से दिखाया गया है। वस्तुतः इस प्रकार के सादृश्य को हम सादृश्य नहीं कह सकते। उपर्युक्त उदाहरण में हम लेखक के भाषा के अधिकार तथा उसके

मानसिक व्यायाम की सराहना करते हैं, परन्तु सादृश्य के लिए जिस साधारणधर्म की आवश्यकता है उसका यहां अभाव होने के कारण हम ऐसे उदाहरणों को उपमा के अन्तर्गत नहीं कर सकते।

उपमा के अतिरिक्त अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों का भी इस काल में प्रचुर प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, समासोक्ति आदि सभी अलंकारों का प्रयोग हमें यत्र तत्र देखने को मिलता है।

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में सादृश्यमूलक अर्थालंकारों का विकास

भरत मुनि के नाटयशास्त्र मे सर्वप्रथम हमे केवल तीन अलंकारों का निरूपण मिलता है। ये उपमा, रूपक तथा दीपक हैं। अतः इन अलंकारों को हम सादृश्यमूलक अर्थालंकारों के विकास की प्रथम अवस्था कह सकते हैं। विकास की प्रथम अवस्था में इन अलंकारों का निरूपण स्वाभाविक था। इसका कारण यह है कि सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास बहुत कुछ अंशों में साधारणधर्म के विभिन्न भेदों के आधार पर हुआ है। साधारणधर्म का जो भेद वस्तुओं का सादृश्य बताने में सीधा सहायक होता है उस पर आश्रित अलंकार की ओर ध्यान सबसे पहले जाता है। साधारणधर्मो के भेदों मे अनुगामी भेद को हम सादृश्य में सीधा सहायक कह सकते हैं।[1] वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न तथा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्मों के नाम क्रमशः इसके बाद आते हैं। साधारणधर्म की अनुगामिता की दशा में साधारणधर्म का एक ही रूप उपमेय तथा उपमान में रहता है। अतः उससे उपमेय तथा उपमान में सादृश्य का बोध अपेक्षाकृत शीघ्र होता है। वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न तथा बिम्बप्रतिबिम्ब-भावापन्न साधारणधर्मों में यह बात नहीं। उपमा, रूपक तथा दीपक में साधारणधर्म की अनुगामिता होती है। अतः इन अलंकारों का सर्वप्रथम निरूपण स्वाभाविक था।

उपमा तथा दीपक में साधारणधर्म की अनुगामिता की दृष्टि से तो कोई भेद नहीं, परन्तु उनमें एक अन्य भेद है। वह यह है कि उपमा में हमारा ध्यान सीधे सादृश्य पर केन्द्रित होता है, परन्तु दीपक में वह प्रथम एकधर्माभिसम्बन्ध की ओर जाता है और तब सादृश्य का ज्ञान होता है। अतः हम कह सकते हैं कि उपमा का आविर्भाव दीपक से पहले हुआ है। निरुक्त तथा अष्टाध्यायी आदि प्राचीन व्याकरणग्रन्थों में उपमा-सम्बन्धी वर्णन इस बात को पुष्ट करता है।

उपमा तथा रूपक में साधारण अन्तर है। वह यह है कि उपमा में साधर्म्य का क्षेत्र सीमित होता है, परन्तु रूपक में वह उपमेय तथा

---

१. देखिए उपमाप्रकरण

उपमान के समस्त धर्मों को अपने अन्तर्गत कर लेता है। इस प्रकार उपमा का साधर्म्य रूपक मे तादूप्य में परिणत हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि रूपक का आविर्भाव उपमा के कुछ बाद हो गया होगा। यास्क के निरुक्त मे जहां उपमा का निरूपण किया गया है वहां अर्थोपमा अथवा लुप्तोपमा का भी वर्णन है। यह लुप्तोपमा परवर्ती आलङ्कारिकों के रूपकालङ्कार से भिन्न नहीं।

नाटचशास्त्र के बाद भामह का काव्यालङ्कार हमारे सामने आता है। इसमें रूपक, दीपक, उपमा, व्यतिरेक, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, ससन्देह, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव का निरूपण है। नाटचशास्त्र के तीन अलङ्कारों के बाद भामह ने अकेले इतने अधिक अलङ्कारों का आविष्कार कर डाला हो यह विश्वसनीय प्रतीत नही होता। निश्चय ही अलङ्कारों की इस संख्यावृद्धि में अनेक आलङ्कारिकों ने योग दिया होगा। स्वयं भामह ने भी अपने पूर्ववर्ती मेधावी आदि अनेक आलङ्कारिकों का उल्लेख किया है। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटचशास्त्र तथा भामह के काव्यालङ्कार के बीच अलङ्कारों के विकास की कई अवस्थाएं रही होंगी। परन्तु वे प्रबन्धरूप में इस समय प्राप्य नहीं हैं।

भामह ने अलङ्कारों का जो निरूपण किया है वह सब अलङ्कारों को एक समुदाय में रखकर नहीं किया। परन्तु उन्हें विभिन्न समुदायों में बांटकर किया है। रूपक, दीपक तथा उपमा को भामह ने प्रथम समुदाय में रखा है।[1] व्यतिरेक, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति द्वितीय समुदाय में आते हैं।[2] तृतीय समुदाय में उत्प्रेक्षा का सन्निवेश है[3] तथा चतुर्थ समुदाय में शेष सादृश्यमूलक अलङ्कारों को रखा है।[4] इससे यदि हम यह अनुमान लगाएं कि इन विभिन्न समुदायों में अलङ्कारों

---

१. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवाऽन्यैरुदाहृताः॥ —काव्यालङ्कार २-४

२. आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ती च षडलङ्कृतयोऽपराः॥ —काव्यालङ्कार २। ६६

३. यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः। —काव्यालङ्कार २। ८८

४. देखिए काव्यालङ्कार तृतीय परिच्छेद।

को रखने से भामह का तात्पर्य अलंकारों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं की ओर संकेत करना था तो अनुचित न होगा। अतः इस अनुमान का सहारा लेकर हम अलङ्कारों का विकास दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

नाट्यशास्त्र में उपमा तथा रूपक का निरूपण हो चुका था। जैसा हम ऊपर दिखा आए हैं उपमा से रूपक तक आने की प्रक्रिया साधर्म्य के ताद्रूप्य में परिणत होने की प्रक्रिया है। उपमा में एक या अधिक साधारणधर्मों के आधार पर साधर्म्य होता है। रूपक के लिए आवश्यक है कि उपमा में विद्यमान इस साधर्म्य का क्षेत्र आगे बढ़े तथा परम विस्तृत होकर वह ताद्रूप्य का रूप धारण कर ले। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि साधर्म्य का यह क्षेत्र प्रत्येक दशा में आगे ही बढ़े। कभी कभी इसके विपरीत स्थिति भी हो सकती है। ऐसी दशा में जिस साधारणधर्म के आधार पर वस्तुओं में साधर्म्य होता है उसमें मात्राभेद के कारण वस्तुओं में वैधर्म्य हो जाता है। उदाहरणतः मुख तथा कमल में यदि सौन्दर्य साधारणधर्म है तो इन दोनो में से किसी एक मे सौन्दर्य की मात्रा अन्य में विद्यमान सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक होगी। इस प्रकार इस मात्राभेद के फलस्वरूप दोनों वस्तुओं में वैधर्म्य होगा। साधर्म्य के साथ वैधर्म्य के सन्निवेश की यह प्रक्रिया साधर्म्य की ताद्रूप्य में परिणतिसम्बन्धिनी प्रक्रिया की विरोधी है। इस दशा में अभिव्यक्त अलङ्कार का नाम आलङ्कारिकों ने व्यतिरेक रखा। उपमा तथा रूपक के आविर्भाव के बाद आलङ्कारिकों का ध्यान शीघ्र ही इस अलंकार की ओर गया होगा। यही कारण है कि इस अलंकार का उल्लेख भामह ने द्वितीय वर्ग में किया है।

यह तो हुई साधर्म्यविस्तारसम्बन्धिनी प्रक्रिया की विरोधी प्रक्रिया। परन्तु यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न न हो तो साधर्म्य ताद्रूप्य में परिणत हो जाता है। ताद्रूप्य पर आने पर यह प्रक्रिया समाप्त नहीं होती परन्तु आगे बढती है। ताद्रूप्य में वस्तुओं के समस्त धर्मों में तो एकता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु उन वस्तुओं का अस्तित्व पृथक् बना रहता है। अतः सादृश्य से आरम्भ होने वाली प्रक्रिया और आगे बढती है तथा वस्तुओं के भेदाभाव में आकर पर्यवसित होती है। भेदाभाव की इस स्थिति में अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इस अलंकार का आविर्भाव रूपक के बाद हुआ होगा क्योंकि भामह ने अलङ्कारों के द्वितीय वर्ग में इस अलंकार

का उल्लेख किया है। यहां यह बात अवश्य है कि भामह ने अतिशयोक्ति की परिभाषा भेदाभाव न करके लोकातिक्रान्तगोचरता की है। यह लोकातिक्रान्तगोचरता केवल भेदाभाव की स्थिति में ही नहीं होती अपितु उपमा आदि सभी अलङ्कारों में होती है। परन्तु क्योंकि उपमा से आरम्भ होने वाली सादृश्यप्रतीति का पर्यवसान भेदाभाव वाली स्थिति मे आकर होता है। अतः यदि इस स्थिति में लोकातिक्रान्तगोचरता की चरम सीमा मानकर इस स्थिति को लोकातिक्रान्तगोचरता का नाम दिया जाए तो अनुचित न होगा।

ताद्रूप्य से भेदाभाव तक आने के लिए सादृश्यप्रतीति की एक प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया को हम भेदाभावोन्मुखी प्रक्रिया कह सकते हैं। इस स्थिति में विषय निगीर्यमाण होता है। भेदाभाव की स्थिति मे आकर वह निगीर्ण हो जाता है।[1] इस भेदाभावोन्मुखी प्रक्रिया में उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है। यह सम्भव है कि आलङ्कारिकों का ध्यान पहले भेदाभाव की स्थिति पर गया हो और बाद में उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व होने वाली प्रक्रिया की ओर गया हो। यही कारण है कि भामह ने उत्प्रेक्षालङ्कार का सन्निवेश तृतीय वर्ग मे किया है।

उत्प्रेक्षालङ्कार के आविर्भाव के आसपास ही रूपक से आंशिक भेद के आधार पर अपह्नुति का आविर्भाव हो गया होगा।[2] भामह ने इसका सन्निवेश चतुर्थ वर्ग में किया है।

उपमा के आधार पर अनन्वय तथा उपमेयोपमा अलङ्कार का आविर्भाव हुआ होगा। उपमा मे उपमेय को उपमान के समान कहा जाता है। ये उपमेय तथा उपमान पृथक् पृथक् होते हैं। इसको देखकर आलङ्कारिकों के ध्यान मे यह बात आई होगी कि यह आवश्यक नहीं कि उपमेय तथा उपमान प्रत्येक दशा में भिन्न भिन्न ही हों। कभी कभी उसी वस्तु का उसी से भी सादृश्य सम्भव है। इस दशा में उत्पन्न चमत्कार उन्हें उपमाजन्य चमत्कार से भिन्न दिखाई दिया। उपमा में

---

१. इसका विवेचन पूर्व किया जा चुका है।

२. रूपक तथा अपह्नुति के भेद का विवेचन अपह्नुति के प्रकरण में किया जा चुका है।

तो सादृश्यप्रतीति थी, परन्तु यहां उन्हें द्वितीयसादृश्यव्यवच्छेद दिखाई दिया। इसके आधार पर उन्होंने अनन्वय नामक पृथक् अलङ्कार का आविर्भाव किया।

इसी प्रकार उपमा में एक वस्तु का द्वितीय वस्तु से सादृश्य देखकर आलङ्कारिकों के यह ध्यान में आया होगा कि यदि इस द्वितीय वस्तु का सादृश्य पुनः प्रथम वस्तु से दिखाया जाए तो क्या स्थिति हो। इस दशा में उन्हें भिन्न चमत्कार भी दिखाई दिया। यह तृतीयसादृश्यव्यवच्छेद के रूप में था। अतः उन्होंने इसके आधार पर उपमेयोपमा नामक पृथक् अलङ्कार का आविर्भाव किया।

दीपक के आधार पर तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति नामक दो अलंकारों का आविर्भाव हुआ। दीपक में एक धर्म से सम्बद्ध वस्तुएं प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत होती हैं। सादृश्यविधान में वस्तुओं का अधिकतर यही रूप होता है। अतः इस रूप में विद्यमान वस्तुओं के एकधर्माभिसम्बन्ध की ओर आलंकारिकों का ध्यान पहले जाना स्वाभाविक था। परन्तु इसके बाद उनका ध्यान एकधर्माभिसम्बन्ध के उस रूप की ओर गया होगा जिसमें सम्बद्ध वस्तुएं प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत हों। इसके आधार पर उन्होंने तुल्ययोगिता की कल्पना की। इसके साथ साथ उन्होंने एक धर्म से सम्बद्ध वस्तुओं की ऐसी स्थिति की भी कल्पना की जिसमें कुछ वस्तुएं धर्म से प्रधानतः तथा अन्य गौणतः सम्बद्ध हों। इसके आधार पर सहोक्ति अलंकार का आविर्भाव हुआ। भामह ने इन दोनों अलंकारों का निरूपण चतुर्थ वर्ग में किया है।

अब तक जिन सादृश्यमूलक अलंकारों का आविर्भाव बताया गया है उनमें प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों अभिधा के विषय हैं। परन्तु कभी कभी ऐसा भी सम्भव है जब उन दोनों में से एक वाच्य हो तथा अन्य व्यंग्य हो। ऐसी स्थिति में समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माने गए। भामह ने इन दोनों का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त अलंकारों का आविर्भाव साधारणधर्म की अनुगामिता को लक्ष्य करके बताया गया है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव-रूप साधारणधर्म के आधार पर अलंकारों का आविर्भाव अभी शेष है।

भामह ने साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव पर आश्रित प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर उपमा के अन्तर्गत माना है। उद्भट ऐसे प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने प्रतिवस्तूपमा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की।

साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर आश्रित दृष्टान्त अलंकार की सत्ता स्वीकार करने वाले भी प्रथम आलंकारिक उद्भट हैं।

सादृश्यमूलक अलंकारों के विकास का एक आधार ज्ञान के विभिन्न रूप हैं। ये विभिन्न रूप सन्देह, भ्रान्ति तथा स्मरण हैं। इनके आधार पर क्रमशः ससन्देह, भ्रान्तिमान् तथा स्मरण अलंकार का आविर्भाव हुआ। इन अलंकारों में ससन्देह का आविर्भाव सर्वप्रथम हुआ। इसका उल्लेख भामह ने किया है। ससन्देह अलंकार का अन्य दो अलङ्कारों से पूर्व आविर्भाव स्वाभाविक था। इस अलङ्कार मे दर्शक का ध्यान सन्देह में विद्यमान विकल्पों पर समान रूप से रहता है। परन्तु स्मरण में ध्यान उपमानरूप स्मर्यमाण वस्तु पर तथा भ्रान्तिमान् में केवल उपमान पर केन्द्रित रहता है। सन्देह में विद्यमान विकल्पों पर समान रूप से ध्यान केन्द्रित होने के कारण उनमें सादृश्य की प्रतीति सरलता से होती है। स्मरण तथा भ्रान्तिमान् में ऐसी बात नहीं। सम्भवतः इसी कारण से स्मरण तथा भ्रान्तिमान् का आविर्भाव रुद्रट के समय में जाकर हुआ।

सादृश्यमूलक अलङ्कारों का आविर्भाव दिखाने के बाद अब हम इन अलङ्कारों का एक एक करके विस्तार दिखाते हैं।

उपमा:—उपमा का विस्तार दो प्रकार से हुआ—कुछ अंशों में उपमान के स्वरूप के आधार पर तथा अधिक अंशों में साधारणधर्म के भेदों के आधार पर। उपमान के स्वरूप के आधार पर विस्तार आरम्भिक स्थिति में हुआ। इस स्थिति में उपमान के दो रूप आलंकारिकों के सामने प्रधानतः आए—उपमान का उत्कर्षापकर्षादिसम्बन्धी रूप तथा उपमान का अनेकत्वसम्बन्धी रूप। नाट्यशास्त्र में उपमान के उत्कर्षापकर्ष के आधार पर प्रशंसोपमा तथा निन्दोपमा का निरूपण हुआ। दण्डी तथा वामन ने नाट्यशास्त्र की इस परम्परा का अनुसरण किया।[1] परन्तु बाद में इसका

१. इसका निरूपण उपमा के प्रकरण में हो चुका है।

आदर नहीं हुआ। यही कारण है कि परवर्ती आलङ्कारिकों ने इसका अनुसरण नही किया।

उपमान की अनेकता के आधार पर मालोपमादि का निरूपण नाट्यशास्त्र में तो नहीं मिलता, परन्तु भामह से पहले इसका निरूपण हो गया होगा। इन पूर्वनिरूपित मालोपमा आदि को देखकर ही भामह के द्वारा यह कथन सम्भव था कि मालोपमादि विस्तार अच्छा नहीं।[1]

दण्डी ने उपमान के अनेकत्व पर आश्रित मालोपमा, समुच्चयोपमा तथा बहूपमा का निरूपण किया है।[2] मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने भी मालोपमा का उल्लेख किया है। परन्तु उद्भट, हेमचन्द्र, रुय्यक, दीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने इसका उल्लेख नहीं किया। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपमा के इस भेद का भी आलङ्कारिकों मे विशेष आदर नही हुआ। जिन आलङ्कारिकों ने इसका निरूपण किया है उन्होंने ऐसा परम्परा के निर्वाह की दृष्टि से ही किया होगा।

उपमा के उपर्युक्त भेदों का आलङ्कारिकों में आदर न होना स्वाभाविक था। इसका कारण यह है कि सादृश्य का सीधा सम्बन्ध उपमान से न होकर साधारणधर्म से होता है। उपमा में उपमान का हमें जो औचित्य दिखाई देता है वह इसलिए नहीं कि वह उपमान स्वतः अच्छा है परन्तु इसलिए कि उसमें वह धर्म प्रसिद्ध रूप से विद्यमान है जिसकी उपमेय में अभिव्यक्ति कवि को अभीष्ट है। अतः इस साधारणधर्म को पृथक रखकर उपमान का रूप उपमा में विचारणीय नहीं।

साधारणधर्म के भेदों के आधार पर उपमान का विस्तार महत्त्वपूर्ण है। साधारणधर्म के अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभाव, बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि अनेक भेद होते हैं। इनके अनुसार उपमा में सादृश्यविधान अनेक प्रकार का होता है। साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर सादृश्य दिखाने की स्थिति में यदि बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब में विद्यमान अवयवों का

१. मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा।

—काव्यालंकार २।३८

२. इसका निरूपण उपमा के प्रकरण में हो चुका है।

पृथक् पृथक् सादृश्य दिखा दिया जाए तो वही सादृश्यविधान सावयवोपमा का रूप धारण कर लेता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:—

"पाण्डयोऽयमंसार्पितलम्बहार: क्लृप्तांगरागो नवचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानु: सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराज: ।।"

—चित्रमीमांसा पृ० ११

यह साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण है। इसमे पाण्डय का सादृश्य अद्रिराज से दिखाया गया है। इस सादृश्य का आधार है पाण्डय मे धर्मो के रूप मे विद्यमान हार तथा चन्दन एवं अद्रिराज में धर्मों के रूप में विद्यमान निर्झर तथा बालातप का बिम्बप्रतिबिम्बभाव। इस बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उद्देश्य यह नही कि हार तथा चन्दन की क्रमश: निर्झर तथा बालातप के साथ पृथक् रूप में सादृश्यप्रतीति हो, परन्तु इसका उद्देश्य इतना ही है कि हार तथा चन्दन से युक्त होने के कारण पाण्डय का सादृश्य निर्झर तथा बालातप से युक्त अद्रिराज के साथ प्रतीत हो। यदि यहां इवादि के उपादान के द्वारा हार का निर्झर के साथ तथा चन्दन का बालातप के साथ पृथक् पृथक् सादृश्य बताया जाए तो यही उदाहरण सावयवोपमा का उदाहरण हो जाएगा। इस प्रकार सावयवोपमा के भेद भी साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूपान्तर कहे जा सकते हैं।

साधारणधर्म के इन भेदों को ध्यान में रखकर उपमा का विभाजन दण्डी के समय से ही आरम्भ हो गया था। दण्डी ने इन भेदों का नाम साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर आश्रित उपमा अथवा सावयवोपमा आदि न रखकर वाक्यार्थोपमा रखा है। परन्तु इस वाक्यार्थोपमा में उन्होंने जिन तत्त्वों का सन्निवेश किया है उन्हें देखते हुए ये भेद साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर आश्रित उपमा के भेदों से भिन्न नहीं। दण्डी ने वाक्यार्थोपमा के दो भेद किए हैं। एक में इव का प्रयोग होता है तथा द्वितीय में अनेक इवों का।[1] प्रथम का उदाहरण दण्डी ने इस प्रकार दिया है:--

"त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति।
भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पंकजम् ।।" —काव्यादर्श २-४४

---

१. एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधा। —काव्यादर्श २-४३

इस उदाहरण को हम उपमा में साधारणधर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण कह सकते है।

अनेक इव वाला दण्डी का वाक्यार्थोपमा का उदाहरण निम्नलिखित है:—

नलिन्या इव तन्वंग्यास्तस्याः पद्ममिवाननम् ।
मया मधुव्रतेनेव पायं पायमरम्यत ॥ —काव्यादर्श २-४५

इसे सावयवोपमा का उदाहरण कह सकते है।

साधारणधर्म के भेदों के आधार पर उपमा का यह विस्तार शनैः शनैः बढता गया तथा दीक्षित एवं जगन्नाथ के समय में यह अपने उत्कर्ष पर पहुँच गया। इसका विवेचन उपमा के प्रकरण मे किया जा चुका है।

आलंकारिकों ने उपमा के भेदों का विस्तार एक अन्य प्रकार से किया है। यह प्रकार है उपमा में विद्यमान समस्त तत्त्वों का उपादान अथवा उनमें से एक या अधिक का लोप। प्रथम दशा में पूर्णोपमा कही गई है तथा द्वितीय दशा में लुप्तोपमा। उपमा में सादृश्य की प्रतीति उपमा में विद्यमान तत्त्वों के द्वारा ही होती है। अतः यह निश्चित है कि जहां उपमा में इन समस्त तत्त्वों का उपादान होता है वहां सादृश्यप्रतीति में स्पष्टता होती है। परन्तु जहां इन तत्त्वों में से एक अथवा अधिक का लोप होता है वहां यह स्पष्टता नहीं होती। अतः हम कह सकते हैं कि उपमा का उपर्युक्त विभाजन सादृश्यप्रतीति की इसी स्पष्टता अथवा अस्पष्टता को लक्ष्य करके हुआ।

सादृश्यप्रतीति की इस स्पष्टता तथा अस्पष्टता के आधार पर उपमा-विभाजन के बीज हमें दण्डी में ही मिलते हैं। दण्डी ने धर्मोपमा तथा वस्तूपमा इन दो उपमाभेदों का उल्लेख किया है। प्रथम भेद में दण्डी के अनुसार साधारणधर्म का उपादान होता है। परन्तु द्वितीय भेद में उसका उपादान नहीं होता। उद्भट ने उपर्युक्त आधार पर पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा का विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु इस विवेचन के समय उनका दृष्टिकोण एक आलंकारिक का न रहकर एक वैयाकरण का हो गया है। उन्होंने र्णोपमा तथा लुप्तोपमा के श्रौती तथा आर्थी एवं वाक्यगा, समासगा तथा

तद्धितगा आदि जो भेद किए हैं उनका प्रधानतः सम्बन्ध व्याकरण से है। तद्धितगा उपमा तो व्याकरण के नियमों का प्रदर्शन सा बन गई है।

उद्भट के द्वारा उपमा के इस विवेचन में व्याकरण को आधार बनाने का कारण था पाणिनि आदि प्रसिद्ध वैयाकरणों के द्वारा व्याकरण के सादृश्यसम्बन्धी नियमों का विवेचन। इन नियमों का विवेचन करके इन वैयाकरणों ने सादृश्यसिद्धान्त को विकसित किया तथा अलंकारशास्त्र को कुछ अंशों तक प्रभावित भी किया। व्याकरण का अलंकारशास्त्र पर यह प्रभाव कालान्तर में भी उपमा के इन व्याकरणसम्बन्धी भेदों के रूप मे चलता रहा। इसका विवेचन उपमा के प्रकरण में किया जा चुका है।

उपमेयोपमा:—उपमेयोपमा का विस्तार प्रधानतः साधारणधर्म के भेदों के आधार पर हुआ है। यह विस्तार हमें दीक्षित तथा जगन्नाथ के ग्रन्थों में दिखाई देता है। जगन्नाथ की निम्नलिखित उक्ति से यह स्पष्ट है:—

"उक्तधर्मा तावदनुगाम्यादिभिः प्रागुक्तैर्धर्मैरनेकधा।"

—रसगङ्गाधर पृष्ठ १९७

उपमेयोपमा का विस्तार साधारणधर्म के उपादान तथा अनुपादान के आधार पर भी इन आलंकारिकों ने किया है। जगन्नाथ ने इसी आधार पर उपमेयोपमा के उक्तधर्मा तथा व्यक्तधर्मा दो भेद किए है।[1]

अनन्वयः—अनन्वय में अनुगामी साधारणधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म सम्भव नहीं। अतः इसका साधारणधर्म के भेद की दृष्टि से विस्तार नहीं हुआ। परन्तु जगन्नाथ ने इसके पूर्ण तथा लुप्त ये दो भेद करके पुनः इनके अनेक भेद किए हैं।[2]

व्यतिरेकः—व्यतिरेक का विस्तार दण्डी के समय में आरम्भ हो गया था। दण्डी ने व्यतिरेक के शब्दोपात्तसादृश्यव्यतिरेक तथा प्रतीयमान-सादृश्यव्यतिरेक ये दो भेद करके इन दोनों के पुनः अनेक भेद किए हैं।[3]

---

१. इयं द्विविधा उक्तधर्मा व्यक्तधर्मा च। —रसगङ्गाधर

२. स च पूर्णो लुप्तश्चेति तावद्द्विविधः। पूर्णस्तूपमावत् षड्विधोऽपि सम्भवति। —रसगङ्गाधर

३. शब्दोपादानसादृश्यव्यतिरेकोऽयमीदृशः।
प्रतीयमानसादृश्योऽप्यस्ति सोऽनुविधीयते॥ —काव्यादर्श २-१८९

परन्तु परवर्ती आलंकारिकों पर इस दृष्टि से दण्डी का इतना प्रभाव नहीं पडा जितना उद्भट का पड़ा है। मम्मट आदि परवर्ती आलंकारिकों ने उद्भट द्वारा दिखाई हुई दिशा का ही अवलम्बन किया तथा व्यतिरेक के विस्तार को युक्तिसंगत रूप दिया।

उद्भट ने आरम्भ मे व्यतिरेक के दो भेद किए। ये निमित्त की अदृष्टि तथा दृष्टि हैं।[1] मम्मट ने इन्ही का विस्तार करके इनकी संख्या चार कर दी। निमित्त की अदृष्टि का तो उन्होंने उद्भट के समान एक ही भेद रखा, परन्तु निमित्त की दृष्टि के उन्होंने तीन भेद कर दिए। ये इस प्रकार हैं:—उपमेय के उत्कर्ष का उपादान, उपमान के अपकर्ष का उपादान तथा इन दोनों का उपादान।

उद्भट ने निमित्तदृष्टि का एक ही भेद किया है और उसका जो उदाहरण दिया है उसमें उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के अपकर्ष इन दोनों का उपादान है।[2] परन्तु उद्भट ने वैधर्म्यदृष्टान्त नामक व्यतिरेक के एक अन्य भेद का उल्लेख किया है। इस भेद का उन्होंने जो उदाहरण दिया है उसमें उपमान के अपकर्ष का उपादान है।[3] सम्भवतः मम्मट ने वैधर्म्यदृष्टान्त के आधार पर उपमान के अपकर्ष को भी व्यतिरेक का एक पृथक् निमित्त माना और उद्भट के निमित्तदृष्टि व्यतिरेक के तीन भेद कर दिए। परन्तु इन भेदों में केवल उपमेय के उत्कर्षोपादान अथवा केवल उपमान के अपकर्षोपादान वाले भेदों को मम्मट ने निमित्तो-पादानसम्बन्धी भेद न कहकर निमित्तानुपादानसम्बन्धी भेद कहा। जहां पर

१. निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्या व्यतिरेको द्विधा तु सः।

—काव्यालंकारसारसंग्रह पृष्ठ ३७

२. उपात्तनिमित्तस्तुः—

पद्मं च निशि निःश्रीकं दिवा चन्द्रं च निष्प्रभम्।

स्फुरच्छायेन सततं मुखेनाधः प्रकुर्वतीम्॥ —काव्यालंकारसारसंग्रह पृष्ठ ३८

३. यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वितः।

व्यतिरेकोत्र सोपीष्टो विशेषापादनान्वयात्॥

यथा—शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेपि तपसि स्थितम्।

समुद्वहन्तीं नापूर्वं गर्वमन्यतपस्विवत्॥ —काव्यालङ्कारसारसंग्रह पृष्ठ ३९

यहां गर्वसमुद्वहन की दृष्टि से अन्य तपस्वी का उमा से अपकर्ष है।

केवल उपमेय के उत्कर्ष का उपादान था वहां मम्मट ने उस उपात्त निमित्त की दृष्टि से विचार न करके उस उपमान के अपकर्ष की दृष्टि से विचार किया जिसका वहां अनुपादान था और इस प्रकार उस भेद का नाम निमित्तोपादान न रखकर निमित्तानुपादान रख दिया। इसी प्रकार जहां केवल उपमान के अपकर्ष का उपादान था वहां मम्मट ने उस उपात्त निमित्त की दृष्टि से विचार न करके उस उपमेय के उत्कर्ष की दृष्टि से विचार किया जिसका वहां अनुपादान था और इस प्रकार उस भेद का नाम निमित्तोपादान न रखकर निमित्तानुपादान रख दिया। परन्तु यह तो दृष्टिकोण का साधारण अन्तरमात्र है। इससे मूलसिद्धान्त मे कोई अन्तर नहीं आता।

उद्भट ने अपने वैधर्म्यदृष्टान्त की परिभाषा में इवादि शब्दों का सन्निवेश किया है। सम्भवतः इन्ही शब्दों को आधार बनाकर मम्मट आदि ने कालान्तर में औपम्य की शाब्दता, आर्थता तथा आक्षिप्तता ये तीन उपभेद और कर दिए।

उद्भट ने व्यतिरेक की परिभाषा में उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के उत्कर्ष इन दोनों तत्त्वों का उल्लेख किया है। परन्तु इन तत्त्वों के आधार पर उन्होंने व्यतिरेक के दो भेद नही किए। रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि परवर्ती आलंकारिकों ने इन तत्त्वों के आधार पर भेद किए हैं।

रूपक का विस्तार:—रूपक का विस्तार बहुत कुछ उपमा के समान ही साधारणधर्म के भेदों के आधार पर हुआ है। जगन्नाथ के रसगंगाधर में यह विस्तार अपने उत्कर्ष को पहुँच गया है। इसका विवेचन रूपक के प्रकरण में किया जा चुका है।

अपह्नुति का विस्तार:—अपह्नुति का विस्तार रुय्यक के समय से प्रारम्भ हो गया था। इसका विवेचन अपह्नुति के प्रकरण मे किया जा चुका है। रुय्यक ने इस विस्तार के जो आधार अपनाए वे युक्तिसंगत नहीं थे। अतः जगन्नाथ ने इनके अनुसार अपह्नुति के भेद नहीं किए। जगन्नाथ ने उपमा के समान अपह्नुति के सावयवा आदि भेद

किए हैं। दीक्षित ने भी इन सावयवा आदि भेदों का उल्लेख किया है। अपह्नुति के भेदोपभेद करने में दीक्षित सबसे बढ गए है। इन्होंने अपह्नुति के पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति आदि भेद किए हैं। इन भेदों का अपह्नुति के प्रकरण मे निराकरण किया जा चुका है।

उत्प्रेक्षा:—उत्प्रेक्षा का विस्तार उद्भट के समय से आरम्भ हो गया था। रुय्यक, विश्वनाथ आदि परवर्ती आलङ्कारिकों ने सम्भवतः उद्भट के उत्प्रेक्षानिरूपण को आधार बनाकर उत्प्रेक्षा का विस्तार किया है। उद्भट ने इवादि के प्रयोग की दशा मे वाच्योत्प्रेक्षा मानी है।[1] इससे इस बात का संकेत मिलता है कि इवादि के अप्रयोग की दशा मे वे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा मानते हैं। परवर्ती आलङ्कारिकों ने भी इस प्रकार उत्प्रेक्षा के वाच्योत्प्रेक्षा तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ये दो भेद स्वीकार किए हैं।

उद्भट ने प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत वस्तु के गुण अथवा क्रिया के अध्यास को उत्प्रेक्षा कहकर उत्प्रेक्षा की परिभाषा में गुण अथवा क्रिया का उल्लेख किया है।[2]

उद्भट ने उत्प्रेक्षा के विवेचन में भाव तथा अभाव का उल्लेख किया है।[3] इसी के आधार पर रुय्यक आदि ने उत्प्रेक्षा का भावाभिमानतः, अभावाभिमानतः भेदों में विभाजन किया है।

जात्यादिसम्बन्धी तथा भावादिसम्बन्धी भेदों का सादृश्य की दृष्टि से महत्त्व नहीं। परन्तु इस प्रकार का विवेचन उद्भट ने कर दिया था। अतः परवर्ती आलंकारिकों ने इसके आधार पर उत्प्रेक्षा का विस्तार कर दिया।

अतिशयोक्ति:—अतिशयोक्ति का विस्तार उद्भट के समय से आरम्भ हो गया था। मम्मटकृत अतिशयोक्ति के भेदों का आधार बहुत कुछ अंशों मे उद्भटकृत अतिशयोक्ति के भेद ही हैं। मम्मट ने अतिशयोक्ति

१. वाच्देवादिभिरुच्यते—काव्यालंकारसारसंग्रह पृष्ठ ४८

२. अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता।

—काव्यालंकारसारसंग्रह पृष्ठ ४६

३. लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः—काव्यालङ्कारसारसंग्रह पृष्ठ ४७

का केवल एक भेद जोड़ा है। यह है प्रस्तुत का अप्रस्तुत के द्वारा अध्यवसान । यह भेद महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सादृश्य के विकास की चरम अवस्था का द्योतक है। बाद मे रुय्यक आदि द्वारा किए हुए अतिशयोक्ति के भेदों में मम्मटकृत अतिशयोक्ति के भेदों से विशेष अन्तर नही। अतिशयोक्ति के इस विस्तार का निरूपण अतिशयोक्ति के प्रकरण में किया जा चुका है।

दीपक का विकास:—भरतमुनि के अनुसार शब्दों का एक वाक्य से योग दीपक है। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

'नानाधिकरणार्थानां शब्दानां संप्रकीर्तितम् ।
एकवाक्येन संयोगात्तद्दीपकमिहोच्यते ॥' —नाट्यशास्त्र

शब्दों का एक वाक्य से योग होने पर उन शब्दों से सूचित पदार्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध होगा, इसके विषय मे उन्होंने कुछ नही कहा। भामह ने भी इस सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डाला। उन्होंने दीपक की कोई स्पष्ट परिभाषा न करके इसके आदि, मध्य तथा अन्त ये तीन भेद कर दिए।[1] दीपक का यह विभाजन करते समय वे भरत की परिभाषा से प्रभावित प्रतीत होते हैं क्योंकि किसी शब्द की आदि, मध्य तथा अन्त में स्थिति से अभिप्राय वाक्य का आदि, मध्य तथा अन्त ही है। भामह ने आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक के जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उनमे चमत्कार की दृष्टि से भेद है।[2] परवर्ती आलंकारिकों के अनुसार वे क्रमशः मालादीपक, कारकदीपक तथा क्रियादीपक के उदाहरण हैं। परन्तु भामह ने उन उदाहरणों में इस प्रकार के किसी भेद का उल्लेख नही किया। भामह की दृष्टि दीपक के वाक्यविषयक स्वरूप तक सीमित थी। अतः अन्य दृष्टि से उपर्युक्त उदाहरण में विद्यमान भेद की ओर उनका ध्यान नहीं गया। दण्डी की दृष्टि भी दीपक के

१. आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।
... ...
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् । —काव्यालङ्कार २—२५, २६

२. देखिए काव्यप्रकाश दीपकप्रकरण

वाक्यविषयक स्वरूप तक सीमित रही। उनकी निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

'जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा॥' —काव्यादर्श २—९७

उद्भट ऐसे प्रथम आलंकारिक हैं जिहोंने दीपक के लिए सादृश्य को आवश्यक बताकर पदार्थों के एकधर्माभिसम्बन्ध को दीपक का स्वरूप बताया। निम्नलिखित परिभाषा इसकी द्योतक है:—

"आदिमध्यान्तविषया: प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥"

—काव्यालंकारसारसंग्रह पृ० १५

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि परम्परा से चले आते हुए आदिमध्यादि भेदों की उपेक्षा उद्भट भी न कर सके।

मम्मट आदि ने उद्भट का अनुसरण करते हुए दीपक की परिभाषा मे एकधर्माभिसम्बन्ध का सन्निवेश किया। उन्होंने भामह के दीपक के उदाहरण में विद्यमान चमत्कारभेद को भी पहचाना। इसीलिए उन्होंने कारकदीपक तथा मालादीपक का पृथक् उल्लेख किया। परन्तु इतना होते हुए भी वे अपने कारकदीपक तथा मालादीपक को दीपक के क्षेत्र से बाहिर न कर सके। इसका कारण यही हो सकता है कि वे प्राचीन आलङ्कारिकों की पूर्ण उपेक्षा नहीं करना चाहते थे।

समासोक्ति:—इस अलंकार का वर्तमान स्वरूप सर्वप्रथम उद्भट ने प्रस्तुत किया। उनके द्वारा की हुई समासोक्ति की निम्नलिखित परिभाषा से यह स्पष्ट है:—

प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह पृ० ४१

जिन समान विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है वे धर्म, क्रिया आदि के रूप में होते हैं। परन्तु उद्भट ने धर्म, क्रियादि शब्दों का प्रयोग न करके विशेषण शब्द का प्रयोग किया

है। कदाचित् उद्भट के द्वारा इस विशेषण शब्द के प्रयोग को देखकर परवर्ती आलंकारिक भी समासोक्ति की परिभाषा में विशेषण शब्द का प्रयोग करते रहे। मम्मट ने 'श्लिष्टैर्भेदकैः' कहकर विशेषण के पर्यायवाची भेदक शब्द का प्रयोग किया। परन्तु उसे श्लिष्ट कहकर उसके क्षेत्र को संकुचित कर दिया। रुय्यक ने उद्भट का अनुसरण करके समासोक्ति के इस संकुचित रूप को पुनः विस्तृत किया। उन्होंने विशेषणश्लिष्टता की स्थिति में समासोक्ति स्वीकार अवश्य की परन्तु इस विशेषणश्लिष्टता को समासोक्ति का आवश्यक अंग न कहकर उसका प्रकारमात्र माना।[1] रुय्यक ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया कि विशेषण धर्म तथा कार्य के रूप में होता है।[2] परन्तु इतना होते हुए भी समासोक्ति की परिभाषा में उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग नही किया। विश्वनाथ ही सम्भवतः ऐसे आलङ्कारिक हैं जिन्होंने समासोक्ति की परिभाषा मे कार्यशब्द का उल्लेख किया:—

"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥"

—सहित्यदर्पण

अप्रस्तुतप्रशंसा—इस अलंकार का विस्तार मम्मटादि के समय से प्रारम्भ हुआ। इस विस्तार का आधार उद्भटकृत अप्रस्तुतप्रशंसा की परिभाषा प्रतीत होती है। उद्भट ने अपनी परिभाषा में प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी शब्द का सन्निवेश किया है। इस शब्द से उद्भट का यह अभिप्राय है कि अप्रस्तुत वाच्यार्थ व्यंग्य प्रस्तुत अर्थ से सम्बद्ध होना चाहिए। इन दोनों अर्थों के इस सम्बन्ध का क्या स्वरूप हो इस विषय में उद्भट ने कुछ नहीं कहा। मम्मट ने इस विषय पर प्रकाश डाला तथा कार्यकारणभाव,

१. तदेवं श्लिष्टविशेषणसमुत्थापितैका।

—अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ११३

२. साधारणविशेषणसमुत्थापिता तु धर्मकार्यसमारोपाभ्याम् द्विभेदा।

—अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ११३

सामान्यविशेषभाव एवं सारूप्य इन सम्बन्धप्रकारों को गिनाकर सम्बन्ध का स्वरूप निश्चित किया।[1]

१. कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ —काव्यप्रकाश

चतुर्थ अध्याय

'सादृश्य के मूल में रहस्य'

विभिन्न वस्तुओं में हमे सादृश्य क्यों दिखाई देता है, इसका उत्तर यही है कि समस्त वस्तुओं के मूल मे समान तत्त्व विद्यमान हैं। ये तत्त्व कितने हैं इन विषय मे दार्शनिकों मे मतभेद है, परन्तु वे सब इस बात से सहमत हैं कि उनकी एक सीमा है। अतः जिन वस्तुओं में इन तत्त्वों की दृष्टि से साम्य होता है वे परस्पर सदृश होती है।

न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार समस्त पदार्थो का छ अथवा सात श्रेणियों मे विभाजन किया गया है। ये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव है।[1] गुण, कर्म आदि की सत्ता स्वतन्त्र रूप से न होकर द्रव्यों पर आश्रित होती है।[2] ये गुणादि द्रव्यों में रहकर उन्हें एक विशेष स्वरूप प्रदान करते है। द्रव्य का अस्तित्व गुणों के सद्भाव के पूर्व भी होता है, परन्तु उस समय द्रव्य के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह स्थिति निर्विकल्पक ज्ञान की होती है।[3] इस स्थिति मे पदार्थ के विषय मे 'इदं किञ्चित्' के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता। पदार्थो की यह स्थिति सादृश्यज्ञान की स्थिति के अन्तर्गत नहीं

---

१. "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः ॥" —तर्कसंग्रह

"अर्थाः षट् पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः।"

—तर्क भाषा पृष्ठ ६०

तदेवं षट्पदार्थाः द्रव्यादयो वर्णिताः। एते च विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव। इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्यो अभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते।"

—तर्कभाषा पृष्ठ ७७

२. "सामान्यवानसमवायिकारणमस्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रितः।"

—तर्कभाषा पृष्ठ ६७

"चलनात्मकं कर्म। गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति।" —तर्कभाषा पृष्ठ ६७

३. "ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किंचिदिदमिति ज्ञानं जायते।" —तर्कभाषा पृष्ठ ३२

आती। सादृश्य का क्षेत्र तो तब से आरम्भ होता है जब स्वरूपविशेष से सम्पन्न वस्तुएं हमारी दृष्टि का विषय बनती हैं। यह तभी होता है जब द्रव्य गुणों से सम्पन्न हो जाता है। यह स्थिति सविकल्पक ज्ञान की होती है।[1] इस स्थिति में द्रव्यों में जिन गुणों अथवा क्रियाओं की सत्ता होती है वे चौईस गुणों तथा पांच क्रियाओं के ही अन्तर्गत आते हैं।[2]

गुण तथा क्रियाओं की संख्या के इस प्रकार सीमित होने के कारण हमारी दृष्टि के विषय बनने वाले द्रव्यों में गुणादि की साधारणता के आधार पर सादृश्य सर्वथा स्वाभाविक है।

सामान्य पदार्थ की कल्पना भी इस बात का प्रमाण है कि वस्तुओं के मूल में सादृश्य विद्यमान है। सामान्य पदार्थ एक प्रकार का साधारणधर्म है। साधारणधर्म जिस प्रकार अनेक वस्तुओं में विद्यमान रहकर उन वस्तुओं के सादृश्य का आधार होता है उसी प्रकार सामान्य पदार्थ अनेक वस्तुओं में विद्यमान रहकर उन वस्तुओं के सादृश्य का आधार होता है। उदाहरणतः गोत्व को लें। यह गोत्वजाति कतिपय अवयवों के रूप में समस्त गौओं में विद्यमान रहती है तथा उन गौओं के सादृश्य का कारण होती है।

अन्य साधारणधर्मों से जाति में यह अन्तर है कि अन्य साधारणधर्म जिन वस्तुओं में विद्यमान रहते हैं उन वस्तुओं के अन्य वस्तुओं से व्यावर्तक नहीं होते, परन्तु जाति जिन वस्तुओं में विद्यमान रहती है उन वस्तुओं की अन्य वस्तुओं से व्यावर्तक भी होती है। इसके अतिरिक्त अन्य साधारणधर्मों से जाति में यह भी भेद है कि जाति नित्य होती है।[3] परन्तु अन्य साधारणधर्मो के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं। उदाहरणतः गोत्व-जाति गौ में सदा विद्यमान रहेगी। गौ का जब तक अस्तित्व है तब तक

---

१. "यदा निर्विकल्पकज्ञानानन्तरं सविकल्पकं ज्ञानं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते तदा इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षः करणम्।" —तर्कभाषा पृष्ठ ३३

२. "रूपरसगन्धस्पर्श······संस्काराश्चतुर्विंशतिरेव गुणाः।"–तर्कभाषा पृष्ठ ६७

"उत्क्षेपणापक्षेपणाकुंचनप्रसारणगमनानि पंच कर्माणि।"—तर्कसंग्रह पृष्ठ ५

३. "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्।"—तर्कसंग्रह पृष्ठ ७७

गोत्वजाति उसमे रहेगी। परन्तु स्थूलता आदि धर्मों के साथ यह बात नहीं। एक गौ का स्थूलता धर्म कुछ समय बाद कृशता में परिवर्तित हो सकता है। परन्तु इतने से इस बात मे कोई अन्तर नहीं आता कि जाति है एक प्रकार का साधारणधर्म ही तथा ऐसा होने के नाते वह वस्तुओं के सादृश्य का कारण है।

अन्य साधारणधर्मों से जाति के इस आंशिक भेद का कारण यह है कि जाति जिन अवयवों की ओर संकेत करती है उनमें एक या अधिक अवयव ऐसे होते हैं जो केवल उसी जाति से युक्त वस्तुओं में होते हैं।

उदाहरणतः गोत्वजाति जिन अवयवों की ओर संकेत करती है उनमें 'सास्ना' का होना आवश्यक है, क्योंकि यह अवयव अन्य पशुओं से गौओं का विभेदक है। इसलिए गोत्व की परिभाषा 'सास्नादिमत्त्वं गोत्वम्'[1] की गई है। प्रत्येक साधारणधर्म मे यह बात नहीं होती। उदाहरणतः दो सींग, चार पैर आदि अवयव समस्त गौओं में साधारणरूप से विद्यमान हैं। परन्तु ये अवयव गौओं के अन्य पशुओं से व्यावर्तक नही। अतः ये अवयव गोत्व-जाति का रूप धारण नही कर सकते।

समान जाति के कारण जिन वस्तुओं मे साधर्म्य होता है उनमे जाति के स्वरूप के अन्तर्गत न आने वाले अन्य अवयवों के द्वारा वैधर्म्य होता है। उदाहरणतः गौओं मे सास्ना आदि के कारण साधर्म्य होता है, परन्तु स्थूलता तथा वर्ण आदि के कारण वैधर्म्य होता है। इस प्रकार जाति वस्तुओं के सादृश्य का आधार होती है।

सादृश्य का आधार होने के कारण जाति को वस्तुओं के ताद्रूप्य का आधार मानना उचित नही। जाति वस्तुओं के ताद्रूप्य का आधार तो तब हो सकती है जब वस्तुओं के समस्त धर्म जाति के अन्तर्गत आ जाएं। परन्तु ऐसा नहीं होता।

एक जाति का अनेक अवान्तर जातियों में विभक्त हो जाना इस बात का प्रमाण है कि जाति ताद्रूप्य का कारण न होकर सादृश्य का कारण होती है। उदाहरणतः एक ही पशुत्वजाति गोत्व आदि अनेक जातियों में

---

१. 'लक्षणं त्वसाधारणधर्मवत्त्वम् यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्।' तर्कभाषा पृष्ठ २७

विभक्त हो जाती है और ये जातियां इन जातियों से युक्त पशुओं के वैधर्म्य का कारण होती हैं। यदि जाति ताद्रूप्य का आधार हो तो एक ही पशुत्व-जाति से युक्त पशुओं में गोत्व आदि के द्वारा वैधर्म्य सम्भव नही।

जाति विस्तृत होते होते समस्त वस्तुओं को अपने अन्तर्गत कर लेती है। उदाहरणतः गोत्वजाति विस्तृत होकर पशुत्वजाति का रूप धारण करती है तथा पशुत्वजाति विस्तृत होकर प्राणित्व आदि जातियों में से होती हुई अन्त में सत्ताजाति मे परिणत होती है।[1] यह सत्ताजाति सब वस्तुओं के मूल मे विद्यमान है। इस प्रकार सत्ता की दृष्टि से समस्त वस्तुओं में साम्य है, परन्तु इस प्रकार का साम्य हमारी व्यावहारिक दृष्टि का विषय नहीं बनता।

सांख्य सिद्धान्त

सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार समस्त वस्तुओं के मूल में सत्त्व, रजस तथा तमस् ये तीन गुण है।[2] सृष्टि से पूर्व ये तीनों गुण साम्यावस्था मे होते हैं। परन्तु सृष्टि की दशा मे इनका यह सन्तुलन नष्ट हो जाता है और अन्य दो गुणों को दबाकर तीसरा गुण कार्य मे प्रवृत्त होता है।[3] इस प्रकार सृष्टि की दशा मे प्रत्येक वस्तु में दो बातें देखने को मिलती हैं—उपर्युक्त तीनों गुणों का सद्भाव तथा इन गुणों का न्यूनाधिक्य। गुणों के सद्भाव के फलस्वरूप समस्त वस्तुओं में साधर्म्य होता है तथा इन गुणों के न्यूनाधिक्य के फलस्वरूप इन वस्तुओं में वैधर्म्य होता है। इस प्रकार साधर्म्य तथा वैधर्म्य के कारण समस्त वस्तुओं में सादृश्य होता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से घटने वाला समस्त वस्तुओं का यह सादृश्य व्यावहारिक जगत् में प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका यह कारण नहीं कि यह सिद्धान्त सदोष है, परन्तु इसके विपरीत कारण यह है कि हमारी

१. "तद् द्विविधं परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादिः॥"
—तर्कसंग्रह पृष्ठ ७७

२. "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥"—सांख्यकारिका–११

३. "अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।"—सांख्यकारिका–१२

"तथा हि– सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय घोराम्, एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढामिति।"
—सांख्यतत्त्वकौमुदी पृष्ठ २७५

व्यावहारिक दृष्टि वस्तु के सूक्ष्म धर्मों की ओर न जाकर प्रायः उसके स्थूल धर्मों तक ही सीमित रहती है।

व्यावहारिक जगत् मे भी अनेक स्थलों पर हमे इन गुणों के फलस्वरूप सादृश्य दिखाई देता है। उदाहरणतः दो वस्तुओं को स्थिर देखकर अथवा अस्थिर देखकर हमें इस स्थिरता अथवा अस्थिरता रूप साधारणधर्म के आधार पर इन वस्तुओं में सादृश्य दिखाई देता है। ये स्थिरता तथा अस्थिरता क्रमशः तमस् तथा रजस् गुण के स्वरूप हैं।[1] इस प्रकार ये दोनों गुण उपर्युक्त वस्तुओं के सादृश्य के कारण हैं। इन दोनों गुणों के समान प्रकाशस्वरूप सत्त्वगुण भी सादृश्य का आधार हो सकता है।

प्रश्न उठ सकता है कि समस्त वस्तुओं की तीन गुणों से उत्पत्ति मानने पर भी यह मानने का क्या आधार है कि वे वस्तुएं परस्पर सदृश होंगी। यह भी सम्भव है कि तीनों गुण ऐसी वस्तुओं को उत्पन्न करें जिनका उन गुणों से कोई सादृश्य न हो और फलतः वे परस्पर सर्वथा विसदृश हों। इस प्रकार सृष्टि की वस्तुओं का परस्पर सदृश होना आवश्यक नहीं।

इसके उत्तर में सांख्य का कहना है कि कारण हर किसी कार्य को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु केवल ऐसे कार्यों को उत्पन्न करता है जो कारण में पहले से विद्यमान रहते है। सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। सत्कार्यवाद के अनुसार सत् वस्तु से ही सत् वस्तु उत्पन्न होती है। 'सतः सज्जायते'[2] इस उक्ति का यही आशय है। अतः जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका पहले से अस्तित्व होता है। यह अस्तित्व अव्यक्त रूप में होता है। इस प्रकार जो वस्तु उत्पन्न होती है वह कोई नवीन वस्तु नही होती, परन्तु जो वस्तु पहले अव्यक्त थी वही अब व्यक्त रूप धारण करती है।[3] प्रकृति का अव्यक्त

---

१. " 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।'
'रजः प्रवर्तकत्वात्सर्वत्र लघु सत्त्वं प्रवर्तयेद् यदि तमसा गुरुणा न नियम्येत, तमोनियतं तु क्वचिदेव प्रवर्तयतीति भवति तमो नियमार्थम्'।"
—सांख्यतत्त्वकौमुदी पृष्ठ २७४

२. "कार्यात्कारणमात्रं गम्यते। सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः। तथा हि—केचिदाहुः.........'सतः सज्जायते' इति वृद्धाः।"—सांख्यतत्त्वकौमुदी पृष्ठ २२२

३. "तस्मात्कारणव्यापारादूर्ध्वमिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति। कारणाच्चास्य सतोऽभिव्यक्तिरेवावशिष्यते।" —सांख्यतत्त्वकौमुदी पृष्ठ २२५

नाम इसी तथ्य का सूचक है।[1] निम्नलिखित कारिका सत्कार्यवाद का स्पष्टतः प्रतिपादन करती है:—

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥" —सांख्यकारिका ९

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि की समस्त वस्तुएं जिन तीन गुणों से उत्पन्न होती हैं उनमें वे पहले से ही अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती हैं। अतः इन वस्तुओं का इन गुणों के सदृश होना स्वाभाविक है। गुणों से इन वस्तुओं का सादृश्य होने के कारण यह भी स्वतःसिद्ध है कि ये वस्तुएं परस्पर सदृश हैं।

न्यायवैशेषिक-दर्शन सांख्य के सत्कार्यवाद को नही मानता। परन्तु इस बात को तो यह भी स्वीकार करता है कि एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य परस्पर सदृश होते हैं। यह दर्शन आरम्भवाद को मानता है। आरम्भवाद के अनुसार कार्य की सत्ता कारण में पहले से नही होती, परन्तु एक नई ही वस्तु कार्य के रूप मे अस्तित्व में आती है। उदाहरणतः मृत्तिका से जिस घट का जन्म होता है उसका मृत्तिका में पूर्वभाव न होकर प्रागभाव होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कारण तथा कार्य में कोई सादृश्य न हो। कार्य में जिन गुणों की उत्पत्ति होती है वह कारण के गुणों के फलस्वरूप ही होती है। 'कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते'[2] इस उक्ति का यही आशय है। इस प्रकार कारण तथा कार्य मे गुणसाम्य होता है। यह गुणसाम्य दोनों मे सादृश्य का आधार है। कारण तथा कार्य में सादृश्य होने के कारण एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्यों में सादृश्य होना स्वाभाविक है।

वेदान्त दर्शन

वेदान्त के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से वस्तुओं के सादृश्य का प्रश्न ही नहीं उठता। वेदान्त विवर्तवाद को मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल एक ब्रह्म का ही अस्तित्व है। बाकी समस्त संसार इस ब्रह्म का विवर्तमात्र है। उसका यथार्थतः कोई अस्तित्व नहीं। 'एकस्य सतो

---

१. "तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।" —सांख्यकारिका २

२. "कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्त इति न्यायादित्येवमुत्पत्तिः।"—तर्कभाषा पृष्ठ ६३

विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्' इस उक्ति का यही आशय है। इस प्रकार इन समस्त वस्तुओं का यथार्थतः कोई अस्तित्व न होने के कारण उनके पारस्परिक सादृश्य का प्रश्न ही नही उठता। परन्तु वेदान्त इस व्यावहारिक जगत् की सर्वथा उपेक्षा कर सका हो ऐसी बात नही। इसे भी प्रातिभासिक रूप में इस जगत् का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा है। इसी जगत् की उत्पत्ति के लिए वेदान्त ने माया तत्त्व की कल्पना की है। यह माया-तत्त्व अनिर्वचनीय भले ही हो यह कोई तत्त्व अवश्य है, इसका अपना एक अस्तित्व है तथा सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों से यह निर्मित है।[1]

इस माया के सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणों से सृष्टि की समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। अतः इन वस्तुओं मे गुणसाम्य के आधार पर सादृश्य होना स्वाभाविक है।

जैन एवं बौद्ध दर्शन

पदार्थों के सादृश्य का विवेचन अब तक जिन दार्शनिक विचारधाराओं के आधार पर किया गया है वे पदार्थों के एक निश्चित स्वरूप को मानकर चलती हैं। न्यायवैशेषिकादि तो पदार्थों के निश्चित स्वरूप में तात्त्विक दृष्टि से विश्वास करते ही है वेदान्त भी व्यावहारिक दृष्टि से उनका एक निश्चित स्वरूप मानता है। इन विचारधाराओं के अतिरिक्त दो विचारधाराएं ऐसी भी हैं जिनमें से एक पदार्थो का स्वरूप निश्चित तथा अनिश्चित दोनों मानती है तथा अन्य उनका स्वरूप सर्वथा अनिश्चित मानती है। पहली विचारधारा जैनदर्शन की है तथा द्वितीय विचारधारा बौद्धदर्शन की है। यहां यह प्रश्न उठना सर्वथा स्वाभाविक है कि पदार्थो के निश्चित स्वरूप की दशा में तो उनमें विद्यमान धर्मों की साधारणता के आधार पर उन पदार्थों का सादृश्य सम्भव है परन्तु उनका स्वरूप निश्चित न होने पर उनमें सादृश्य किस प्रकार सम्भव है।

पदार्थों के स्वरूप को निश्चित तथा अनिश्चित मानने की दशा में इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—पदार्थो के निश्चित तथा अनिश्चित अंशों

---

१. "अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च।"

—वेदान्तसार पृष्ठ ८

में से हम उनके निश्चित अंशों को लेकर उनमें धर्मसाधारणता के आधार पर सादृश्य स्थापित कर सकते हैं। जैन-दर्शन में यही बात है। इस दर्शन मे द्रव्य की परिभाषा 'गुणपर्यायवद्द'[1] की गई है। गुण द्रव्य का निश्चित अथवा स्थिर अंश है तथा पर्याय उसका अनिश्चित अथवा अस्थिर अंश है। निश्चित अंश के लिए जैन-दर्शन ध्रौव्य शब्द का प्रयोग करता है तथा अनिश्चित अंश के लिए 'उत्पादव्यय' का प्रयोग करता है। यही कारण है कि उसने सत् की परिभाषा "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"[2] की है। इस दशा में हम पदार्थों के ध्रुवांश को लेकर उनमें सादृश्य स्थापित कर सकते है।

बौद्धमतानुसार पदार्थों के स्वरूप को सर्वथा अनिश्चित मानने की अवस्था में सादृश्यसिद्धि इस प्रकार सम्भव है:—

इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि पदार्थ का एक निश्चित स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं होता, परन्तु पदार्थ का ज्ञान जिन विभिन्न ज्ञान-स्वरूपों में से होकर जाता है वे तो एक परम्परा के रूप में हमारे सम्मुख रहते ही हैं। इस प्रकार इस अवस्था में हमारे सम्मुख विभिन्न स्वरूप-परम्पराएं होती हैं। इन स्वरूपपरम्पराओं में अवयवसाधारणता के आधार पर सादृश्य-सिद्धि सम्भव है।

बौद्ध दर्शन सन्तानवाद के रूप में इन स्वरूप-परम्पराओं अथवा तज्जन्य ज्ञान-परम्पराओं में विश्वास करता है। यह सत्य है कि बौद्धदर्शन क्षणिकवाद को मानता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान के क्षणिक होने के कारण इन ज्ञान-परम्पराओं का परम्पराओं के रूप में ज्ञान न रहे, क्योंकि बौद्ध-दर्शन में संस्कार को स्वीकार किया गया है। इस संस्कार के फलस्वरूप हमें पूर्व ज्ञानों की सहायता से ज्ञानपरम्परा का ज्ञान हो सकता है।

इसके अतिरिक्त बौद्धदर्शन में संघातवाद को भी माना गया है। संघात विभिन्न स्वरूपों अथवा तज्जन्य ज्ञानों का एक समुदाय है। अतः यह स्पष्ट है कि क्षणिकवाद के द्वारा बौद्धदर्शन का उद्देश्य ज्ञानों को विशृंखल करना नहीं अपितु ज्ञानों की शृंखला अथवा परम्परा को एक रूप में न समझकर परम्परा के रूप में समझना है। बौद्धदर्शन में सविकल्पक ज्ञान का निषेध करके निर्विकल्पक ज्ञान की जो स्थापना की गई है उसका भी केवल इतना

---

१. त० सू० ५-३७ भारतीय दर्शन पृष्ठ १६०

२. त० सू० ५-२६ भारतीय दर्शन पृष्ठ १६०

ही प्रयोजन हो सकता है कि सविकल्पक ज्ञान में नाम, जाति आदि से युक्त वस्तु के ज्ञान को जो एक ज्ञान समझा जाता है वह वस्तुतः एक ज्ञान न होकर ज्ञान की परम्परामात्र है। इस प्रकार बौद्धदर्शन का उद्देश्य अवयवी अथवा अवयविज्ञान का निराकरण करना है, अवयवसंघात अथवा संघातज्ञान का निराकरण करना नहीं। हम केवल इतना कह सकते है कि अवयवसमुदाय के अतिरिक्त एक अवयवी की पृथक् सत्ता नही यह नहीं कि उस अवयवसमुदाय की ही सत्ता नहीं। अतः अवयवसघात की सत्ता मानने के कारण विभिन्न संघातों मे अवयवसामान्य के आधार पर सादृश्य सम्भव है।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

अलंकारशास्त्र के मूल संस्कृत-ग्रन्थः—

श्रीभरतमुनिविरचित नाट्यशास्त्र, काव्यमाला ४२, पं० केदारनाथ द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, निर्णयसागर प्रेस मुम्बई १९४३

भामहविरचित काव्यालंकार काशीसंस्कृतसीरिज़पुस्तकमाला ६१ पं० बटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित, चौखम्बा संस्कृतसीरिज आफिस, विद्याविलास प्रेस १९८५

दण्डिविरचित काव्यादर्श, पण्डितरंगाचार्यशास्त्रिविरचित प्रभाख्या-व्याख्यासहित, भाण्डारकार-प्राच्य-विद्यामन्दिर मुद्रणालय १९३८

भट्टिकाव्य, जयमंगला टीका, निर्णयसागर यन्त्रालय मुम्बई १९३४

उद्भटप्रणीत काव्यालंकारसारसंग्रह, इन्दुराजविरचित लघुवृत्तिसमेत, नारायणदास बनहट्टी द्वारा संशोधित १९२५

वामनविरचित काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, कामधेनु-सहित, नारायणनाथ कुलकर्णी द्वारा सम्पादित, ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना १९२७

रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार, काव्यमाला २, नमिसाधुकृत टिप्पणी-सहित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९२८

आनन्दवर्धनविरचित ध्वन्यालोक, काशीसंस्कृतसीरिज ग्रन्थमाला १३५, लोचन-बालप्रिया-दिव्याञ्जनादिसहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस बनारस सिटी

राजशेखरविरचित काव्यमीमांसा, अनुवादक पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, प्रथम संस्करण १९५४

कुन्तकविरचित वक्रोक्तिजीवित

महिमभट्टविरचित व्यक्तिविवेक, काशीसंस्कृतसीरिज पुस्तकमाला १२१, चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस सम्वत् १९९३

भोजविरचित सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यमाला ९४, रामसिंहविरचित तृतीयपरिच्छेदान्त तथा जगद्धरविरचित चतुर्थपरिच्छेद टीका सहित, निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय १९३४

क्षेमेन्द्रविरचित औचित्यविचारचर्चा, हरिदास संस्कृत सीरिज २५, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस बनारस सिटी १९३३

मम्मटविरचित काव्यप्रकाश, भट्टवामनाचार्यविरचित बालबोधिनी टीकासहित, चतुर्थ आवृत्ति से संशोधित, पंचम संस्करण, भण्डारकर-ओरियण्टल रिसर्च इन्सटीच्यूट, पूना १९३३

रुय्यकप्रणीत अलंकारसूत्र, मंखुकप्रणीत अलंकारसर्वस्ववृत्ति, समुद्रबन्धकृतव्याख्यासहित, अनन्तशयनराजकीयमुद्रणयन्त्रालय १९१५

वाग्भटविरचित वाग्भटालंकार, मेहरचन्द लक्ष्मणदास सैदमिट्ठा बाजार लाहौर सम्वत् १९९२

हेमचन्द्रविरचित काव्यानुशासन प्रथम पुस्तक, अलंकारचूडामणि तथा विवेकसहित, रसिकलाल द्वारा सम्पादित, श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई

वाग्भटविरचित काव्यानुशासन, काव्यमाला ४३, निर्णयसागर प्रेस १९१५

विद्याधरविरचित एकावली

विद्यानाथविरचित प्रतापरुद्रीय, रत्नपणाख्या-व्याख्यासमन्वित, श्री बालमनोरमा सीरिज़ नं० ३, बालमनोरमा प्रेस बम्बई १९२८

विश्वनाथविरचित साहित्यदर्पण, श्री रामचरण तर्कवागीश भट्टाचार्य-कृत विवृति सहित, षष्ठ संस्करण, निर्णयसागर मुद्रणालय १९३६

अप्पयदीक्षितविरचित कुवलयानन्द, वैद्यनाथसूरिविरचित अलंकार-चन्द्रिका व्याख्या, निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय १९४७

अप्पयदीक्षितविरचित चित्रमीमांसा, काव्यमाला ३८, तृतीय आवृत्ति, निर्णयसागर यन्त्रालय मुम्बई १९४१

जगन्नाथपण्डितराजविरचित रसगंगाधर, नागेशभट्टकृत टीका सहित, मथुरानाथशास्त्रिविरचित सरला टीका सहित, षष्ठ संस्करण, निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय मुम्बई १९४७

कर्णपूरविरचित अलंकारकौस्तुभ, सवितारायस्मृतिसंरक्षण ग्रन्थमाला, वरेन्द्ररिसर्च, राजशाही बंगाल १९३४

केशवमिश्रविरचित अलंकारशेखर, काशीसंस्कृत सीरिज ५६, चौखम्बा संस्कृत सोसाइटी ओफिस १९२७

विश्वेश्वरपरिडतविरचित अलंकारकौस्तुभ, काव्यमाला ६६, निर्णय-सागरयन्त्रालय मुम्बई १८९८

अरिसिंह के सूत्रों सहित अमरचन्द्रयतिविरचित काव्यकल्पलतावृत्ति, काशीसंस्कृत सीरिज् ९० चौखम्बा संस्कृत सीरिज ओफिस १९३१

अमृतानन्द योगी विरचित अलङ्कारसंग्रह एडियर लाइब्रेरी १९४९

अग्निपुराण, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि ग्रन्थाङ्क ४१, आनन्दाश्रम-मुद्रणालय १९००

धनञ्जयविरचित दशरूपक, धनिकविनिर्मित अवलोकाख्यतिलक सहित, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई १९१४

भारतीय आलोचनाशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ

बलदेव उपाध्यायविरचित भारतीय साहित्यशास्त्र प्रथम खराड, संसार प्रेस काशीपुरा बनारस सम्वत् २००७

बलदेव उपाध्यायविरचित भारतीय साहित्यशास्त्र द्वितीय खण्ड, प्रसाद परिषद्‌ काशी सम्वत् २००५ प्रथम संस्करण

बलदेव उपाध्यायविरचित कवि और काव्य अभिनव भारती ग्रन्थमाला, बंगाल प्रिंटिंग वर्क्स १९४७

श्यामसुन्दरदासविरचित साहित्यालोचन, इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग सम्वत् १९९५

नगेन्द्रविरचित रीतिकाव्य की भूमिका

रामशंकरशुक्लविरचित अलंकारपीयूष, रामनारायणलाल पब्लिशर और बुकसेलर इलाहाबाद १९२८

रामशंकरशुक्लविरचित अलङ्कारकौमुदी

पं० रामगोविन्दत्रिवेदीविरचित वैदिकसाहित्य, ज्ञानपीठलोकोदय-ग्रन्थमाला-हिन्दी ग्रन्थांक ७, प्रथम संस्करण १९५०

डा० फतहसिंहविरचित साहित्य और सौन्दर्य

History of Sanskrit Poetics Volume II by S. K. De, Calcutta Oriental Press, Calcutta 1925.

Introduction to Sahitya Darpana by P. V. Kane Third edition 1951.

Some concepts of Alankara Sastra by V. Raghavan, the Adyar library 1942.

Number of Rasas by V. Raghavan, the Adyar Library Adyar, 1940.

The Theories of Rasa and Dhvani by A. Sankaran, Published by the University of Madras 1929.

Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics by P. C. Lahiri, University of Dacca Ramna, Dacca 1937.

Comparative Aesthetics by K. C. Pandey, Chowkhamba Sanskrit Series Banaras, 1950.

Psychological studies in Rasa by Rakesha Gupta, Banaras Hindu University Press Banaras, 1950.

Highways and byways by S. Kuppuswami Sastri, the Kuppuswami Sastri Research Institute Madras, 1945.

History of Sanskrit Literature by S. N. Das Gupta & S. K. De.

'उपमा कालिदासस्य' By K. Chellappan Pillai Visva Bharati studies No. 7

Poetics by Aristotle

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ

What is Art by Tolstoy

The Beautiful by Vernon Lee, Cambridge, at the University Press, 1913.

Beauty and other forms of Value by Samuel Alexander.

काव्य आदि

Hymns from the Rigveda edited by Peterson, 1937. Bombay Sanskrit Series No. XXXVI.

Valmiki Ramayana condensed in the Poet's own words by Pt. A. M. Srinivasachariar Fifth edition, G. A. Natesan and Co., Madras.

Mahabharata condensed in the Poet's own words by Pt. A. M. Srinivasachariar, G. A. Natesan and Co., Madras.

कालिदासविरचित रघुवंश
अश्वघोषविरचित बुद्धचरित
भारविविरचित किरातार्जुनीय
माघविरचित शिशुपालवध
जयदेवविरचित गीतगोविन्द

बृहत्स्तोत्ररत्नाकर, पं० श्रीलाल उपाध्याय द्वारा संगृहीत मुम्बई १९३७

दण्डिविरचित दशकुमारचरित, मोरेश्वर रामचन्द्रकाले द्वारा टिप्पणी आदि से संस्कृत, शारदाक्रीडनमुद्रायन्त्रालय मुम्बई शकाब्द १८२२

बाणविरचित कादम्बरी पूर्वभाग, मोरेश्वर रामचन्द्रकाले द्वारा संशोधित, मुम्बई वैभव मुद्रायन्त्रालय मुम्बई शाके १८५०

संस्कृतगद्यमञ्जरी, सम्पादक और संग्रहकर्ता चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास साहित्यनिकेतन कानपुर १९५३

दर्शन-ग्रन्थ

वैशेषिक-दर्शन

अन्नंभट्टविरचित तर्कसंग्रह, महादेव राजाराम बोडास की भूमिका तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित, बम्बई संस्कृत तथा प्राकृत सीरिज नं० ५५,

केशवमिश्रविरचित तर्कभाषा, चिन्नंभट्टविरचित टीका सहित, भण्डारकार प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर पूना

सदानन्दप्रणीत वेदान्तसार, कर्नल जे. ए. जैकब द्वारा सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३४

ईश्वरकृष्णविरचित सांख्यकारिका, पं० शिवनारायणशास्त्रि-विरचित सारबोधिनी व्याख्या तथा टिप्पणी से युक्त, सांख्यतत्त्व-कौमुदी से विभूषित, निर्णयसागर प्रेस १९४०